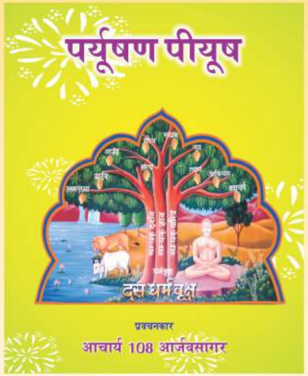

पर्यूषण पीयूष

पर्यूषण पीयूष कृति में परम पूज्य संत शिरोमणी आचार्य प्रवर श्री 108 विद्यासागर जी महाराज से दीक्षित अध्यात्मयोगी आचार्यश्री 108 आर्जवसागरजी द्वारा दशलक्षण धर्मों के उद्बोधन हैं। इन उद्बोधनों को आचार्यश्री ने अशोकनगर जिले में पर्यूषण पर्व के पावन अवसर पर सरलता एवं भावप्रणता पूर्वक प्रस्तुत किया था। प्रस्तुत कृति व्यक्ति के गुणात्मक परिवर्तन तथा दशधर्मों का अमृतपान व्यवहारिक जीवन में करने हेतु सार्थक एवं प्रबल प्रेरणादायक और मार्गदर्शक है। 272 पृष्ठों की यह कृति अनेक उदाहरण, व्याख्यान, पौराणिक-संदर्भ, प्रसंग एवं सैद्धान्तिक चर्चाओं से समाविष्ट स्वाध्याय व प्रवचन हेतु महत्त्वपूर्णसिद्ध है।

श्री दिगम्बर जैन कीर्ति स्तम्भ एवं मंदिर
चित्तौड़गढ़ (राजस्थान)

पर्यूषण पीयूष – आचार्यश्री आर्जवसागर

पर्यूषण पीयूष

प्रवचनकार

आचार्यश्री 108 आर्जवसागर

परम पूज्य आचार्यश्री १०८ आर्जवसागर जी महाराज का जीवन परिचय

पूर्वनाम	-	पारस चन्द जैन,
पिताजी	-	श्री शिखर चन्द जैन
माताजी	-	श्रीमति माया बाई जैन
जन्म तिथि	-	11.09.1967 (भाद्र शुक्ल अष्टमी)
जन्म स्थल	-	फुटेरा कलाँ, दमोह (म.प्र.)
बचपन बीता	-	पथरिया जि. दमोह
शिक्षा	-	बी.ए. (प्रथम वर्ष) डिग्री कॉलेज (दमोह)
ब्रह्मचर्य व्रत	-	19.12.1984 अतिशय क्षेत्र पनागर (म.प्र.)
सातवीं प्रतिमा	-	1985 सिद्ध क्षेत्र अहारजी
क्षुल्लक दीक्षा	-	08.11.1985 सिद्ध क्षेत्र अहार जी
ऐलक दीक्षा	-	10.07.1987 अतिशय क्षेत्र थूबोन जी
मुनि दीक्षा	-	31.03.1988 महावीर जयन्ती, सिद्ध क्षेत्र सोनागिर जी
दीक्षा गुरु	-	आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज
आचार्य पद	-	25.01.2015 (माघ शुक्ल षष्ठी) (समाधि पूर्व आचार्य श्री सीमंधरसागर जी द्वारा)
कृतियाँ	-	धर्मभावना शतक, जैनागम संस्कार, तीर्थोदय काव्य, परमार्थ साधना, बचपन का संस्कार, सम्यक् ध्यान शतक, जैन धर्म में कर्म व्यवस्था, नेक जीवन, पर्यूषण पीयूष, साम्य भावना, आर्जव-वाणी, आर्जव कविताएँ, आगम अनुयोग।
पद्यानुवाद	-	गोम्मटेश थुदि, जिनागम संग्रह (वारसाणुवेक्खा, इष्टोपदेश, समाधितंत्र, द्रव्य संग्रह), तत्त्वसार एवं प्रश्नोत्तर रत्न मालिका।

पर्यूषण पीयूष

प्रवचनकार

प.पू. आचार्यश्री 108 आर्जवसागर जी महाराज

पुस्तक का नाम : पर्यूषण पीयूष

प्रवचनकार : परम पूज्य आचार्यश्री आर्जवसागर जी महाराज

सम्पादक : डॉ. अल्पना अशोक जैन मोदी, ग्वालियर

भाषा : हिन्दी

संस्करण :

प्रकाशन वर्ष :

प्रकाशित प्रतियां :

प्रकाशक :

प्राप्ति स्थान :

मुद्रक : ....

प्राक्कथन

धार्मिक पर्वों से आत्मा शुद्ध गुणों से अलंकृत होती है। पर्व व्रतों से पूरित भाद्रपद मास के सम्बन्ध में आर्ष परम्परा के विद्वान आचार्यों ने उपदेशित किया है कि –

अहो भाद्र पदाख्योऽयं मासोऽनेक व्रताकरः ।
धर्म परो मध्येऽन्य, मासानां नरेन्द्रवत् ।।

जिस प्रकार मनुष्यों में श्रेष्ठ राजा (चक्रवर्ती) माना गया है। उसी तरह रत्नत्रय धर्म की वृद्धि हेतु अनेक व्रतों का स्थान स्वरूप भाद्रपद मास को सभी मासों में श्रेष्ठ माना गया है।

जैन धर्म के महत्वपूर्ण व श्रेष्ठ व्रतों का सर्वाधिक समागम भाद्रपद मास में है। सोलहकारण व्रत, दशलक्षण व्रत, पुष्पांजली व्रत, रत्नत्रय व्रत के साथ अनंतव्रत, कर्मनिर्जरा व्रत व शील सप्तमी व्रतों का पालन करने का सौभाग्य श्रावकों को इसी भाद्रपद माह में मिलता है।

इन सभी में सोलहकारण व पर्यूषण पर्व का अपना एक अलग महत्व है। पर्यूषण पर्व के इन दस दिनों में मुक्ति मार्ग की शिक्षा देने वाले उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्मों का चिंतन किया जाता है।

प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य शाश्वत सुख होता है और यह शाश्वत सुख मोक्ष में ही मिलता है। मोक्ष हेतु आत्म स्वभावरूप धर्म का अवलम्बन आवश्यक है। आत्म स्वभाव को पाने हेतु दश लक्षण हैं। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य तथा ब्रह्मचर्य ये आत्मा के श्रेष्ठ गुण हैं।

यदि ऐसे महान पर्यूषण पर्व में श्रावकों को साधु/संतों का सुयोग मिले तो वह सोने में सुहागा का कार्य करता है तथा श्रावकों का मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है।

ऐसा ही एक सुयोग बुंदेलखण्ड में स्थित एक धर्मनगरी अशोक नगर (म.प्र.) के श्रावकों को सन् 2005 में प्राप्त हुआ। भगवंत कुन्दकुन्दाचार्य की श्रमण परंपरा के उन्नायक पू. आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज के सुशिष्य तीर्थंङ्करों की वाणी के यथार्थ उद्घोषक पूज्य आचार्यश्री आर्जवसागर जी महाराज ने अशोक नगर में अपने चातुर्मास करने का निश्चय किया। बहुमुखी प्रतिभा के

धनी आचार्यश्री आर्जवसागर जी महाराज का गहन गम्भीर ज्ञान, निर्दोष, निस्पृह चर्या और सहज सरलवृत्ति व्यक्ति को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

अशोक नगर में पर्यूषण पर्व में पूज्य आचार्यश्री आर्जवसागर महाराज के मुखचन्द्र से दशधर्म के प्रवचनों की धारा की झड़ी से समागत जन आप्याथित हुये। महाराज श्री की वाणी में अद्भुत आकर्षण है वे अपनी बात को सहजता और सरलता से श्रोताओं के हृदय में उतार देने में सिद्ध हस्त हैं यही कारण है कि आज लोग मुनिश्री का नाम सुनते ही उनकी अमृतवाणी का रसपान करने हेतु लालायित हो उठते हैं।

अशोक नगर समाज के साधर्मी जनों की यह भावना हुई कि इन पर्यूषण पर्व के प्रवचनों का लाभ पूरे देश के श्रावकों को प्राप्त हो सके। इस हेतु महाराज श्री के प्रवचनों का श्रव्य टेप (Audio Magnetic) तैयार किया गया। टेप के प्रवचनों का कुशल संपादन कार्य ग्वालियर नगरी की भव्य श्राविका डॉ. अल्पना जैन के द्वारा सम्पन्न किया गया एवं संशोधन हेतु महाराज श्री को प्रस्तुत किया गया। महाराज श्री ने, संघस्थ ब्र. व्रतियों ने व डॉ. अजित जैन, भोपाल ने इसकी Proof Reading करके व आवश्यक संशोधन करके अमृतमय कृति को ''पर्यूषण पीयूष'' नाम से नामांकित कर दिया। प्रस्तुत कृति, धर्म को जीवन व्यवहार में उतारने की प्रबल प्रेरणा देती है एवं आत्मा से परमात्मा बनने की अंतर्यात्रा का मार्मिक मार्गदर्शन करती है इस कृति को प्रकाशित करने का सौभाग्य **भगवान महावीर आचरण संस्था समिति, भोपाल** को प्राप्त हुआ। इस समिति को आचार्यश्री आर्जवसागर का आशीर्वाद सतत प्राप्त होता रहता है। हमारी समिति जिनका भी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से कृति के तैयार करने में सहयोग रहा अतः इन मित्रों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती है।

आचार्यश्री के चरणों में नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु

भगवान महावीर आचरण संस्था समिति, भोपाल
अध्यक्ष : डॉ. सुधीर जैन, भोपाल

सम्पादकीय

सांसारिक प्राणी अनादिकाल से अज्ञानता के वशीभूत होकर अपने आपको भूला हुआ है। इसलिए वह अमृत (अमर) स्वरूप होकर भी मृत्यु से डरता है या यों कहिए कि सुख के आर्णव स्वरूप शक्तिवान होने पर भी अपने आपको दुःख से आक्रान्त मानता है और क्षणिक लेशमात्र सुख के लिए लालायित रहता है, पर; सच्चा सुख इस संसार में नहीं मिलता है। तीर्थंकर प्रणीत धर्म के आरातीय आचार्यों ने संसार के प्राणियों को अथाह दुःखसागर से निकालकर सुख की ओर अग्रसर करने हेतु उपाय बतलाए हैं, वे माननीय एवं आचरणीय हैं। अनादिकाल से ही प्रत्येक आत्मा, आत्मा में ही उत्पन्न आत्मा के विकार क्रोध, मान, माया, लोभ, असत्य, असंयम आदि के कारण ही यद्यपि दुःखी और अशान्त रहता है। अशान्ति और दुःख निवृत्ति का एक मात्र उपाय आत्माराधना है। जो जीवन आत्म स्वभाव को जानकर, मानकर, जब उसी में रम जाता है, उसी में समा जाता है वही सर्वोच्च आनन्द और सच्ची शान्ति को प्राप्त कर सकता है। आचार्य पद्मनन्दि जी लिखते हैं –

समप्रत्यस्ति न केवली किल किलौ त्रैलोक्य चूड़ामणिः।
तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद् द्योतिकाः।।
सद्रत्नत्रय धारिणो यति वरास्ताषां समालम्बनं।
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥ 1/68 ॥

'वर्तमान इस कलिकाल में तीन लोक के पूज्य केवली भगवान इस भरतक्षेत्र में साक्षात् नहीं हैं, तथापि समस्त भरतक्षेत्र में जगत्प्रकाशिनी केवली भगवान की वाणी विद्यमान है तथा उस वाणी के आधार स्तम्भ श्रेष्ठ रत्नत्रयधारी मुनिराज जी विद्यमान हैं। इसलिए उन मुनियों का पूजन तो सरस्वती का पूजन है और सरस्वती का पूजन साक्षात् केवली भगवान का पूजन है।' तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि से निःसृत वाणी को गणधरों ने ग्रहण किया और आचार्यों ने उसे निबद्ध किया, जो जिनवाणी के रूप में आज भी हम सभी को प्राप्त है। जगत् पूज्य आराधक आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण जिनवाणी के स्वाध्याय-मनन-चिन्तन में सतत् संलग्न रहते हैं और वे गुरुवर, तप, साधना, ध्यानमय जीवन से ज्ञानसुधा सिंधु को प्राप्त करते हैं। ज्ञानसिंधु से प्राप्त ज्ञानसुधा भव्य जीवों के कल्याणार्थ

अपनी पीयूष वाणी से वर्णन कर देते हैं और प्राणीमात्र की ज्ञान रूपी पिपासा को संतृप्त करते हैं। मानवों को धर्ममार्ग में लगने की प्रेरणा देकर कल्याण का पथ बतलाते हैं। इसी विशिष्टता के कारण शास्त्रों में मुनिराज को धर्मोपदेशक कहा गया है। आचार्य शिवकोटि जी भगवती आराधना जैनागम में मुनिराज जी की वाणी को प्रभावोत्पादकता के कारणों की मीमांसा करते हुए कहते हैं कि-

णाणादेसे कुसलो, णाणादेसे गदाण सत्थाणं।
अभिलाव अत्थकुसलो, होदि य देसप्पवेसेण ॥ 150 ॥

अर्थात् मुनिराज को नये-नये प्रदेशों में विहार करने से नाना राज्यों का वहाँ के आचरण एवं रीति रिवाजों का तथा अपने चारित्र पालने की योग्यता-अयोग्यता का अनुभव होता है साथ ही उन राज्यों के शास्त्रों में भी प्रवीणता होती है और उन राज्यों की भाषा एवं उसके अर्थ की विशेषज्ञता भी उनमें आ जाती है। अतः तत्त्वज्ञान की गरिमा के साथ-साथ मुनिराज का प्रतिपादन कौशल स्वतः ही विशिष्ट एवं प्रभावी हो जाता है। इन सबके साथ संयम एवं त्याग की पवित्रता का प्रभाव तो पड़ता ही है। कविवर दौलतराम जी छहढाला में लिखते हैं –

जग सुहित कर सब अहित हर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं।
भ्रम रोग हर जिनके वचन, मुख चन्द्रतैं अमृत झरैं ।। 6/2।।

सर्व त्यागी दिगम्बर मुनिराज स्वभावतः आत्मानुभवी एवं आत्म विशारद होते हैं। इसलिए उनकी पद्धति एवं कथन शैली दोनों अध्यात्म रस से ओत-प्रोत रहती है। आचार्यों ने कहा है कि-जो मुनिराज धर्मतत्त्व को अपने जीवन में आत्मसात करके चलते-फिरते सिद्धों की भाँति विचरण करते हों, उनका तो दर्शन मात्र ''मूर्त्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तम्'' अर्थात् बिना बोले ही अपनी काया से ही मोक्षमार्ग का निरूपण करते हों ऐसा प्रभावोत्पादक होता है। अतएव यदि वे साक्षात् उपदेश करते हों, तब उसे श्रवण हेतु सम्पूर्ण जन सैलाव ही उमड़ पड़े तो कोई विस्मयोत्पादक बात नहीं है। जैन ग्रन्थों में मुनिराज की चर्या के विषय में विशिष्ट उल्लेख किया गया है। जैनागम भगवती आराधना की विजयोदया एवं मूलाराधना टीकाओं में आचार्य प्रवर ने स्पष्ट निर्देशन किया है कि-'पज्जोसमण कप्पो' अथवा 'पज्जोसवणा कप्पो नाम दशमः स्थिति कल्पः'।

वर्षाकाल के चार मासों में अन्यत्र गमन न करके एक ही स्थान में रहना, जैन मुनियों का पर्यूषण नामक दसवाँ स्थिति कल्प है। इस प्रकार सम्पूर्ण वर्षाकाल को पर्यूषण कहते हैं।

आध्यात्मिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से जैन परम्परा में पर्यूषण का सर्वाधिक महत्व है। पर्यूषण मानव मात्र को विकारी भावों के त्याग एवं उदात्त भावों के ग्रहण करने की समीचीन प्रेरणा प्रदान करता है। पर्यूषण की शिक्षा आत्मा में परिशुद्धता और जीवन में पारदर्शिता लाती है। पर्यूषण शब्द की आचार्यों ने व्याख्या और परिभाषा प्रस्तुत की है। उष् धातु में परि उपसर्ग लगने से संस्कृत का पर्यूषण शब्द बना है। जैन व्याकरणकार 'पर्यूषण' शब्द की उत्पत्ति के विषय में कहते हैं- परि आ समन्तात् उष्णयन्ते दहयन्ते पाप कर्माणि यस्मिन् तत् पर्यूषणम् अर्थात् जो सर्वतः पाप कर्मों को जलाता है अथवा जो समस्त रूप से आत्मस्थ कर्मों की निर्जरा करे वह है पर्यूषण। यद्यपि पर्यूषण शब्द स्वयं अपभ्रंश है जिसको प्राकृत भाषा में पज्जुसण, पज्जूषण, पज्जोसव, पज्जोसवणा आदि नाम से जानते हैं तथा संस्कृत भाषा में पर्यूषन, पर्यूषण, पर्युशमनाः, पर्युपवासः, पर्युपासनाः आदि नामों से जाना जाता है।

पेज्ज का अर्थ राग-द्वेष है और उषण का अर्थ जलाना है। राग-द्वेष को जलाना। इस प्रकार जिस विधि द्वारा राग-द्वेष को जलाने का संकल्प व उपक्रम किया जाय उस विधि का नाम पर्युषण है। पर्यूषन का अर्थ परि+ऊषन 'परि' अर्थात् पूर्ण रूप से 'ऊषन' अर्थात् दाह करना। ज्ञानावरणादि कर्मों का पूर्ण रूप से दाह-विनाश करना अथवा कर्मादि विकारों का दहन करना पर्यूषण कहलाता है। पर्यूषण का अर्थ परि+ऊषण अर्थात् 'परि' रूप से 'ऊषण' वास करना। एक स्थान पर स्थित रूप से वास करने को पर्यूषण कहते हैं अथवा पर भाव से विरति होकर स्वभाव में रमण करना अर्थ है। परि+उपशमन अर्थात् पूर्ण रूप से कर्मों को शान्त करना अथवा उपशमन करना पर्यूपशमनाः है। क्रोधादि चतुर्विध कषाय भावों का उपशमन करना पर्युपशमनः है। परि+उपवास अर्थात् वर्षायोग (चातुर्मास) में एक स्थान में रहते हुए अपनी आत्मा में ही लीन रहना या निवास करना पर्युपवासः है। परिपासनाः परि+उपासना अर्थात् उत्कृष्ट उपासना या आत्मोपासना आत्माराधना करना। इस प्रकार पर्यूषण का अर्थ सब ओर से इन्द्रिय और मन की असंयत प्रवृत्ति

को रोककर आत्मा के विषय में चिंतन मनन करना, आत्मशोधन-आत्मा की शुद्धि करना, आत्म निकटस्थ होना या स्वयं के निकट होना है। अतएवं सभी अवगुणों को दूर कर अन्तर्ज्योति को जागृत करने की साधना में संलग्न रहना ही पर्यूषण है। आचार्यों ने इन भावों को अभिव्यक्त करते हुए कहा है-

'परि समन्तात् उषणं निवासः सर्व जीवैः सर्व मैत्री भावनेति पर्युषणम्'

अर्थात् चतुर्दिश रूप में अपनी कषाय को समाप्त करने हेतु, चतुर्दिश रूप से अपने भीतर मैत्री को जन्म देने हेतु, चतुर्दिश रूप से अपने भीतर वात्सल्य को प्रदर्शित करने हेतु चतुर्दिश रूप से अपने जीवन में धर्म प्रकट करने हेतु पर्यूषण को स्वीकार करते हैं। पर्यूषण का स्रोत एक अनादिनिधन परम्परा से है और यह जीवन में साधना का पीयूष-कलशोत्सव है। साथ ही ये ऋतु परिवर्तन की कालावधि में आहार शुद्धि के द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य के संतुलन में अद्भुत वैज्ञानिक महत्व रखता है, क्योंकि इन दिवसों में व्रत-उपवास आदि के माध्यम से काया के संचित विकारों को क्षय करके उसे नूतन मौसम के अनुकूल बनाने में सहायता मिलती है। विचार शुद्धि की दृष्टि से इसका आध्यात्मिक महत्त्व सुप्रमाणित है। पर्यूषण में आत्ममंथन की प्रक्रिया भी निहित है। इसमें आत्मा की वैमनस्यता को, कर्मरूपी शत्रुओं को हटाने का प्रयास करते हैं। संयम पालन, आहार शुद्धि, दर्शन, स्तवन, पूजन, भजन, तत्त्वचिंतन और मनन आदि किया जाता है जिससे मानवीय भावनाएं परिस्कृत हों।

आत्मा की विशुद्धि के लिए उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आंकिचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य इन दशलक्षण धर्मों का पालन किया जाता है। इन दशलक्षण धर्मों के साथ उत्तम शब्द की अनुवृत्ति है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में इष्ट प्रयोजन की निवृत्ति के अर्थ में इन धर्मों के साथ उत्तम विशेषण प्रयुक्त किया है। आचार्य अकलंक देव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रंथ में लिखा है-'उत्तम विशेषणं इष्ट प्रयोजन परिवर्जनार्थम्।' ये क्षमादि धर्म किसी इष्ट प्रयोजन (लौकिक कार्यो) की प्राप्ति हेतु धारण नहीं किये जाते हैं इसलिए ये संवर के कारण होते हैं। इस विशिष्टता की सूचनार्थ उत्तम विशेषण है। दशलक्षण धर्म

आत्मा के स्वभाव हैं। स्वभाव की उपलब्धि न होने से विभाव रूप परिणत इस आत्मा को अज्ञान अंधकार से बचाने के लिए, पुनः संस्कारित करने की आवश्यकता पड़ती है। पर्यूषण में दशलक्षण धर्मों का संकल्पपूर्वक पालन, विभाव को क्षीण कर स्वभाव में व्यक्ति को स्थिर करने की विधि है। पर्यूषण का पीयूष सार्वभौमिक और सार्वकालिक है। सार्वभौमिक इसलिए है कि इसके अंतर्गत क्रोधादि को बुरा, अहितकारी और क्षमादि भावों को अच्छा, हितकारी माना गया है। सार्वकालिक इसलिए है कि ऐसा कोई काल नहीं, जब क्रोधादिक को हेय और उत्तम क्षमादि को उपादेय न माना जाता रहा हो। अनन्तकाल से वर्ष में तीन बार भाद्र, माघ और चैत्र माह के शुक्ल पक्ष में पंचमी से चतुर्दशी तक मनाये जाने वाला पर्यूषण पर्व भाद्रपद माह में एक नवीन उल्लास का पीयूष लाता है। जीवन को चिरन्तन साकार बनाने वाला यह पर्व जीवन का पीयूष मंत्र है।

समस्त संसार यद्यपि पीयूष का पिपासु है। तथापि पर्यूषण दश धर्मों का पीयूष है। उत्कृष्ट रूप में यह मुनि धर्म का प्राण है, स्वानुभूति की कुंजी और ध्यान की आधारशिला है। पर्यूषण का मुख्य उद्देश्य कषायों की समाप्ति, पापों का विसर्जन व शोषण, पुण्य का पोषण, सुख का निधान, आनन्द का खजाना और आत्मगुणों का पुंज है। श्रावक जन भी यथा शक्ति एवं आगम मर्यादा के अनुसार पर्यूषण का अनुपालन करते हैं। पर्यूषण मानो निर्विरोध प्रगतिशील जीवन की खुली हुई दश दिशाएँ रूप है। मनुष्य के दैनिक तथा आयुपर्यन्तगामी व्यवहारों का मणिकोष है, जिनके पालन से अन्तर्बाह्य शान्ति मिलती है और आत्मा के तलस्पर्शी गुण-रत्नों की उपलब्धि सहज हो जाती है। पर्यूषण के पावन दिनों में एक ऐसा पवित्र पुनीत वातावरण निर्मित होता है कि व्यक्ति स्वयं ही क्षमाशील, मृदु स्वभावी और उदार हृदय का बन जाता है। 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की सहज अनुभूति सम्भव लगती है। पर्यूषण की मूल आधार शिला अहिंसा है, जो व्यक्ति के चारित्रिक उत्थान करुणा, दया, तप, त्याग, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि की भावनाओं को जागृत करने का संदेश देती है। इस हेतु यह विश्व हितंकर सर्वग्राह्य है। अंधकार से प्रकाश, अज्ञानावस्था से ज्ञानावस्था, परमोदात्त भावनाओं का प्रेरक, वीतराग का पोषक, संयम तथा आत्मसाधना का पीयूष व जीवन सृजन का पर्व है। आत्मा की संधि ही पर्यूषण की मौलिकता है।

अतीत सद्कर्मों के पुण्य संचयन के फलस्वरूप ग्वालियर नगर को परम तपस्वी संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के योग्यतम शिष्य परम पूज्य आचार्यश्री आर्जवसागर जी महाराज ससंघ का परम पुनीत सान्निध्य प्राप्त हुआ। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्यश्री आर्जवसागर जी महाराज का गहन गम्भीर ज्ञान, निर्दोष-निस्पृह चर्या और सहज-सरलवृत्ति सभी को स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। धर्म-दर्शन, संस्कृति तथा अध्यात्म जैसे अतिगूढ़ विषयों की आगमिक सरल प्रस्तुति आपका अनुपम वैशिष्ट्य है। चातुर्मास की कालावधि में निर्जर और निरापद अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा कि जन-जन की श्रद्धा साष्टांग हुई और मन अभिभूत होकर धर्माचरण की सरित में अवगाहन करने लगा। आचार्यश्री जी की भावना यही रही है कि जिनशासन की मंगलमयी प्रभावना हो, धर्म का विकास हो, नवचेतना में धार्मिक भावना की अभिवृद्धि हो, समाज में समन्वय-शीलता का मधुर वातावरण निर्मित हो और धर्माचरण का भाव स्थापित हो।

वर्षावास में चातुर्मास निष्ठापन के उपरान्त आचार्यश्री जी की जब विहार की बेला उपस्थित हुई तब स्नेही ब्रह्मचारिणी बहनों ने पर्यूषण पर्व के प्रवचनों की कॉपी तैयार करने हेतु सी.डी. व कैसेट का सेट मुझे प्रदान किया। परम पूज्य वात्सल्यमयी गुरुवर ने मुस्कराते हुए वात्सल्यमयी मंगल आशीर्वाद दिया। आचार्यश्री जी के मंगल आशीर्वाद और मेरे जीवन साथी श्रीमान अशोक कुमार मोदी पुत्री कु. आरती मोदी, कु. आराधना मोदी के विशिष्ट सहयोग से अतिदुरूह श्रमसाध्य लेखन एवं सम्पादन कार्य सफलता पूर्वक सम्पन्न हो सका, इसलिए हृदय अत्यंत प्रफुल्लित है। हम पूज्य आचार्यश्री जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं कि आपने मुझे यह अवसर प्रदान किया कि धर्माराधना में अपना समय लगा सकी। पारिवारिकजनों की भी अत्यंत आभारी हूँ कि उनके अपरिमित सहयोग से 'पर्यूषण पीयूष' कृति मूर्त रूप में आकार पा सकी। इस अवसर पर परिवारजनों के प्रति चिर कृतज्ञ हूँ और सभी के प्रति अपना हार्दिक वात्सल्य भाव प्रकट करती हूँ।

आचार्यश्री जी की पीयूष वाणी से निसृत एक-एक शब्द श्रोताओं के हृदय को प्रमुद कर देने वाले प्रभावोत्पादक होते हैं। आपके प्रवचनों में विषय की सुबोधता और प्रवाही प्रस्तुति सहज ही बोधगम्य होती है, यही कारण है कि प्रवचनों में जन सैलाब के मध्य भी अपूर्व नीरवता विद्यमान रहती है। आचार्यश्री के

प्रवचनों में अनेक उद्धरण, व्याख्यान, पौराणिक सन्दर्भ, प्रसंग और सैद्धांतिक चर्चायें भी प्रेरणादायी होती हैं जो मानव को संसार के कालुष्य से दूर रहने की शिक्षा देती हैं।

'पर्यूषण पीयूष' कृति में आचार्यश्री द्वारा दिये गये दशलक्षण धर्मों के उद्‌बोधन हैं जो आपने अशोक नगर जिले में पर्यूषण पर्व के पावन अवसर पर सरलता एवं भावप्रणता से बतलाये एवं समझाये थे। प्रस्तुत कृति व्यक्ति के जीवन को गुणात्मक परिवर्तन का सार्थक धर्म सिंधु है साथ ही दश धर्मों का पीयूष जीवन-व्यवहार में पान करने की प्रबल प्रेरणा भी है; और है मानव से महामानव बनने की अन्तरयात्रा का मार्मिक मार्गदर्शन। इस कृति को पढ़कर पाठक आत्मकल्याण का पथ अवश्य ही खोज सकते हैं और आत्मोद्धारक बनकर दुःख रूप अनन्त संसार परिभ्रमण को नष्ट करने का सफल प्रयास कर सकते हैं। निश्चयेन यह कृति व्यक्ति का सच्चा मार्गदर्शक बनकर उसके गुणात्मक परिवर्तन का आधार बनेगी। इसी भावना के साथ पूज्य मुनिवर के श्री चरणों में परिवार सहित त्रिबार नमोस्तु अर्पित करते हुए यह सुबोध कृति पाठकों को गुरु आशीर्वाद मानकर सौंप रहे हैं।

मुनिचरणानुरागी

डॉ. श्रीमती अल्पना अशोक जैन मोदी, ग्वालियर

एम.ए. (द्वय), एम.फिल., पी.एच.डी.

बहुत किये उपकार आपने,
यह कृति भी इक उनमें से।

तेरा तुझको अर्पण
इसमें क्या लागे मेरा।

अनुक्रमणिका

क्र.	विवरण	पृष्ठ सं.
1.	उत्तम क्षमा धर्म	1
2.	उत्तम मार्दव धर्म	22
3.	उत्तम आर्जव धर्म	47
4.	उत्तम शौच धर्म	68
5.	उत्तम सत्य धर्म	92
6.	उत्तम संयम धर्म	118
7.	उत्तम तप धर्म	149
8.	उत्तम त्याग धर्म	171
9.	उत्तम आकिंचन धर्म	197
10.	उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म	217
11.	क्षमावाणी	248
12.	संदर्भ	257

उत्तम क्षमा धर्म

क्रोध का शमन–क्षमा का मिलन

मङ्गलाचरण

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलम्।।
सर्व मंगल मांगल्यम्, सर्व कल्याण कारकम्।
प्रधानं सर्व धर्माणां, जैनं जयतु शासनम् ।।

सद्धर्मी बन्धुओं,

भाद्रपद पंचमी का यह पावन दिन हम सबको उन समयों का स्मरण कराता है जो उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का प्रारम्भ दिन होता है। उनन्चास दिन की प्रशस्त वर्षाएं इस भूमि को निर्मल करती हैं, तभी इस सृष्टि का पुनः प्रारम्भ और जीवों की उत्पत्ति, उनकी सुख–सुविधाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं। शायद इसीलिए ही इन कालों का प्रारम्भ भी अनादि निधन है। ये पर्यूषण पर्व, दशलक्षण पर्व, अष्टमी, चतुर्दशी, सोलहकारण, अष्टाह्निका, रत्नत्रय इत्यादि पर्व भी अनादिनिधन हैं। कब से प्रारम्भ हुए, किसने बनाये, ये नहीं कहा जा सकता, इनका न आदि है न अन्त है इसलिए अनादिनिधन हैं।

आज से जो यह दशलक्षण पर्व प्रारम्भ हुआ है। यह प्रतिवर्ष आता है। वर्ष में तीन बार यह पर्व आता है, विशेषतया लोग भाद्रपद माह में विशेष उत्साह पूर्वक मनाते हैं। इस पर्व में हम सभी साधना करते हुए चिन्तन मनन करते हैं कि वे महा मुनीश्वर अपने जीवन में कैसे इन दशधर्मों का पालन कर अपने जीवन को मंगलमय बनाते हुए अपने कर्मों की निर्जरा के माध्यम से मुक्ति को प्राप्त करते हैं। दशधर्म आत्मिक निर्मलता की एक परिणति के लिए कारण होते हैं। इन दश धर्मों का पालन मात्र दश दिन ही करना चाहिए, ऐसा नहीं है। दस दिन तो सीखने के हैं, पाठशाला में पढ़ने के हैं, उनका पालन जीवन में हर समय, हर क्षण अपनी चर्या के समय में करना है। इन दस दिनों में हम जो इन दश धर्मों को भाते हैं, चिंतन करते हैं, उस समय अपने परिणाम निर्मल रहें, इसलिए अपनी चर्या को भी उन धर्मों के अनुकूल बनाते हैं। धर्म चिन्तन के लिए भी अपना मनोभाव विशुद्ध करना जरूरी

है। तन भी शुद्ध हो, वस्त्र भी शुद्ध हों और भोजन भी शुद्ध हो। जब ये सभी शुद्ध हों तो श्रावको को एक बहुत ही अच्छे आनन्द की अनुभूति होती है और ये सभी शुद्ध न हों तो केवल धर्म का चिन्तन अधूरा सा प्रतीत होता है तथा आनन्द की अनुभूति नहीं होती है।

ये दश धर्म हमें मुनि बनने की शिक्षा देते हैं। मुनिगण कैसे धर्म का चिन्तन करते हैं, अपने जीवन में कैसे इन क्षमा आदि गुणों को हर एक पल में, जीवन चर्या में उतारते हैं, यह शिक्षा इन दश दिनों में मिलती है। हम भी इसी रूप से इनका पालन कर सकें ऐसा श्रावकगण अपने अन्दर भाव करते हैं इन दश धर्मों से उत्कृष्ट और कुछ नहीं दिखता। इन दश धर्मों के अन्तर्गत ही समस्त धर्म गर्भित हो जाते हैं। इन पर्वों को हर एक भव्य आत्मा जो भी सम्यक् दृष्टि हैं, वे तो नियम से मनाते ही हैं और इन जीवों से संबंधित अन्य लोग भी इन पर्वों में इन धर्मों का चिन्तन करते हैं।

आपके घर–परिवार में प्रत्येक व्यक्ति प्रायः इन दश दिनों में शुद्ध आहार करते होंगे, पूजा करते होंगे, धर्म को सुनते होंगे। ऐसे पावन प्रसंगों के अवसर पर साधु संग मिल जाए तो फिर कहना ही क्या है? हर एक पल जिनके जीवन में ये दश धर्म हमें दिखते हैं, उनके मुखारबिन्द से (पीयूष वाणी) इन धर्मों का उपदेश बहुत ही अमृत तुल्य लगता है। दश लक्षण का कथन जो किया गया है, इन्हें धर्म के अन्तर्गत लिया गया है। धर्म कई प्रकार के होते हैं। जैसे कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आचार्य कार्तिकेय स्वामी धर्म के सर्वग्राही या व्यापक स्वरूप के विषय में कहते हैं–

धम्मो वत्थु सहावो खमादि भावोय दस विहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ।। 478।।

'धम्मो वत्थु सहावो' वस्तु का स्वभाव धर्म है। 'खमादि भावोय दस विहो धम्मो' उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश प्रकार के भाव धर्म रूप हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र ये रत्नत्रय धर्म स्वरूप हैं और जीवों की रक्षा करना धर्म है। इस प्रकार ये धर्म की परिभाषाएँ हैं। इनकी क्रमिकता पर विचार करते हैं तो एक बात समझ में आती है कि जीवों की रक्षा का धर्म, रत्नत्रय तक ले जाता है। जिस रत्नत्रय से अपने

दशलक्षण रूप आत्म तत्व को प्राप्त करते हैं और यही दशलक्षण रूप आत्म तत्त्व वस्तु का परम स्वभाव है। वैसे हर वस्तु का अपने-अपने स्वभाव गुण धर्मों में बने रहना भी धर्म है। हमें इन दश दिनों में दश धर्म के बारे में समझना है और दश धर्म के अन्तर्गत वस्तु का स्वभाव कहो, जीवों की रक्षा कहो, रत्नत्रय कहो सब कुछ आ जाने वाला है। तो ऐसे दश धर्म अपने जीवन में आना चाहिए और इसके माध्यम से हमें समता-शांति की अनुभूति होना चाहिए।

आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी भी अपने वारसाणुवेक्खा नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि वे दश धर्म कौन से हैं? उनके शब्दों में हम सुनेंगे। अध्यात्म को एक अमृत तुल्य माना है। हम आध्यात्मिक ग्रंथों को पढ़कर के अपने आपको बहुत धन्य मानते हैं कि जिन्होंने दही के मंथन से जिस प्रकार घी निकलता है ऐसे अपने आत्मा के मंथन से अध्यात्म की प्राप्ति की है और अपने कर्मों को नष्ट करने के लिए भेद-विज्ञान को कैसे प्राप्त किया जाता है, निश्चय व्यवहार रत्नत्रय के माध्यम से जो धर्म प्राप्त किया जाता है, उसी धर्म को इन शास्त्रों में लिखा गया है, तो हम भी क्यों न हो उन धर्मों को सुनें और अपने अन्तस् में जो कर्म रूपी किट्टकालिमा है वह दूर हो जाए। जैसे कि दूध से घी बनता है तो उसका सब अशुद्ध अंश निकल जाता है, तभी वह घी बनता है, वैसे ही अपनी आत्मा में जो अशुद्धता है वह निकल जाए। तो आचार्य श्री ने दश धर्मों के नाम बतलाये हैं। मुनि धर्मों का कथन करते हुए धर्मानुप्रेक्षा में कहते हैं-

उत्तमखम मद्दवज्जव-सच्च-सउच्च च संजमं चेव।
तव-चाग माकिंचणहं बम्हा इदि दसविहं होदि ।।70।।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश प्रकार के धर्म होते हैं। ये मुनियों के पालन करने योग्य दश प्रकार के धर्म हैं। श्रावक भी इनका एकदेश रूप से पालन करते हैं। ये दश धर्म अपने जीवन में कैसे आते हैं इसे समझें।

चार प्रकार की कषायें होती हैं। प्रायः आप जानते भी हैं, जानते ही क्या करते भी है, क्रोध, मान, माया, लोभ। क्रोध के अभाव में उत्तम क्षमा धर्म की उत्पत्ति होती है। मान कषाय के अभाव में उत्तम मार्दव धर्म की उत्पत्ति होती है और माया कषाय के अभाव में उत्तम आर्जव धर्म की उत्पत्ति होती है और इसी प्रकार

लोभ कषाय के अभाव में उत्तम शौच धर्म अपने जीवन में आता है। किसी को पीड़ा न हो ऐसे आगम के अनुकूल वचन बोलने से सत्य धर्म अपने जीवन में आता है। इसके बाद इन्द्रियों को अपने काबू में रखना और जीवों की हिंसा से बचना इससे संयम धर्म की उत्पत्ति होती है। बारह प्रकार के तप तपने से उत्तम तप धर्म प्राप्त होता है। जो हमें इस जगत में संयोग रूप से प्राप्त हुआ है, उसका वियोग निश्चित है ऐसा जानकर अपनी इच्छानुसार अपनी शक्ति को न छुपा करके उसका त्याग करने से अपने जीवन में उत्तम त्याग धर्म की उत्पत्ति होती है। जब एक दिन त्याग करते-करते बाहरी संयोगरूप सब पदार्थ हम से दूर हो जाते हैं तो उत्तम आकिंचन्य धर्म अपने जीवन में आता है और इसके बाद जिस समय उत्तम आकिंचन्य बन करके यह आत्मा अपनी आत्मा में ही लीन हो जाती है, सब पर पदार्थों से दूर होकर व पर चिन्तनों से दूर होकर के अपने अन्तस् में लीन हो जाती है तो उसका नाम है **ब्रह्मणि आत्मनि चरति इति ब्रह्मचर्यः** अपनी आत्मा में रमण करने का नाम ही ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार से हमें दश धर्मों की प्राप्ति होती है। तीर्थोदय काव्य में भी दश धर्मों के धारण के विषय में लिखा है कि -

क्रोध त्यागते क्षमा धारते, मार्दव धारें मान तजें।
माया त्यागी आर्जवता से, शौचधार अति लोभ तजें।।
शास्त्र कहें वे, सत्य धर्म है, इन्द्रिय प्राणी में संयम।
कर्म काटते तप करते वे, त्याग धारते धर्मीयम ।।556।।

क्रोध को त्यागते हैं तो क्षमा को धारते हैं, मार्दव को धारने के लिए मान को तजते हैं। माया त्यागी आर्जवता से शौच धर्म को धारण करते हैं तो अतिलोभ भी छूट जाता है। शास्त्र के अनुसार कथन करते हैं तो सत्य धर्म की उत्पत्ति होती है और इन्द्रिय व प्राणी में संयम धारण करना ही उत्तम संयम धर्म है। कर्मों को काटते हैं तपस्या के द्वारा और वे धर्मी आत्मा अपने जीवन में हमेशा के लिए जो पंचपाप हैं या हमारे अन्दर जो विभाव हैं, उन सबको छोड़ देते हैं वही त्याग है। आगे लिखा है-

पूर्ण रूप से संग दूर वे, अंतरंग - बहिरंग जहाँ।
आकिंचन हैं महाव्रती वे, चौबीसों न संग वहाँ।।
मन-वच-तन-कृत-कारित अथवा अनुमोदन अक्षादिक सह।
चेतन जड़ उन महिलाओं का, करें त्याग रागादिक-सह।। 557।।

पूर्ण रूप से संग दूर वे, अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह जहाँ दूर हो जाते हैं वहाँ आकिंचन्य बन करके महाव्रती बन जाते हैं। चौबीसों परिग्रह दश प्रकार के बहिरंग चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रह जहाँ से निकल चुके हैं ऐसे वे आकिंचन्य महाव्रती कहलाते हैं। मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से और जो भी पंचेन्द्रिय के विषयों में या जो चेतन स्त्रियाँ और अचेतन स्त्रियाँ हैं उनका वे त्याग कर देते हैं। इनमें राग-द्वेषादि करने का त्याग कर देते हैं अर्थात् चाहे वह सचेतन स्त्री हो अथवा चित्र, काष्ठ आदि की स्त्री हो, उसमें भी राग नहीं करते हैं, फर्क नहीं करते हैं, ऐसे वे पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले महाव्रती कहलाते हैं।

अभी तो संक्षेप में दश धर्म के बारे में जाना है। अब हम आगे जिस धर्म का आज प्रसंग है, उस धर्म के विषय में जानेंगे। आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी कहते हैं कि उत्तम क्षमा धर्म कब आता है? उत्तम क्षमा धर्म की प्राप्ति के लिए इस आत्मा को क्या पुरुषार्थ करना चाहिए, वे मुनि महाराज उत्तम क्षमा को धारण करने के लिए अपने जीवन में कैसा चिन्तन करते हैं, उसके बारे में कहा है।

इस संसार में अभी यह आत्मा विभाव अवस्था में तरह-तरह से दुःख और अनेक तरह की अनुकूलताओं-प्रतिकूलताओं का सामना करती रहती है और इसके माध्यम से यह तरह-तरह से राग-द्वेषादि भावों से अपने अन्दर तरह-तरह के ज्ञानावरण आदि कर्मों से बंधती रहती है। अगर हमें कर्मबंध से बचना है तो हमेशा चिन्तन करें कि कई प्रकार के ऐसे निमित्त मिलते हैं जिन निमित्तों से प्रभावित होकर के हम लोग अपने अन्दर क्रोध रूपी अग्नि को उत्पन्न कर लेते हैं। क्रोध ऐसी अग्नि है जो हमारे सारे गुणों को जला देती है। नीतिकारों ने क्रोध को चाण्डाल की उपमा दी है। क्रोध जब आ जाता है तब यह सब तहस-नहस कर देता है। जैसे किसी भरे पूरे नगर में, किसी उद्यान में यदि आग लग जाये तो सब तहस-नहस हो जाता है, सब ध्वस्त हो जाता है, सब जल जाता है उसी प्रकार क्रोध के आते ही समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। यह हम जानें।

जैसे कि अग्नि है अग्नि के सम्पर्क से आप देखते हैं कि चाहे जल हो या दूध हो जब गरम हो जाता है तो आप उस समय चिन्तन करते हैं कि इसका स्वभाव कहाँ गया? दूध उबल रहा है। उबल क्यों रहा है दूध? इसमें कारण क्या है? जल

का स्वभाव कहो, दूध का स्वभाव कहो, वो तो शीतल है। लेकिन अभी गरम क्यों हुआ और उबल क्यों रहा है इसका कारण क्या है? उसका कारण विभाव में आना है। विभाव में आने का कारण अग्नि है। आप ऊपर से थोड़ा सा जल डाल देते हैं, जल के छींटे मार दिए, तो उबलना थोड़ा सा रुक जाता है, लेकिन कुछ क्षणों में पुनः उबलने लग जाता है। ऐसे ही हम लोग इस संसार में तरह-तरह के निमित्त पाकर कषाय करने लग जाते हैं, क्रोध आ जाता है, उबलने लग जाते हैं। फिर ये बाहरी पदार्थ हमारे लिए क्रोध के कारण बन जाते हैं। विशेषकर के बाहरी पदार्थों में एक मुख्य वस्तु है, वही क्रोध के लिए कारण बनती है। जैसे कि अग्नि उसके स्वभाव को विभाव में बदल देती है वैसे ही क्रोध कषाय से हमारा स्वभाव छूटता है। क्षमा हमारा स्वभाव है, लेकिन हम उस स्वभाव से दूर हो जाते हैं। तो आप समझें कि उसके विभाव का कारण क्या है, जिसे हमें दूर करना चाहिए।

जल को, दूध को गरम होने में, उबलने में कारण अग्नि है। आप कितने ही ऊपर से जल के छींटे डालते रहो, लेकिन वह पुनः पुनः उबलता रहेगा। तो हमें क्या करना है? उस अग्नि को हटाना है। अग्नि को हटा दिया तो अपने आप बिना जल के छींटे डाले वह दूध या जल अपने स्वभाव में आ जाता है। क्योंकि उसका स्वभाव शीतलता है। **धम्मो वत्थु सहावो** हमने सुना था पढ़ा था, वस्तु का स्वभाव धर्म है, जैसे जल का स्वभाव शीतलता है, अग्नि का स्वभाव उष्णता है। वैसे ही हमारी आत्मा का स्वभाव क्या है? हमारी आत्मा का स्वभाव तो शांति सुख है, ज्ञान-दर्शन गुण हैं; लेकिन हम लोग अभी अशांति और दुःखमय विभाव का अनुभव कर रहे हैं। तरह-तरह की अशांतियाँ और दुःख हमें अपने जीवन में नजर आते हैं। इसका कारण क्या है? वहाँ तो अग्नि कारण थी, लेकिन इसमें क्या कारण है? एक ही वस्तु कारण और एक ही वस्तु छोड़ने योग्य है - 'परिग्रह'। परिग्रह में सब आ गया।

शरीर से लेकर धन, वैभव, दुकान, मकान आदि सब दश प्रकार के परिग्रह में आ जाता है। ये अपने विभाव के लिए मुख्य कारण है। अन्तरंग मिथ्यात्व आदि कषाएं भी कारण हैं, वो अन्तरंग परिग्रह हैं। पहले बहिरंग परिग्रह को छोड़ो, बहिरंग परिग्रह पहले छोड़कर देखो इसके साथ-साथ अन्तरंग परिग्रह भी छूटता चला जाएगा। सर्वप्रथम अधिक कषाय करना छोड़ो, कोई भी बैर भावनाएं छः

महिने के ऊपर चली गईं तो अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यग्दर्शन का अभाव होकर मिथ्यात्व आ जाता है और आपकी अनन्तानुबंधी कषाय चली गयी तो फिर सम्यग्दर्शन आपके प्रकट हो गया और मिथ्यात्व रूपी अन्तरंग परिग्रह भी चला गया ऐसा समझो।

बहिरंग परिग्रह की वजह से जो भाव हो रहा था उतनी कषायें आपने छोड़ दीं। सोच लिया कि भूल जाओ भइया, अब हो गए, बहुत दिन हो गए, अब उतनी कषाय मत करो, बैर मत रखो; छोड़ दो, उस वस्तु से राग छोड़ दो, मोह छोड़ दो तो समझो आपने अन्तरंग परिग्रह भी ममत्व छोड़ दिया समझो। जैसे-जैसे बहिरंग परिग्रह दूर होता है, वैसे-वैसे अन्तरंग परिग्रह दूर होता है और जैसे-जैसे अन्तरंग परिग्रह जाता है वैसे-वैसे बहिरंग परिग्रह भी जाता है। दोनों का निमित्त नैमित्तिक संबंध है। इसलिए हम लोग विचार करें कि यह परिग्रह ही अपने लिए अशांति का कारण है। ये अग्नि के समान है। हम अगर अपने स्वभाव में आना चाहते हैं तो परिग्रह को कम करें, धीरे-धीरे उसे छोड़ ही दें तो तब पूर्ण रूप से अपने स्वभाव में हम आ सकते हैं। जब हम पूर्ण रूप से निर्ग्रन्थ बनकर के अपनी आत्मा में लीन हो जाएंगे तभी पूर्ण रूप से हम अपने स्वभाव में आगे संभल पाएंगे। इसलिए ब्रह्मचर्य धर्म को अन्त में रखा है क्योंकि उसके बाद कोई धर्म नहीं है। वास्तविक धर्म तो वह है जब अपनी आत्मा में लीन हो गए तो फिर कुछ धर्म करने की आवश्यकता नहीं है, उसका फल आपको मिल जाएगा। ब्रह्मचर्य की उत्कृष्ट परिभाषा **ब्रह्मणि आत्मनि चरति इति ब्रह्मचर्यः** अपनी आत्मा में आचरण करना लीन होना ब्रह्मस्वभाव में लीन होना है।

एक-एक धर्मों का पालन करते चले जाते हैं और जब जिस समय अपनी आत्मा में लीन हो जाते हैं तो समझो कि बस अब इसके बाद कुछ नहीं रह गया पाने को। आत्मा में लीन होना पूर्ण रूप से अपने स्वभाव की प्राप्ति हो गयी, विभाव सब कुछ निकल चुका है। घी बन गया तो अब कोई कार्य करने की आवश्यकता नहीं है। जब तक घी नहीं बना तब तक तरह-तरह के साधन हम लोग उपलब्ध कराते हैं। अभी हमको छोटे-छोटे निमित्तों, छोटी-छोटी बातों से क्रोध आ जाता है। इसका कारण क्या है? इसका कारण यही है कि परिग्रह के प्रति लगाव और उसमें राग-द्वेष यही कारण है। आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी वारसाणुवेक्खा ग्रंथ में उत्तम

क्षमा धर्म का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं -

कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।
ण कुणदि किंचिवि कोहो तस्स खमा होदि धम्मोत्ति ।।71।।

ऐसे मुनिमहाराज जिन्होंने सब परिग्रह को छोड़ दिया है और जगत में तरह-तरह के ऐसे निमित्त सामने आते हैं जो कि क्रोध कराने के लिए तैयार रहते हैं, ऐसे निमित्तों के साक्षात् कारण मिलने के बाद भी क्रोध की उत्पत्ति का यदि साक्षात् बहिरंग कारण उपस्थित हैं तो भी जो कुछ भी 'किंचिवि कोहो' थोड़ा भी क्रोध नहीं करता है जो साधु 'तस्स' उसके 'खमा होदि धम्मोत्ति' अर्थात् उसके पास उत्तम क्षमा धर्म होता है।

सब धर्मों के साथ 'उत्तम-उत्तम' शब्द लगाया है। एक धर्म अगर है तो उसके साथ में दूसरा धर्म भी है ये ध्यान रखना। हर एक धर्म के साथ क्षमा लगी हुई है और बाद वाले धर्म भी पहले धर्म के साथ लगे हुए हैं। आपस में दशों धर्म का संबंध है। मुख्यता किसी एक धर्म की है, पर वहाँ अन्य धर्म भी जुड़े हुए हैं। क्षमा के बिना कोई धर्म प्रारम्भ नहीं हो सकता। यहाँ जो उत्तम शब्द लगाया है हर एक धर्म के साथ, उसका भी एक कारण है कि कई लोग स्वार्थ भावना से क्षमा मांगते और करते हैं। भइया उनसे क्षमा मांग लो क्योंकि उनसे ही काम पड़ना है, जब दुकान पर जाओगे तो वे माल नहीं देगें, या पैसा मांगोंगे तो पैसा नहीं चुकायेगें। कोई वस्तु की आवश्यकता पड़ेगी तो मना कर देंगे, इसलिए उनसे तो जरूर क्षमा मांग लो आज। क्षमावाणी के कार्ड छपवा लो और उन्हीं के पास भेजना जिनसे हमारा संबंध रहता है। जिनसे हमारा कोई संबंध नहीं है, वहाँ पर नहीं भेजना, खर्चे का काम नहीं करना है। देखो भाई इसमें भी स्वार्थ लगा हुआ है। तो यहाँ जो उत्तम शब्द लगाया है, उससे यह अर्थ निकलता है कि ये सारे के सारे धर्म निस्वार्थ भावना से करना चाहिए। इनका संबंध परमार्थ से है, अर्थ से नहीं। केवल आप लोग अर्थ से मतलब रखते हैं, यहाँ बोला है परमार्थ। इन सभी धर्मों का एक ही लक्ष्य है इनको पालन करने का कि हमें मोक्ष मिले। कर्मों की निर्जरा हो, कर्म बंध से हम बचें इस भावना पूर्वक अगर इन धर्मों का पालन होता है तो ये उत्तम हैं, आपको मोक्ष दिलाएंगे और अगर स्वार्थ भावना से करते हैं तो ये एकमात्र औपचारिकता है, एक दिखावा है, अपने स्वार्थ की सिद्धि है, थोड़ी बहुत नकल है धर्म की, कभी अकल आई तो

सुधार भी हो जाए, लेकिन अकल आ भी नहीं पाती है कई बार। ऐसे भी उपादान वाले लोग रहते हैं जो जीवन भर स्वार्थ से ही धर्म करते रहते हैं, परमार्थ को जोड़ते ही नहीं है इसलिए भइया जिस समय परमार्थ इनके साथ जुड़ जाएगा तो समझो कि सच्चे-अच्छे ढंग से अच्छी भावना से, उत्तम रीति से इन धर्मों का पालन किया है। प्रत्येक आत्मा को समान भाव से देखो। सभी को समान भाव से देखकर के इन धर्मों का पालन करो। इनसे क्षमा मांगना है, उनसे नहीं मांगना है ऐसा नहीं है। सभी लोग, जीव मात्र हमारी दृष्टि में भेदभाव से रहित हों, जैसे कि हमारे बन्धु वर्ग हैं वैसे ही सब जीव हैं। तभी तो **सत्वेषु मैत्रीं** बोलते हैं, मैत्रीं-भाव सभी में समान रूप से होना चाहिए, यह क्षमा धर्म अपने जीवन में तभी आएगा, नहीं तो बहुत मुश्किल है।

बाहरी पर-पदार्थों अर्थात् परिग्रह की लालसा, बड़प्पन आदि मान, ईर्ष्या, किसी की उन्नति सहन न होना, तामसिक भोजन (अधिक जीव उत्पत्ति के भोजन जैसे मांसाहार, कंद आदि अभक्ष पदार्थ, ज्यादा मिर्च मसाले का भोजन) आदि के कारण क्रोध अधिक आता है। क्रोध के कारण हित अहित का विवेक नहीं रहता है। क्रोध अज्ञानता से शुरु होता है और पश्चात्ताप पर जा करके समाप्त होता है। यह हम सबके जीवन का अनुभव है कि क्रोध के प्रारम्भ में अज्ञानता, अविवेकपन होता है और समापन पश्चात्ताप में होता है। अन्त में स्वयं दुःखी होते हैं, वेदना स्वयं होती है। कारण सामने होते हुए भी जो आत्मा दूसरे को क्षमा कर देती है, सोचती है कि कुछ होगा तो किसका होगा अपना ही तो होगा। मेरे कर्म के बिना नहीं होगा। मेरा पाप कर्म उदय में आ रहा है, इसलिए ऐसा घट रहा है। चलो अच्छा है, कर्ज चुक जायेगा और क्या करेगा वह। शरीर का कुछ करेगा, तो शरीर से मैं मोह छोड़ देता हूँ। शरीर तो कई बार ऐसा मिला और छूट गया, इसलिए मैं इससे मोह छोड़ता हूँ और यदि इससे मेरे मान में हानि होती है तो मान भी तो एक कषाय है। ये कर्म के संयोग में होती है, अगर उसका भी घात होता है तो मेरी आत्मा का कोई घात नहीं होता है। इस प्रकार विचार करके क्षमा कर देते हैं और समता भाव के साथ उपसर्गों को भी सहन कर लेते हैं ऐसे ही साधु जन के पास ही ये उत्तम क्षमा धर्म आता है। तो हम लोग ऐसे उत्तम क्षमा धर्म के पालन करने के लिए हमेशा विचार करते रहें कि ये क्षमा धर्म अपने जीवन में कब आये।

कर्नाटक प्रदेश की बात है विहार करते हुए हम कर्नाटक के एक नगर

आलंद में पहुँचे। जहाँ अहिंसा का प्रोग्राम लोगों ने रखा था जिसमें अहिंसा धर्म सम्मेलन किया जा रहा था। हिन्दू धर्म के भी दो साधु आये, संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। वे जैन धर्म को बहुत उत्कृष्ट धर्म मानते थे। जैन धर्म जैसी अहिंसा और किसी धर्म में नहीं है ऐसा उन्होंने बतलाया। एक दृष्टांत उन्होंने जैन मुनि महाराज का सुनाया। बहुत अच्छा उदाहरण है इससे हम समझें कि साधु लोग कितनी क्षमा धारण करते हैं। विशिष्ट बात तो यह है कि अपना संयम, अपना नियम, अपनी तपस्या, अपना त्याग, कभी किन्हीं शरीर आदि के निमित्त से अथवा और भी कोई अपने सुख के कारण इनका त्याग नहीं करते हैं क्योंकि ये जीवन के आधार हैं। ये नियम, संयम अपने जीवन के आधार हैं, ये गए तो सब कुछ गया। शरीर चला जाय तो फिर मिल जाता है, यह तो बाधक ही है मोक्ष में। इसलिए वे आत्मा की चिन्ता ज्यादा करते हैं। इस बात को मैं आपके सामने कह रहा हूँ। एक बार तो पीड़ा होगी आपको कि ऐसा क्यों हुआ, लेकिन दूसरी तरफ आप जब सुनेंगें तो आपकी अपने साधुओं के प्रति श्रद्धा और प्रगाढ़ होगी।

एक गाँव था, वहाँ पर कई बार जंगलों से मुनि महाराज जी आते थे। कब आ जाएं अतिथि; नहीं मालूम। प्रतिदिन श्रावक लोग स्वयं के लिए चौका लगाते हैं न कि मुनि महाराज जी के लिए। लोगों की धारणा यह भी रहती है कि हमने इन महाराज जी को उन महाराज जी को चौका लगाया यह कहना बिल्कुल गलत है, ऐसी जो भावना रखते हैं, महाराज जी वहाँ आहार के लिए नहीं जाते हैं, इन भावनाओं को निकाल देना चाहिए उद्दिष्ट होता है महाराज जी के लिए चौका नहीं होता अपने लिए स्वयं के हेतु होता है। ऐसा कह सकते हैं कि वे महाराज जी जब आये थे, तब हमने कुछ दिनों के लिए शुद्ध आहार करने का नियम लिया, सो अपने लिए चौका लगाया था। तो वहाँ सभी लोग पड़िगाहन के लिए खड़े होते थे। कभी भाग्य रहा तो महाराज जी आ जाते थे जंगल से। आकर के आहार कर पुनः जंगल की ओर चले जाते थे।

बहुत दिनों की प्रतीक्षा के बाद एक दिन मुनि महाराज जी का आना हुआ। सब लोग पड़िगाहन के लिए खड़े थे, भक्ति भाव पूर्वक मुनिराज जी का पड़िगाहन किया गया। गृह प्रवेश कर भोजन शाला में प्रवेश कराया गया। उसके पश्चात् पाद प्रक्षालन किये गये। पूजन करने हेतु पूजन की थाली लायी गई जिसमें बहुत ही

अच्छी अष्ट मंगल द्रव्य सुसज्जित थी। पूजन की थाली में एक विशेष वस्तु थी रत्नदीप। वह जैसे अग्नि जल रही हो ऐसा प्रतीत हो रहा था, पूजा मुनिराज जी की की गयी, पूजा होते-होते महाराज जी ने सब कुछ देख लिया। पूजन के उपरांत सारे बर्तन पूजन से उठाकर दरवाजे के बाजू में रख दिये गये। सभी लोग हाथ धोने चले गए, जो हाथ धो चुके थे वे सामान निकालने लगे। इतने में घटना घट गयी, वह जो रत्नदीप था चला गया।

सब की दृष्टि पड़ी, अरे रत्नदीप कहाँ गया? अभी तो यहीं रखा था। कौन ले गया? अभी तो बाहर से कोई आया नहीं है घर में। महाराज जी ही बाहर से आये हैं और तो कोई नहीं आया है। चारों और देखने में लग गये, जब चारों ओर देख लिया वह नहीं मिला। फिर अब तो महाराज जी के ऊपर शंका हो गयी। क्या हुआ? महाराज जी ने लिया, कैसे लिया? क्या कोई इनके पास तंत्र-मंत्र है, जिससे गायब कर दिया। खुसर-फुसर होने लगी सहन नहीं हो रहा था। अब क्या? महाराज जी का आहार शुरु कराना है, पर यह विकल्प हो गया तो अश्रद्धा भाव आने लगा। परन्तु ऐसा अश्रद्धा भाव आना नहीं चाहिए। जब तुमने पूर्ण श्रद्धा भक्ति के साथ उनका पड़िगाहन किया है, तो ये भाव आना नहीं चाहिए। उस समय जबकि भाव यह आना चाहिए था कि जो भी कारण रहा हो बाद में देखेंगे। महाराज जी बड़े ज्ञानी होते हैं, बाद में उनसे स्वयं चर्चा कर लेंगे। लेकिन बीच में ही लोभ के वशीभूत होकर महाराज जी के प्रति अश्रद्धा भाव उत्पन्न हुआ। जबकि श्रद्धा, संतोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा, सत्य ये दाता के सात गुण होते हैं। इनमें प्रथम गुण तो श्रद्धा ही है। ये सच्चे मुनि हैं जिन्हें हम आहार दे रहे हैं, इनके प्रति हमारी दृष्टि समान है, अच्छी भावना से सप्त गुणों से युक्त नवधा भक्ति सहित आहार दिया जाता है।

श्रद्धा तो थी लेकिन बीच में किसी निमित्त से वह गायब हो गयी। मतलब अटूट श्रद्धा नहीं थी। अब क्या करें? चलो महाराज जी से पूछ लेते हैं। महाराज जी रत्नदीप कहाँ गया? महाराज जी थोड़ा मुस्कराये, कुछ बोले नहीं, कुछ इशारा भी नहीं किया। जबकि उन्हें सब कुछ मालूम है कहाँ गया रत्नदीप, लेकिन मौन हैं। वैसे तो जब तक आहार पूरा नहीं हो जाए तब तक मौन रहता है। और यदि किसी कारण वश आहार नहीं भी हुआ तो भी उस घर में नहीं बोलते, बाहर आकर या जब अंजलि छोड़ देते हैं, अपना जो आहारचर्या का संकल्प या वृत्तिपरिसंख्यान लिया

था उसे त्याग देते मतलब कि अब विधि नहीं मिली इसलिए आज आहार नहीं लेगें ऐसा निर्णय हो जाय तो फिर मौन पूरा हो जाता है। अभी तो मौन था उनका और फिर उन्होंने सोचा कि अब तो उपसर्ग का अवसर आ रहा है, ऐसे उपसर्ग के अवसर पर तो हमें और मौन रखना चाहिए। जब तक यह उपसर्ग दूर न हो जाए तब तक मैं मौन धारण करता हूँ, आहार जल का भी त्याग करता हूँ। अब समस्या ऐसी है कि उठ करके जायेगें तो अच्छा नहीं, क्या होता है देखते हैं। थोड़ी देर बैठे रहते हैं और देखते हैं अगर इनको समझ में आ जाता है तो ठीक हैं, नहीं तो यहाँ से निकल जाऐंगे।

मुनि महाराज जी ने चारों ओर बैठे ही बैठे देखा तो सब लोग चारों ओर खड़े हैं, ये निकलने भी नहीं देंगे। अब आजू बाजू, पास-पड़ौस के लोग भी इक्ट्ठे हो गए। इस दृश्य के लिए देखने लगे कि क्या चल रहा है यहाँ। परिवार के लोगों को अब सहन नहीं हो रहा था तो साहस कर उन्होंने जोर से पूछा-क्यों महाराज जी आप बतातें नहीं हैं? आपको सब मालूम है, आपके अलावा और कोई भी नहीं आया यहाँ पर, आपने ही कुछ किया है यहाँ पर। धीरे-धीरे वे सब लोग प्रारम्भ हो गए, इतना ही नहीं देखो ये आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी की परिभाषा कि ऐसा उपसर्ग भी सामने आ जाए तो भी वे मुनिराज क्रोध नहीं करते हैं, वे क्षमा ही करते हैं। ठीक मेरा कर्म निकल रहा है, मैं कर्जा चुका रहा हूँ, कुछ नहीं बोलना है, देखते हैं, मेरा कर्म कब तक चलता है। मैंने कोई गलती नहीं की। और वे मुनिराज शांत भाव से बैठे रहे वहाँ।

परिवार के लोग क्रोधावेश में आग बबूला हो रहे थे, इतना ही नहीं उनमें से एक ने डंडा उठाया और महाराज जी को मारने ऊपर उठा लिया फिर भी महाराज जी शांत भावपूर्वक बैठे हैं। एक डंडा जोर से मार दिया वे फिर भी शांत है। एक डंडा और मार दिया उन्होंने सोचा कर्म निकल रहे हैं, कर्मों की निर्जरा हो रही है। इसके बाद तो डंडे से इतना मारा कि आखिर वह डंडा टूट गया और टूट कर डंडे का एक भाग दरवाजे के बाहर एक पेड़ पर बैठे पक्षी को लगा। ज्यों ही उस डंडे का एक भाग उस पक्षी को लगा त्यों ही वह रत्नदीप उस पक्षी की चोंच से नीचे गिरा। जैसे ही रत्नदीप नीचे गिरा। आवाज आ गयी, अरे! रत्नदीप तो वहाँ है, लोगों ने ऊपर देखा तो एक मयूर पक्षी उस वृक्ष पर बैठा था, उस मयूर पक्षी के चोंच में वह रत्नदीप था। सभी आश्चर्य चकित रह गये, ये क्या हो गया? हमने यह क्या कर

दिया? महाराज जी को इतने डंडे मारे और रत्नदीप कहाँ था? रत्नदीप तो था मयूर की चोंच में। कब मयूर पक्षी आया किसी को भी नहीं मालूम था, क्योंकि उस समय कोई हाथ धोने में व्यस्त थे, तो कोई सामान निकालने, शोधने में लगे थे, उसी समय मयूर पक्षी आया और उसने रत्नदीप को उठा लिया, अपनी चोंच में दबा लिया फिर वृक्ष पर बैठ गया।

मुनि महाराज जी ने उस मयूर पक्षी को देख लिया था कि वह आया और उसने रत्नदीप चोंच से उठाया और उठाकर पेड़ पर जाकर बैठ गया है। फिर भी वे नहीं बोले; क्यों? आप देखिए उन मुनिराज के एक साथ कितने धर्मों का पालन हो रहा है। सभी धर्मों के साथ क्षमा जुड़ी है और क्षमा के साथ सभी धर्म जुड़े हैं। यहाँ पर आपको अनुभव होगा। अगर मुनिराज जी उस समय बोलते तो उनका मौन खण्डित होता ही, जो वे उपसर्ग सह रहे थे, कर्मों की निर्जरा रुक जाती, वो कर्ज नहीं चुका पाते कर्मों का। मुख्य बात यह भी है कि क्षमा धर्म का पालन तो हो ही रहा था, साथ ही उनका संयम धर्म भी जुड़ा हुआ था - इंद्रिय संयम प्राणी संयम। अगर वे उस तरफ इशारा करते तो उस पंक्षी को डंडे पड़ते, यह हिंसा होती और साधु हिंसा का भाव भी नहीं कर सकते। ये लोग उस पक्षी को मारेगें, उसका जीवन जाएगा, इससे अच्छा हो कि हम अपने ऊपर स्वयं डंडे की मार सहन कर लें। देखो! कैसा जीवन होता है मुनि का; आप विचार करें।

ऐसा जीवन निस्वार्थी जीवन है इसलिए तो 'उत्तम' विशेषण लगा है जो परमार्थ के लिए है स्वार्थ के लिए नहीं। देखो अपने जीवन की उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी चिंता उस पक्षी की है। संयम का पालन करने के लिए प्राणी संयम, प्राणी की हिंसा न हो जाय, इसलिए उस तरफ देखा तक नहीं कि थोड़ा सा ऐसे देख भर लें जिससे इनको समझ में आ जाय, इशारा भी नहीं, कि कोई कुछ समझ सके, कुछ भी तो नहीं किया मात्र डंडे सहते रहे। न जाने कितने और डंडे पड़ते या पूरा आत्मघात भी हो जाता, तो भी वे उस प्राणी की ओर संकेत करने वाले नहीं थे। उनका कर्ज इतने में चुक गया, पहले का कर्म निकल गया। उस प्राणी पर एक लकड़ी का टुकड़ा पड़ा, पीड़ा तो नहीं हुई होगी लेकिन मुनिराज जी ने तो कुछ नहीं किया था वह तो डंडा टूटने से एक टुकड़ा लकड़ी का उसको लगा और रत्नदीप उसके मुख से नीचे गिर गया तथा सारा रहस्य खुल गया।

यह सारा रहस्य खुलते ही सब लोग रोने लगे, ये हम लोगों ने क्या कर दिया? एक रत्नदीप के पीछे, जिनकी कोई गलती नहीं थी, इतने संयम के धारी हैं कि उस प्राणी को पीड़ा न हो इस कारण स्वयं उपसर्ग, पीड़ा सहते रहे। ऐसा निर्मल हृदय है इनका। ऐसे मुनि महाराज जी हमारे घर पधारे थे, उनके चरण हमारे घर में पड़े थे हमारा घर पवित्र हो रहा था लेकिन हमने ये क्या अनर्थ कर डाला, मुनि महाराज जी पर कितना उपसर्ग किया, कितने डंडे मारे अब कर्म हमें कितने डंडे मारेगा, कौन सी गति में जाएंगे हम लोग दुर्गति में कहाँ स्थान मिलेगा हमें नरक में या निगोद में। इस पाप का क्षय कहाँ होगा? क्रोध के कारण विवेक शून्य हो गए और इतना बड़ा अक्षम्य अपराध कर दिया। सच बात है क्रोध अंधा होता है और अंधा क्या कर जाए कुछ कहा नहीं जा सकता है। उन्हें विवेक शून्य, चेतना शून्य बना दिया तभी तो अक्षम्य अपराध कर बैठे। गुरुओं के प्रति कितनी श्रद्धा रखनी चाहिए, हम विचार नहीं कर पाते हैं। अश्रद्धा भाव से हम न जाने क्या-क्या कर लेते हैं। अपने स्वार्थ से उनकी निन्दा, अवज्ञा, तिरस्कार कर देते हैं लेकिन इस रहस्य को नहीं समझ पाते हैं कि उनके अन्दर कितना महान धर्म विद्यमान है। दश धर्मों का पालन करते हैं, एक धर्म नहीं सभी धर्म आपस में जुड़े हुए हैं।

क्षमा का यह प्रकरण चल रहा है, संयम आ गया, त्याग आ गया, आकिंचन्य आ गया, सारी चीजें आ गयी। उन्होंने कोई मान नहीं किया कि मुनि होने पर भी हमें डंडे पड़ रहे हैं। कोई मायाचार नहीं किया कि कोई थोड़ा इशारा कर दूँ। देखो क्षमा भी है, मान का अभाव है तो मार्दव भी है, मायाचार भी नहीं कि थोड़ा छल कर लूँ, बोलूगाँ नहीं, इशारा तो कर दूँ। नहीं लोभ भी नहीं आया कम से कम आहार तो मिल जाएगा आज। सब सत्य भी है, लेकिन सत्य उसी का नाम है कि किसी प्राणी को कष्ट न हो जाय ऐसे वचन नहीं कहना इसका नाम सत्य धर्म है। वचन मात्र मुख से बोले जाएं ऐसा नहीं है,संकेत इशारा भी तो वचन हैं। कर सकते थे फिर भी नहीं किया। दूसरों को बाधा उत्पन्न करने वाले वचन भी नहीं बोले उन्होंने यह सत्य धर्म है। तप भी है ये तपस्या है उनकी, कि काय क्लेश हो रहा है, शरीर को कष्ट हो रहा है सह रहे हैं क्योंकि अपने संयम की विराधना न हो और आगे त्याग है कि हिंसा का त्याग किया हुआ है, अहिंसा महाव्रत लिया है, वो भी पालन कर रहे हैं। आकिंचन्य शरीर से निस्पृह शरीर भी मेरा नहीं है ऐसा चिन्तन

करके बैठे थे, आकिंचन्य का भी पालन हो रहा है और थोड़ी देर को ''ब्रह्मणिचर्येति ब्रह्मचर्यः'' भी हो गया, सब सहते-सहते आत्मा में लीन हो गए कि शरीर मेरा नहीं है। ऐसा सोचने पर ही तो उत्तम ब्रह्मचर्य की प्राप्ति हो जाती है। अगर वे यह सोचने लग जाते कि शरीर को कुछ बाधा हो रही है, मेरे शरीर का घात हो रहा है, उससे मोह नहीं छूटता है तो ब्रह्मचर्य में लीन नहीं हो सकते। केवल स्त्रियों का त्याग करना, कुशील का त्याग करना मात्र यह ब्रह्मचर्य नहीं है। ये तो बहुत पहले हो जाता है। यह तो ब्रह्मचर्य व्रत लेते समय एक ब्रह्मचारी के हो जाता है पहली प्रतिमा लेते समय तथा सातवीं प्रतिमा लेते समय पूर्ण रूप से हो जाता है। ये उन सामान्य लोगों का नहीं है ये तो मुनियों का ब्रह्मचर्य महान ब्रह्मचर्य है। मुनियों के अठारह हजार प्रकार के शील होते हैं। कितने महान होते हैं मुनि देखो।

अभी तक तो रत्न की चिन्ता थी, अब अपने जीवन की चिन्ता हो गयी। ये मुनि महाराज जी हैं, इतने महान साधक हैं इन पर ऐसे उपसर्ग किया है। इसका फल सामान्य नहीं होगा। कहाँ जाएंगे हम, निश्चित रूप से नरक, निगोद के दुख ही अब सहना है और कोई दूसरा दुःख नहीं है। हमने उनकी अवज्ञा की है, उनके प्रति ऐसे कठोर शब्द कहे हैं, अब क्या होगा? इसी जीवन में न जाने और क्या होगा? बहुत सारे ऐसे उदाहरण देखे हैं सुने हैं। श्रीपाल की कथा सुनी है थोड़े से अपशब्द कहे थे कहे क्या थे नग्नता देखकर मुनियों की हँस भर दिए थे, जिससे अगले जीवन में कुष्ठ जैसा भंयकर दुःखदायी रोग हुआ था उन्हें। हमें तो कभी भी सद्गुरुओं की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए थी। ये पद बहुत कठिन है, पंच परमेष्ठी का पद पाना ये बहुत कठिन है। जिन्होंने पा लिया वे तो इस संसार से तिर गए। और हमने ये क्या अधर्म कर डाला?

फिर क्या था, आत्म ग्लानि से मन भीग रहा था। नेत्रों से अश्रुओं की धारा बहने लगी पैर पकड़ कर मुनिराज जी के चरणों में झुक गए। अश्रुओं के जल से मुनिराज जी के चरणों का पाद प्रक्षालन होने लगा, मुख से बार-बार यही कहने लगे कि हमें क्षमा करो, क्षमा करो महाराज जी और चरणों को पकड़े रहे। मुनिराज ने उपसर्ग की स्थिति में आहार का तो त्याग कर ही दिया था, उपवास ले लिया था मन ही मन में। अब मुनिराजजी वहाँ से उठते हैं और जाने के लिए संकेत करते हैं। वे लोग कहते हैं नहीं महाराज जी हम आपको नहीं जाने देंगे ऐसे, आप तो आहार

करके ही जाएंगे यहाँ से। सब घर के लोग रोने लगे, गाँव के लोग भी रोने लगे और कहने लगे हमारे गाँव का ही कुछ बिगाड़ न हो जाए, सारे गांव के लोगों को इसका फल मिलेगा तो क्या होगा? आप क्षमा करिए। मुनिराज जी कहते हैं कि क्षमा कर दिया मैंने। सभी लोग कहते हैं नहीं, क्षमा करिए आप प्रायश्चित्त दीजिए। जो कुछ प्रायश्चित्त आप देंगे हम पालन करेंगे।

मुनिराज जी कुछ बोले बिना ही चल देते हैं जंगल की ओर। उस परिवार का मुखिया हे महाराज जी, हे महाराज जी रुकिए, हम नहीं जाने देंगे आपको। वह बार-बार पैरों को पकड़ लेता है। महाराज जी आगे बढ़ते चले जाते हैं जंगल की ओर। वह व्यक्ति भी चलता जाता है। जंगल में पहुँच कर मुनिराज जी गुफा में एक शिला पर बैठ जाते हैं और कुछ भी नहीं बोलते हैं। वह व्यक्ति भी वहाँ बैठ जाता है, और सोचता है कि अब कितना बड़ा प्रायश्चित्त होगा इस कृत्य का। महाराज जी के चरणों में कौन सा प्रायश्चित्त लूँ। क्यों न इस जीवन में वह प्रायश्चित्त करूँ, जिन पदार्थों के पीछे मैं विभाव में चला गया, वे पदार्थ, वे वस्तुएँ जो विभाव का कारण हैं, उन सबको छोड़ दूँ, तभी मुझे स्वभाव की प्राप्ति होगी। मतलब जो क्रोध आया है उसमें निमित्त परिग्रह ही बना है। वह परिग्रह ही विभाव का कारण बना है। जैसे कि दूध को उबलने में कारण बनती है अग्नि। अग्नि को हटाते ही दूध स्वभाव में आ जाता है। ऐसे ही हम भी इस परिग्रह को छोड़ देगें तो नियम से स्वभाव की प्राप्ति हो सकेगी; नहीं तो यह परिग्रह न जाने ऐसे ही कितने भवों से यह क्या-क्या अनर्थ कराता रहा है। क्या-क्या नहीं कराया होगा इसने, अभी तो जैन कुल उत्तम परिवार मिलने पर भी अवज्ञा कर डाली है। कहीं और भी रहे होंगे किसी जाति आदि में तो वहाँ कितनी अवज्ञा की होगी सच्चे धर्म की। अब इस जीवन में कर्मों को शेष नहीं रहने देना है। तभी मैं ऐसे पाप को निकाल सकता हूँ, नहीं तो ये पाप ऐसे निकलने वाला नहीं है। इन कर्मों को काटकर इनसे मुक्ति पाना है, जिससे मेरे जीवन में ऐसा कभी भी न घटे। ये जन्म मरण का चक्कर ही दूर हो जाय। वैराग्य धारा प्रवाहित होने लगी और उस व्यक्ति ने वहीं पर सारे वस्त्रों का त्यागकर केशलोंच कर मुनिराज जी से दीक्षा का निवेदन किया कि हे मुनिराज! मुझे दीक्षा प्रदान करें। दीक्षा ग्रहण कर मौन व्रत धारण कर लिया और कर्म काटने लग गया। देखो भइया इससे बड़ा उत्तम प्रायश्चित्त और कोई नहीं था जो उन्होंने किया।

भोपाल में जब वर्षायोग पर प्रवास था उस समय मुख्यमंत्री जी आये थे उन्होंने अपने शब्दों में कहा था ''ऐसे मुनियों की त्याग-तपस्या सराहनीय है। जिनके पास न तो कोई थैला है, न कोई जेब है, न कोई वस्त्र है, न पैसा, न कुछ वैभव है। निस्वार्थी मुनि होते हैं, वे अपनी तपस्या निस्वार्थ भावना से करते हैं, उन्हें किसी वस्तु की चाहना नहीं होती है।'' सोचिए जो इतने ऊपर गए हैं, वो भी तो कुछ जानते हैं। इतने पढ़े लिखे हैं ज्ञानी बनते हैं, वे भी जिनदर्शन की महानता, त्याग को जानते हैं उसकी प्रशंसा भी करते हैं।

करुणा-वात्सल्य दिगम्बर गुरुओं में होती है। वे अपने प्राण दे सकते हैं पर किसी जीव को नहीं मारेगें। शरीर को कितनी भी बाधाएं दें, कितने ही उपसर्ग हो जाएं उनके अन्दर कलुषता की उत्पत्ति नहीं होती है, उनमें अपूर्व क्षमा होती है। क्रोध के अभाव में क्षमा होती है। सुकौशल, सुकुमाल, गजकुमार, यशोधर, अकंपनाचार्यादि 700 मुनिराज, क्षमामूर्ति भगवान पार्श्वनाथ, भगवान महावीर, देशभूषण-कुलभूषण मुनिराज, दशरथ, मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र, आदि महान पुरुषों तथा सीता, सोमा, अनङ्गसरा, अनंतमती, मैना सुंदरी, द्रोपदी, सुभद्रा, चेलना आदि सतियों ने क्षमा धर्म का पालन किया।

आचार्य वीरसेन स्वामी धवला ग्रंथ 12/8 में कहते हैं कि -

हृदयदाहाङ्गकम्पाक्षिरागेन्द्रियापाटवादि निमित्त जीव परिणामः क्रोधः ।

मतलब हृदय दाह, अंगकम्प, नेत्ररक्तता और इन्द्रियों की अपटुता आदि के निमित्तभूत जीव के परिणाम को क्रोध कहा जाता है। आँखों का लाल होने लगना, भौहें टेढ़ी होने लगें, चेहरा तमतमा जाऐ, हौंठ फड़ फड़ाने लगें और शरीर से पसीना बहने लगे तो ये क्रोध के बाह्य लक्षण हैं। अपशब्दों का प्रयोग गाली गलौच, मारपीट पर उतारू हो जाना, यहाँ तक कि मरने मारने को भी तैयार हो जाता है। माता-पिता, स्त्री, पुत्र, पुत्री, बालक, स्वामी, नौकर तथा अन्य मित्र, कुटुम्ब इत्यादि किसी को भी नहीं छोड़ता। तीव्र क्रोध में विष खाकर, शस्त्र से छुरी या चाकू, पिस्तौल आदि से अपनी आत्म हत्या कर लेने में पीछे नहीं हटता। पर्वत से नदी आदि में गिर कर प्राण भी दे देता है। अगर कोई व्यक्ति उसको समझाने भी जाये तो उसका भी घात करता है। जिन व्यक्तियों की क्रोध प्रकृति होती है वे अन्य किसी

व्यक्ति का उपकार, दया या अन्य सेवा सुश्रुषा भी नहीं करते। बड़े-बड़े महान् तप से युक्त तपस्वियों को भी इस क्रोध ने नहीं छोड़ा है। चाहे वे द्वीपायन हों या परशुराम जैसे तपस्वी आदि का क्रोध जगत में प्रसिद्ध हुआ है। आचार्यों ने क्रोध के विषय में कहा है कि-

क्रोधो नाशयते धैर्यं, क्रोधो नाशयते श्रुतम्।
क्रोधो नाशयते सर्वम्, नास्ति क्रोध समो रिपुः।।

मतलब क्रोध धैर्य को नष्ट कर देता है, क्रोध शास्त्र ज्ञान को नष्ट कर देता है। क्रोध सभी कुछ नष्ट कर देता है, क्रोध के समान कोई शत्रु नहीं है। क्रोध विकार उत्पन्न करने में मदिरा का मित्र है। यह क्रोध धैर्य को नष्ट कर डालता है, क्षण भर में बुद्धि को बिगाड़ देता है, क्रोध से प्रीति नष्ट हो जाती है, शरीर शिथिल कर देता है, धर्म को ध्वस्त कर देता है। क्रोध संतोष, शांति, क्षमा आदि गुणों का नाश करने के लिए दावानल के समान है। क्रोध के अन्दर एक ऐसा पदार्थ पैदा होता है उससे हार्टअटैक, ब्लेड प्रेशर आदि होता है। क्रोध से शक्ति क्षीण होती है, इससे अनेक रोगों को आमंत्रण मिलता है। कलह का जन्म क्रोध से होता है। पाप का आचरण व्यक्ति इसी क्रोध से करता है। जब तक क्रोध भीतर रहता है तब तक सारी क्रिया अस्त-व्यस्त रहती है। उत्कृष्ट व्यक्ति का क्रोध क्षणमात्र का, मध्यम का दो घड़ी और जघन्य का एक दिन रात का होता है। क्रोध बड़ा घातक है, इसके माध्यम से आपका स्वास्थ्य भी जाता है, धन भी जाता है और धर्म भी चला जाता है। क्रोध को हमें जीतना है। क्रोध पर विजय प्राप्त करना है।

भइया क्रोध को जीतने के लिए जिससे क्रोध आ रहा है प्रथम उस द्रव्य को परिवर्तित किया जाये, दूसरा क्षेत्र को परिवर्तित कर देना चाहिए, तीसरा काल परिवर्तित कर देना चाहिए, चौथा भाव अपने परिणामों को परिवर्तित कर लें। इसके साथ ही जिसके प्रति आस्था है पूज्यता है उससे भी क्रोध का शमन होगा तथा जिससे आप डरते हैं उनके स्मरण से या याद रखने से जैसे पापों, पुलिस, भगवान, गुरु, जिनवाणी से डरते हैं, उन्हें याद कर लें तो उसी समय क्रोध का शमन होगा। क्रोध को यदि जीतना है तो जब आपको क्रोध आ रहा है उस समय आपके हाथ में कोई हथियार आदि हैं तो पहले उन्हें दूर कर दो, खड़े हैं तो बैठ जाओं, बैठे हो तो

आराम से लेट जाओ, आँखें बंद कर लो, पानी का गिलास भरकर पीलो, पंचनमस्कार मंत्र पढ़ लो तो क्रोध हावी नहीं होगा बहुत जल्दी भाग जायेगा। जिन्होंने क्रोध को जीता वे ही अपने कर्म शत्रुओं को जीतकर निर्वाण पद को प्राप्त कर सके अन्यथा नहीं।

जो क्रोध को पी जाता है वह होता है महान।
जो क्रोध को नहीं पीता, वह कमजोर है इंसान।।

क्रोध के कारण पाप बढ़ते चले जाते हैं। यह खटाई से बढ़कर अचार जैसा बन जाता है। इसलिए क्रोध को नष्ट करने का उपाय करें। पार्श्वनाथ भगवान, महावीर भगवान आदि महान आत्माओं को याद रखें। मुनियों के पास क्षमा धर्म होता है। हम ईंट का जबाब पत्थर से देकर उस कर्ज को बढ़ा लेते हैं।

एक पति-पत्नी घर में बहुत झगड़ा करते थे। झगड़े के कारण धर्म आदि कुछ भी नहीं कर पाते थे। कारण कि उस घर में पति रात्रि में भोजन करता था और गरम-गरम विविध प्रकार के भोजन की रोज-रोज फरमाइश करता था, जबकि पत्नी रात्रि में पानी तक भी नहीं पीती थी। रोज उनके घर में विवाद होता और झगड़ा बढ़ जाता। इस बात से पत्नी बहुत परेशान रहती। सोचती क्या करूँ। एक दिन मंदिर जी में एक पण्डित जी आये, वे शास्त्र वाचन कर रहे थे। महिला भी मंदिर पहुँची शास्त्र वाचने के पश्चात् उसने अपनी स्थिति व्यक्त की और पण्डित जी से उपाय पूछा। पण्डित जी ने बात सुनकर उसे एक दवा दी और कहा कि इसे रात्रि में जब पति आयें उससे थोड़ी देर पहले लेनी है तथा उसे मुख में ही रखना है। उसने कहा हम तो रात्रि में पानी भी नहीं पीने की साधना करते हैं फिर दवा कैसे लेंगे। पण्डित जी ने कहा यदि शांति चाहिए तो उसे लेना ही पड़ेगा भले ही माहोल शांत होने पर मुख से बाहर निकाल देना। वह मान गयी कि कैसे भी तो हो शांति घर में। जब रात्रि के समय पति महोदय घर आये तो दरवाजा खटखटाया। पत्नी ने दवा लेकर दरवाजा खोल दिया। पति अन्दर जैसे ही आया तुरन्त प्रश्नों की झड़ी लगा दी, पर आज पत्नी कुछ नहीं बोली। पति बोलकर सोच में डूब गया कि कहीं यह मंत्रों आदि का जाप तो नहीं कर रही है, शायद इसलिए नहीं बोल रही कुछ, ऐसा तो नहीं कि कुछ मेरे ऊपर इसका असर हो जाये। मैं चुप होकर भोजन कर लेता हूँ और उसने चुपचाप भोजन कर लिया। अब तो यह नित्य की बात होने लगी। पति आते

पर पत्नी कुछ नहीं कहती। धीरे-धीरे पति में परिवर्तन आने लगा और वह शाम को घर आकर भोजन करने लगा। शाम को पांच बजे जैसे ही वह घर आया तो पत्नी ने गरम-गरम भोजन परोस के दिया। इसके पहले तो भोजन रख भर देती थी पर बोलती कुछ नहीं थी। जब शाम को भोजन गरम मिला तो वह रोज शाम को जल्दी आने लगा। अब दवा भी खत्म हो गयी थी। पत्नी ने पण्डित जी से उस दवा के बारे में कहा कि इससे ऐसा लाभ हुआ आप और दवा दे दीजिए। पण्डित जी बोले अब दवा की जरूरत नहीं है वह तो शीशी में पानी भरकर दिया था जिसे पीने पर मौन रहे; वचन न निकलें। ऐसे ही जिस समय क्रोध आये मौन धारण करना चाहिए। मौन कलह को टालने का सरल उपाय है।

कोई व्यक्ति कितना भी झगड़ने के मूड़ में क्यों न हो यदि उसकी बात का कोई जबाब न दिया जाए तो अपने आप शांत हो जायेगा। आखिर वो अकेला कब तक लड़ेगा? इसलिए कलह की स्थिति में मौन धारण करने से चित्त भी शांत होता है। बोलना स्वर्ण है किन्तु मौन स्वर्ण निर्मित सुन्दर आभूषण है। वाद-विवाद से कलह होती है, कटुता बढ़ती है। जो सबको सह कर मौन धारण करता है, अपने कर्मों का ही विचार करता है वह निश्चिन्त जीवन जी सकता है। मौन बड़े से बड़े शत्रु को जीत लेता है।

आप सभी महात्मा गांधी के बारे जानते ही होंगे कि उनके जीवन पर जैन धर्म का बहुत ही गहरा प्रभाव था। गांधी जी के पास एक बार एक विशेष पत्र आया। गांधी जी ने उसे देखा और पढ़ा। उसे पढ़कर उन्हें क्रोध आया किन्तु वे सोचने लगे इसका जबाव शाम को लिखेंगे फिर थोड़ी देर बाद सोचा कि अब शाम को क्या कल ही लिखेंगे। फिर सोचा जिसने ऐसा पत्र लिखा उससे धर्म या अच्छी बातों की उम्मीद क्या होगी। कागज में पिन लगा था उसे निकाल कर उन्होंने रख दिया तथा उस कागज को रद्दी की टोकरी में डाल दिया। अपना कुछ प्रति उत्तर न पाकर कुछ समय बाद वह व्यक्ति स्वयं आ गया और आकर गालियाँ आदि अपशब्द कहने लगा। गाँधी चुपचाप सुनते रहे। अन्त में वह व्यक्ति स्वयं लज्जित हुआ और गाँधी जी से बोला आप महान व्यक्तित्व हैं हमने अपराध किया क्षमा करना इस पर भी गांधी कुछ नहीं बोले। गाली का प्रत्युत्त गाली कदापि नहीं है। अतः गाली का उत्तर शांति है उसे चुपचाप सुन लेना, सह लेना, पचा लेना है। उस

समय आत्म निरीक्षण, आत्म चिंतन, अन्तर्मन्थन करना चाहिए। गांधी जी ने थोड़ी देर बाद उसे पिन देते हुए कहा – यह बताइये यदि कोई किसी को वस्तु दे और वह न ले तो वह वस्तु उसी के पास रहती है न । मैंने आपकी वस्तु ली ही नहीं है यह पिन आपकी है इसे ले जाइये। यह सुनकर वह व्यक्ति गांधी जी के पैरों में झुक गया।

सच्ची क्षमा तो सबल की होती है, कमजोर की क्षमा क्षमा तो होगी पर उत्तम नहीं होगी। प्रतिकार करने की सामर्थ्य होते हुए भी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने भावों, परिणामों में समता/शांति रखना, सहन कर लेना सही क्षमा मानी जाती है।

क्रोध पीकर जो मुस्कराता है।
मान अपमान से वो ऊपर उठ जाता है।।
क्रोध पीकर क्षमा को जो अपनाता है।
आदमी से उठकर भगवान बन जाता है।।

क्रोध पर आपके जीवन में नियंत्रण होना चाहिए। सहन शीलता, समता, धैर्य और क्षमा का श्रेष्ठ गुण आपके अन्दर आना चाहिए। परिस्थितियों पर विचार करें, उन्हें टालना चाहिए स्वयं संभालना चाहिए। जवाब न देना भी उस वातवरण को शांत कर देता है। आत्म शुद्धि के ये रसायन हैं। अपने जीवन को पवित्र पावन बनाने का और इससे उत्तम रसायन कहीं मिलेगा नहीं। क्षमा अमृत का पान करें। अपने जीवन में क्षमा को आत्मसात करें तो शेष दिनों की यात्रा निरापद, निष्कंटक और आनन्दमय हो सके। क्षमा का धर्माचरण सभी के जीवन में आये यही शुभ भावना भाते हुए धर्म भावना शतक का पद्य कहते हैं :-

दूध रूप इस आतम को जब, क्रोध रूप वह अनल मिले।
स्व स्वभाव को छोड़े उबले, उफन; धूल में जहाँ मिले।।
क्षमा रूप जल बूँद पड़ें तो, स्व स्वभाव की ओर ढले।
क्रोधानल संपर्क हटा तो, ना विभाव की ओर ढले।। 3।।
संयोग मिले जब 'क' अरु 'ष' का, पूर्ण 'क्ष' अक्षर बनता है।
'क' का अर्थ यह आतम होता, 'ष' का अर्थ उत्तमता है।।
'मा' का अर्थ है जिनवाणी माँ, जो सबकी रक्षा करती।
ऐसी क्षमा माँ उत्तमात्मा, क्रोध मिटा रक्षा करती ।। 4।।

उत्तम मार्दव धर्म

मान का गलन–सुकोमल जीवन

मङ्गलाचरण

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्व तत्त्वानाम्, वंदे तद्गुण लब्धये ।।

दशलक्षण पर्व के दिनों में हम लोग क्रम से एक ऐसा प्रयास करेंगे कि एक दिन हम भी उन प्रभु जैसे अनन्त गुणों से सम्पन्न बन सकें। आज इसके लिए उत्तम मार्दव धर्म पर चर्चा कर रहे हैं। मनुष्य के विचार और व्यवहार में जो सहज नम्रता कोमलता रहती है उसे ही आचार्यों ने मार्दव धर्म की संज्ञा दी है। **मृदोर्भावो मार्दवम्** ये मार्दव की संक्षेप में परिभाषा है। जैसे कल कहा था। **क्रोधस्याभावः क्षमा** उसी प्रकार मृदुता कोमलता का जो भाव है वह मार्दव धर्म है। मार्दव का अर्थ मृदुता और उत्तम का अर्थ है श्रेष्ठ मतलब जहाँ श्रेष्ठ मृदुता है वही मार्दव धर्म है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि नामक ग्रंथ के नवम् अध्याय छठे सूत्र में कहते हैं–

जात्यादिमदावेशादभिमाना भावो मार्दवं मान निर्हरणम्।

मतलब जाति आदि मदों के आवेश वश होने वाले अभिमान का अभाव मार्दव है। जिस प्रकार नींव की आधार शिला के अभाव में भवन निर्माण होना, जड़ के अभाव में वृक्ष की स्थिति होना, मेघ के अभाव में जल वृष्टि होना असंभव है, उसी प्रकार दया के अभाव में मार्दव धर्म एवं सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होना असंभव है। मोक्ष की प्राप्ति विनम्रता व मृदुता में है। तो हमारे परिणाम कोमल और मृदु होने चाहिए यही मार्दव है। मार्दव धर्म का अर्थ मान कषाय का अभाव, विनम्रता का सद्भाव। मृदुता कैसे आती है और कठोरता कैसे आती है दो ही बातों को आज समझना है।

मृदुता का प्रबल शत्रु मान है इसे अहंकार, घमंड, मद या अभिमान भी कहते हैं। हमारे हृदय में जो कठोरता आती है उसका कारण मान कषाय है। मान कषाय से गर्व पैदा होता है जिसे मद बोलते हैं, उसी से हमारा हृदय कठोर बन जाता है। हम झुकना नहीं चाहते हैं, विनयशीलता को छोड़ देते हैं। हम किसी को कुछ नहीं समझते। अपने आपको सब कुछ समझते हैं, बस यही तो मान है ये मान कषाय ही तो मार्दव धर्म से विचलित कर देती है। मार्दव धर्म कोई दूर रहने वाली

वस्तु नहीं, ये तो आत्मा का गुण है। प्रत्येक आत्मा के पास यह पाया जाता है, लेकिन शक्ति रूप में भव्य इस मार्दव धर्म को अपने अन्दर रखते हैं। बीज के अन्दर जैसे वृक्ष की शक्ति छुपी रहती है वैसे ही हमारे अन्दर उत्तम मार्दव को प्राप्त करने की शक्ति छुपी है। हम लोग थोड़ा सा प्रयास करें, हमें कहीं दूर नहीं जाना है, अपने नजदीक ही वह वस्तु है। हम आज इस विषय को समझेंगे। उत्तम मार्दव धर्म कैसे प्रगट होता है इस विषय में आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी वारसाणुवेक्खा ग्रंथ में धर्मानुप्रेक्षा के अंतर्गत कहते हैं-

कुल रूप जादि बुद्धिसु, तव सुद सीलेसु गारवं किंचि।
जो णवि कुव्वदि समणो, मद्दवधम्मं हवे तस्स ।। 72।।

जो कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत और शीलादि के विषय में थोड़ा सा भी/किंचित मात्र भी गर्व नहीं करता है, उस श्रमण के पास मार्दव धर्म प्रगट होता है या वह मार्दव धर्म का धारी होता है। उत्कृष्ट ज्ञानी और उत्कृष्ट तपस्वी होते हुए भी जो मद नहीं करता, वह मार्दव रूपी रत्न का धारी है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य समंतभद्र स्वामी ने कहा है -

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मयमाहुर्गतस्मयाः ।। 25।।

यहाँ भी यही बात है ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, शरीर (रूप) इन आठों का आश्रय करके गर्वित चित्र जो होता है तो जो गर्व से रहित हैं ऐसे हमारे प्रभु ने इन्हें मद कहा है। मद से ही मान कषाय पुष्ट हो जाती है फिर मार्दव धर्म नहीं रहता। जब हम कोई बड़ी वस्तु देखते हैं तो हमारा मान खण्डित होता है। व्यक्ति अपने आपको सबसे बड़ा समझता है और दूसरे को हमेशा नीचा दिखाने की कोशिश करता है। दूसरे के अस्तित्व को कुछ समझता ही नहीं है। तो अपने से ज्यादा श्रेष्ठ वस्तु जब हम देखतें हैं तब हमारा मान खण्डित हो जाता है।

आपको मालूम हो पहले मंदिरों के दरबाजे बहुत छोटे बनाये जाते थे, जिससे कि भक्तगण झुक करके विनय पूर्वक प्रभु के चरणों में जायें और वहाँ जाकर के विनीत होकर के प्रभु की भक्ति करें और उनके गुणों की उपलब्धि करें। आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी ने मूलाचार आदि में और शिवकोटि महाराज ने भगवती आराधना में कहा है कि ''विनय मोक्ष का द्वार है, विनय से ही संयम है, विनय से ही

तप है, विनय से ही ज्ञान है, बिना विनय के न तो ज्ञान है, न संयम है, न तप है और विनय के द्वारा ही आचार्य आदि सर्व संघ एवं पंचपरमेष्ठियों की आराधना संभव है, घमण्ड के माध्यम से कभी भक्ति पूजा, स्तुति, अर्चना, उपासना आदि कार्य नहीं किये जा सकते।'' यदि हम लोग विनय ही नहीं रखेंगे तो मार्दवधर्म की प्राप्ति संभव नहीं है। प्रभु के पास जाने के लिए विनय के साथ जाते थे। पर आज तो सब कुछ गड़बड़ हो गया। दरवाजे बहुत बड़े-बड़े बनने लगे। ड्रेस ऐसी आ गयी जिससे पश्चिमी परम्परा का बहुत प्रभाव दिखलाई देता है। इतने टाइट कपड़े पहने जाने लगे कि झुकने में परेशानी होती है, तो खड़े-खड़े ही सेल्यूट मार लेते हैं। खड़े-खड़े ही कर लिया काम, हाथ जोड़ लिए बस हो गया सब। आप देखिये हमारी विनयशीलता नष्ट होती जा रही है।

आज भौतिकता की चकाचौंध में जितनी विषय भोग सामग्री बढ़ती जा रहीं हैं, उतना ज्यादा हमारा धर्म हम से दूर हो रहा है। पहले समय में ऐसे छोटे दरवाजे बनाने के पीछे बहुत बड़ा कारण होता था कि व्यक्ति झुकना सीखे। शिखर भी बहुत ऊँचे-ऊँचे बनाते थे कि ऊँचे गगन चुम्बी जिनालयों के शिखर देखोगे तो तुम्हारा मान खण्डित होगा। अपने से ऊँचा किसी को नहीं मानते हो तो थोड़ा देखो इन जिनालयों के शिखरों को जो कितने ऊँचे हैं। गुरु महाराज कहते थे कि आप टोपी लगाये हुए हैं और ऊपर शिखर को देखें तो कई टोपियाँ गिर जायें या स्वयं गिर जायें इतना ऊपर देखना पड़ता है। लेकिन आज तो बिल्डिंग जैसे जिनालय बन जाते हैं। आप बड़े-बड़े नगरों में देखें तो शिखर बहुत मुश्किल से दिखेंगे। बिल्डिंगें इतनी बड़ी-बड़ी बन जाती हैं कि शिखर को दिखना ही मुश्किल है, जब कोई छत आदि पर जायेगा तो शिखर देख सकते हैं, नहीं तो वह दिखने वाला नहीं है। कई जिनालय तो बड़े प्रशस्त रूप से आज भी बनाते हैं। पहले मंदिर की व्यवस्थाएं बहुत अच्छी रहती थीं, उनकी रचनाएं भी बड़ी मंगलमय होती थीं, आज सब ओर परिवर्तन है, वो चीज नहीं रही है ये चीज आपको दक्षिण भारत में देखने को मिलेगी।

दक्षिण भारत में मंदिरों की रचना बहुत विशेष है। मंदिर जमीन से पाँच सात फीट ऊपर बनाते हैं। सीढ़ियाँ होती हैं। इसके बाद संगीत मण्डप टाइप में एक ऐसा स्थान रहता है जहाँ पर एक दरवाजा रहता है। दरवाजे के दोनों ओर संगीत बजाने वाले बैठ सकें इतना स्थान रहता है। कम्पाउण्ड होता है और जगह भी रहती

है। मानस्तम्भ आदि रहता है। मानस्तम्भ और दरवाजे के बीच दस-बारह फीट का अन्तर रहता है। यहाँ आजू-बाजू में कमरे बना लेते हैं पूजन सामग्री आदि के लिए। पूजा मण्डप रहता है फिर अन्तराल आता है उसके बाद गर्भगृह आता है। गर्भगृह में एक ही मूलनायक की प्रतिमा रहती है। जैसे समवशरण में एक ही प्रतिमा रहती है। अशुद्ध वस्त्रों में गर्भगृह में कोई नहीं जा सकता, मात्र शुद्ध वस्त्रों में ही अन्दर जायेंगे। महिलाओं को गर्भगृह में प्रवेश ही नहीं है, क्योंकि कब कौन सी स्थिति आ जाय फिर वह अतिशय नहीं रहता है। अतिशय तो अपनी भावना से होता है, हम जितनी अधिक शुद्धता रखते हैं उसका प्रभाव मंदिर पर अवश्य रहता है। मंदिर में गर्भगृह के बाहर दोनों ओर अन्य वेदियाँ रहती हैं, जहाँ धातु आदि की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित रहती हैं। यहाँ के मंदिरों में परिक्रमा के लिए तीन जगह होती हैं। पहले मानस्तम्भ से लेकर मंदिर के बाहरी भाग में तीन प्रदक्षिणा लगाते हैं। फिर मंदिर में प्रवेश करने के बाद वहाँ ऊपर से प्रदक्षिणा करते हैं। और अन्दर मूलनायक की भी, जो पूजन-अभिषेक आदि करते हैं वे लोग प्रदक्षिणा लगाते हैं।

आपको सिद्धांत की बात बतायें कि मंदिर से बिलकुल भी कनेक्टेड (Connected) घर नहीं रहते हैं, अर्थात् मंदिर और घर की दीवाल एक नहीं होती। मतलब मंदिर से सटे हुए घर नहीं बनायेंगे। यहाँ तक कि मंदिर के शिखर की छाया जहाँ तक पड़ती है, वहाँ तक घर नहीं मिलेंगे। ये व्यवस्था है। मंदिर के सामने भी घर नहीं बनायेंगे। मंदिर को ऐसी जगह बनायेंगे जिसके सामने रास्ता पड़ता हो, मैदान हो। इस चीज को वे लोग मानते भी हैं बहुत अच्छा। भगवान या नवदेवता के सामने हम हिंसादिक पाप करेंगे तो कितना पाप बंध होगा। हमारा घर और जीवन कैसा बन जायेगा नहीं मालूम भगवान या नवदेवता के सामने ये मर्यादा रखनी चाहिए। मंदिर से बिल्कुल लगा हुआ घर नहीं बनायेंगे, जगह छोड़ेंगे, ये कानून भी शायद गवर्मेन्ट का बन चुका है ऐसा हमें किसी ने बताया था। किस रूप में है, हम भी ज्यादा नहीं कह सकते, थोड़ा सा मुझे ध्यान है कि ऐसा कानून बन चुका है कि दस-दस फीट चारों ओर कोई भी मकान नहीं होना चाहिए। कानून तो बन जाते हैं, पर पालन कितने लोग करते हैं यह तो आप सभी लोग अच्छी तरह से जानते हैं। सारी व्यवस्थायें हैं अपने धर्म और देश में, लेकिन लोग उतना पालन नहीं कर पाते हैं। अपने देश और धर्म के प्रति समर्पण श्रद्धा में कमी होने से हमारा देश पिछड़ा

हुआ है इन चीजों में। भगवान की विनय करने के लिए हमें उस तरह का वातावरण भी बनाना चाहिए। आप लोग जानते ही होंगे कि मंदिर की तरफ पैर करके शयन नहीं करते क्योंकि वह चैत्य-चैत्यालय है उसमें देवता विराजमान हैं ही। मंदिर भी एक देवता है, यह भी नौ देवताओं में आता है इसलिए इसकी विनय करना अनिवार्य है।

जिनवाणी जहाँ रखी हो, गुरु जहाँ बैठे हों उस ओर भी हमें पैर नहीं करना चाहिए, पीठ करके भी नहीं बैठना चाहिए। ये सब बातें विनय के लिए हैं। विनय हो तभी मार्दव धर्म आता है, नहीं तो नहीं। इसलिए ये सब आयतन हम सब को विनय करना सिखाते हैं और मान को घटाते हैं। आज इनकी व्यवस्थाएं, रचनाएं भी बदलती जा रही हैं और लोगों के मन भी बदलते जा रहे हैं।

अपने गुणों को बढ़ाना है तो हमारी दृष्टि हमसे जो बड़े हैं गुणी हैं उनकी तरफ जायेगी तभी हमारे मान का गलन होगा, हम कितने छोटे हैं, हमसे कोई बड़ा है तो मान की हानि होगी, मान का गलन होगा और यदि नीचे वालों को देखेंगे कि देखो वह कितना अज्ञानी है, निर्धन है तो हमारा मान बढ़ता है, मैं ज्ञानी हूँ, मैं बड़ा हूँ, मैं धनवान हूँ इत्यादि रूप से। हमें अपने मान को घटाना है तो ऊपर की ओर देखना होगा। ऊपर की ओर देखेंगे तो मान घटेगा तथा नीचे की ओर देखेंगे तो मान बढ़ेगा। अतएव मान को घटाने हेतु अपने से ऊपर की ओर दृष्टिपात करना है। जब हम दूसरों की बड़ी-बिल्डिंगें देखते हैं तो हमें लगता है कि हम कुछ भी नहीं है, झोपड़ी को देखते हैं तो लगता है कि मैं तो बहुत बड़ा आदमी हूँ। यह अपेक्षा दृष्टि है किस दृष्टि से देखा जाय। अगर आशा की दृष्टि से देखते हैं तो आशाएं और बढ़ेगीं। अपने से ज्यादा गुण वालों को देखना चाहिए ताकि अपना मान कम हो जाये। इसी बात को उदाहरण के द्वारा समझेंगे।

सरिता में पानी की बाढ़ आती है और बरसाती बाढ़ बड़ी वेग के साथ आगे बढ़ती है। एक बार देखा गया कि उस बरसाती बाढ़ में बड़े-बड़े वृक्ष धाराशाही हो गए पर जब पानी खाली हुआ तो लचीले बेंत के पौधे उस समय भी सुरक्षित खड़े हैं। किसी ने जाकर बेंत (बांस) से पूछा, आखिर बात क्या है? इतने बड़े-बड़े वट जैसे पेड़ धाराशाही हो गए और तुम अभी भी वहाँ पर खड़े हो। उसने मात्र इतना ही उत्तर दिया कि मैंने झुकना सीख लिया है। बाढ़ का प्रबल वेग मैंने

देखा और सोचा यदि अकड़ कर कठोर खड़े रहेंगे तो मूल से उखड़ कर धाराशाही हो जाएगें। बचने और सुरक्षित रहने का एक ही रास्ता है, झुको, विनम्र बनो, लघुता को लाओ। धर्म भावना शतक में मार्दव धर्म के वर्णन में मैंने लिखा था-

कठोर होता वट तरु वह जो, न सह पाता है तूफान।
उखड़ मूल से नीचे गिरता, न है उसमें मृदुता जान ।।
बेंत वृक्ष वह सह लेता है, क्योंकि मृदुसम वह होता ।
झुक जाता है भू चरणों में, विनय शील वह कहलाता ।। ९।।

एक वृक्ष वट का है और एक वृक्ष बेंत (बांस) का है दोनों थोड़ी दूर पर खड़े हैं। एक बार दोनों में आपसी चर्चा होती है। वट वृक्ष बोलता है अरे! तुम यहाँ क्यों खड़े हो सामने, तुम्हारे पास क्या है? हमारे पास देखो; मैं एक तो इतना बड़ा हूँ, इतना ऊँचा हूँ, इतना मोटा हूँ। मेरा तना देखो इतना मोटा है कि कोई दोनों हाथों से एक साथ पकड़े तो भी हमें पकड़ नहीं सकता। तन के खड़ा हूँ मैं। ध्यान से देखो तुम, मेरी छाया में अनेक लोग एक साथ बैठ जाते हैं। मेरे फलों को सैकड़ों पक्षी खाते हैं, सैकड़ों पक्षी हमारे पास आकर बैठते हैं। तुम्हारे पास कौन बैठता है? मेरे सामने तुम कुछ नहीं लगते, हट जाओ तुम यहाँ से, आदि आदि बातों को कहकर वह मान करता है।

बेंत (बांस) का विचारा वृक्ष अब खड़ा-खड़ा सब सुनता रहता है। वह सोचता है कि क्या कहें हम आखिर? क्या बतायें? फिर कभी मौका आयेगा तो समझा देंगे, बता देंगे। एक दिन मौका आया तो वह बोला अगर तुम कुछ हम से सुनना चाहते हो तो सुनो। वैसे मुझे अपने गुणों को कहना अच्छा नहीं लगता है। तुमने जब अपने इतने मान और बड़प्पन को बताया है तो मैं अपने थोड़े से कुछ गुण बता रहा हूँ जो कहीं न कहीं उपयोग में आते हैं। अगर तुम ऐसे बन सको तो बन जाओ। मेरे पास कुछ ही गुण हैं, तुम्हारे पास तो बहुत हैं, अपने आप को बड़ा भी मानते हो, तुमने पूछा था इसलिए कुछ बता रहा हूँ।

एक तो मेरी इस लकड़ी से शिक्षक लोग एक डण्डा बनाते हैं जिसका उपयोग वे विद्यार्थी को विद्या अध्ययन के समय करते हैं, विद्यार्थी लोग भी अध्ययन के उपरान्त सदैव शिक्षक के डण्डे को याद करते हैं कि हमें उस डण्डे ने ज्ञानी बना

दिया। वट का वृक्ष बोला अच्छा! ये बात है। बेंत का वृक्ष बोला वैसे तो मुख्य रूप से भोजन बनाने में भी हमारा उपयोग किया जाता है। वृद्ध आदमी भी वृद्धावस्था में मेरा सहारा लेता है। किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाये तो उसकी अर्थी बनाने में भी हमारी इस लकड़ी का प्रयोग किया जाता है। बहुत सारी अन्य और भी विशेष उपयोगिताएं हैं, पर उनमें एक विशेषता यह है कि मेरी इस लकड़ी का तना आसानी से मुड़ जाता है क्योंकि हमारे अन्दर कोमलता है इस कारण से मुनि महाराज जी आदि की पिच्छिकाओं में प्रयोग किया जाता है, इससे बड़ा सौभाग्य और क्या हो सकता है, कि संयमधारी की तप-साधनामयी स्पर्श हमें प्राप्त होता है। साथ ही एक विशिष्ट गुण हमारे अन्दर लचकपने का है। कभी अगर बरसात या तेज हवा से तूफान आदि आ जाये तो जो कोमलपना है उसके माध्यम से हमें जिस भूमि ने हमें जन्म दिया है उसकी गोद में ही सो जाते हैं, जिससे हमारी जीवन की रक्षा धरती माँ कर लेती है। तूफान के जाते ही वह पुनः उठाकर खड़ा भी कर देती है क्योंकि हमने झुकना सीखा है। अच्छा! ये बात है। आपके अन्दर तो अमूल्य विशेषताएँ हैं।

अब एक दिन क्या होता है बहुत जोर से तूफान आता है इतने जोर से कि सहन ही नहीं हो पाता आखिर उसने झुकना तो सीखा ही नहीं था, तो वह वट का वृक्ष गिर गया। बेंत के वृक्ष ने झुकना सीखा था इस कारण वह धरती माँ के चरणों में झुक गया। धरती माँ ने उसकी रक्षा की, तूफान के जाते ही वह पुनः खड़ा हो गया। देखा भइया अब रक्षा किसकी हुई? जो अकड़ा खड़ा रहा? या जो विनीत है? जिसके पास मान नहीं है उसकी रक्षा हो जाती है। देव-शास्त्र-गुरु ये ही हमारे माता-पिता हैं, बंधु हैं, सब कुछ हैं इनकी शरण में आयेंगे और मान को गलायेंगे तो दुःख या किसी की आपत्ति के समय हमारी रक्षा हो सकती है। इसलिए कभी भी इनके उपकार को नहीं भूलना चाहिए। वट वृक्ष और बेंत वृक्ष के दृष्टांत द्वारा हमने मान और कोमलता के विषय में जाना उससे शिक्षाप्रद उपदेश लिया। मान कैसे गलता है और मार्दव धर्म कैसे प्रगट होता है? मृदुता आने से ही होता है। मिट्टी जितनी कोमल मृदु होती है उतने अच्छे आकार-प्रकार निर्मित किये जा सकते हैं, अगर वह कठोर हो जाये तो उतने अच्छे आकार-प्रकार नहीं बन सकते हैं; बल्कि टूट जायेंगे, उसी प्रकार हम जितने कोमल होंगे, कोमल परिणामी होंगे सहनशील होंगे तो वैसे ही हमारे लिए सुन्दर से सुन्दर आकार-प्रकार के देव-शास्त्र-गुरु मिलेंगे

जो हमारे जीवन को अच्छा बड़ा उज्ज्वल और पवित्र बनाने में माध्यम/निमित्त बनेगें, अगर मान नहीं होगा तो हटाग्रह भी नहीं होगा। ऐसा गुरुवर का संदेश हमें सन्मार्ग दर्शाता है।

मैं ही सबसे बड़ा हूँ ऐसा मानने वालों का मान कभी न कभी खण्डित होता है। ऊँट अपने आपको बहुत बड़ा मानता है लेकिन जब वह पर्वत के पास तलहटी में पहुँचता है तो सोचता है अरे! मेरे से भी बड़ा कोई है। इस प्रकार बड़ों को देखने से मान गलता है, गुणियों को देखने से मान गलता है और छोटों को देखने से मैं बड़ा हूँ ऐसा इससे मान बढ़ता है। हमारी भावना मान गलाने की होनी चाहिए, कषाय रखने की नहीं होना चाहिए। मात्सर्य भाव की भावना नहीं होनी चाहिए। भाव कई प्रकार के होते हैं, ये मेरे से बड़ा क्यों है, इसे छोटा कर दो ये भाव आते हैं। पर ये तो आपका अपना उपादान है, अपना-अपना पुरुषार्थ है। हम मान को घटाने के लिए पुरुषार्थ करते हैं तो एक अच्छी बात है और जिसको यह ज्ञान ही नहीं है कि मान को घटाने से मार्दव धर्म आता है वो मात्सर्य करके बैठ जाता है कि ये मेरे से बड़ा क्यों है? इसका घर भी बड़ा है, बिल्डिंग बड़ी है, रूपवान है, बल, बुद्धि, सौन्दर्य से युक्त है, यह सब कुछ देख करके उसे मात्सर्य होता है। मेरे से बड़ा कोई नहीं होना चाहिए, उसकी इन वस्तुओं को मैं समाप्त कर दूंगा, इसे नीचा बनाऊँगा, उसे नीचा दिखाऊँगा, ऐसी अनेक तरह की बातें या किसी की प्रशंसा नहीं सुहाना ये सब मान के ही अनेक रूप हैं।

आज व्यक्ति सामान्य बनकर जीना पसन्द नहीं करता, वह कुछ विशेष चाहता है, वह स्वयं को विशेषणों के साथ प्रस्तुत करता है, यही भाव अहंकार, अभिमान, मद, मान को जन्म देता है। वह चाहता है कि मैं दुनियाँ का सबसे बड़ा आदमी बन जाऊँ। जड़ पदार्थों को चैतन्य मान कर बोलता है, सीधे मुँह बात ही नहीं करता, वह आसमान पर चढ़ जाता है, उस समय भीतर से मृदुता नहीं बोलती, अहंकार, मान बोलता है। मान करने वाला व्यक्ति अपने अतिरिक्त दूसरे प्राणियों को तुच्छ मानता है। मान का मतलब है - **एकोऽहं द्वितीयो नास्ति, न भूतो न भविष्यति।** एक मैं ही हूँ दूसरा कोई नहीं है न तो भूत (अतीत) में हुआ था न भविष्य (अनागत) में कोई हो सकता है। ममकार और अहंकार जीवन में दुःखों का सबसे बड़ा कारण है। व्यक्ति के पास सब कुछ हो, लोग उनकी प्रशंसा कर रहे हों फिर भी उनके परिणामों में मान कषाय का उदय नहीं हो बड़े आश्चर्य की बात

है। निर्धनता में ईमानदारी, युवा अवस्था में विषय भोगों की आकांक्षा उत्पन्न न होना, वैभव, आज्ञाकारिता आदि को पाकर भी मान न होना विश्व के ये अनुपम आश्चर्यों में है।

चारों गतियोंकी अपेक्षा से मनुष्य गति में मान सर्वाधिक दुःखमयी है। मान करने वाला व्यक्ति वह नरक की ओर जाता है। मान में व्यक्ति अंधा हो जाता है, उसे मदान्ध कहते हैं। मान का जब उदय होता है तो उस समय मानी व्यक्ति किसी की बात नहीं मानता। मान यदि तीव्रता की ओर होता है तो क्रोध भी उत्पन्न होता है और क्रोध नरक का सूचक है। मानी व्यक्ति की गति नीची होती है। कहा भी है-

मानी नर नल नीर की, गति एक ही कर जोय।
ज्यों-ज्यों ऊँचों हो चले, त्यों-त्यों नीचो होय ।।

मानी मनुष्य की और नल के जल की गति एक जैसी ही होती है जिस प्रकार नल को कितना भी ऊँचा ले जाएं तो भी उसका जल नीचे ही आता है, उसी प्रकार मानी व्यक्ति भी नीचे ही आ जाता है। अहंकार या मद व्यक्तित्व की सम्पूर्णता धर्म को नाश करता है। नाशवान का कभी मान नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त बात को इस तरह समझें कि हम सबके चित्र में आठ फण वाला एक भंयकर विषधर बैठा है जो ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप व शरीर के अभिमान से आत्मा को जड़ताक्रान्त कर रहा है। बड़ा मुश्किल होता है इन फणों को समझना और इनसे बचकर रहना। व्यक्ति के पास थोड़ी अधिक कमाई हो जाए, धन, वैभव, ऐश्वर्य मिल जाय, कहीं से कुछ पा जाए, पद, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान फिर आप देखो। पुण्य के योग/संयोग से थोड़ा सा भी कुछ हम पा लेते हैं तो फिर उसका मजा, रस और आनन्द पृथक ही हो जाता है। यह मजा, रस और आनन्द उसे तब तक अच्छा नहीं लगता जब तक कि उसे दूसरा न देख ले उसका मद मान दूसरे पर आश्रित है। आठ प्रकार के मान की चर्चा आचार्य समन्तभद्र जी ने की है इन पर अभिमान करना अज्ञान है। ये सब आत्मा के स्वभाव नहीं, विभाव हैं, क्षणक्षयी हैं, बाहर से आये हैं, पराधीन और कर्माधीन हैं।

यह (मान) आठ प्रकार के कहे गये हैं, इन्हें भी समझ लें। इन मदों को गलाने हेतु उन उदाहरणों/दृष्टांतों का भी स्मरण करना आवश्यक है जिनके माध्यम से लोगों के मान गले और उन्हें कुछ शिक्षा मिली, उनका सम्यग्दर्शन निर्मल हुआ।

यद्यपि सम्यग्दर्शन किसी को हुआ, किसी को नहीं भी हुआ। तीर्थोदय काव्य में आठ मदों के खण्डन के विषय में कुछ दृष्टांत रूप में पद रचित किये हैं, प्रसंगानुसार वर्णन में उन्हें बतलाऊँगा।

ज्ञान मद – ज्ञान पाकर मान/मद करना ये बहुत बड़ी विडम्बना है। ज्ञान; मद और दर्प को दूर करने का साधन है। दर्प व दम्भ अज्ञान की परिणति हैं और विनम्रता ज्ञान की सच्ची पहचान है। आचार्य जिनसेन स्वामी ने महापुराण में एक स्थान पर उल्लेख किया है कि ज्ञान मद करना, ज्ञान पर आवरण डालना है, ज्ञान पर परदा डालना है। पहला मद या मान ज्ञान का है। ज्ञान का मद या मान यदि किसी को कुछ ज्ञान हो गया तो अल्पज्ञान पाकर भी अपने आपको बहुत बड़ा ज्ञानी मानने लगना, सर्वत्र अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करना, चार गाथा, श्लोक, शब्द सीख गये तो मान सिर पर से चलता है। मेरे से शास्त्रार्थ करने से सब घबराते हैं, बड़े-बड़े शास्त्र कण्ठस्थ हैं। किस ग्रंथ में क्या लिखा है, उसकी श्लोक, गाथा संख्या सहित मौखिक बतला सकता हूँ। इस जगत में मेरे सदृश कोई ज्ञानवान पण्डित नहीं है, कोई महाकवि मेरे समान नहीं है, शास्त्री नहीं है, जितने भी कुछ दिखते हैं वे सब लोग मुझ सूर्य के सामने जुगनु के समान हैं। मेरे तर्कों के आगे कोई भी नहीं टिक पाते, सभी मेरे ज्ञान का लोहा मानते हैं, तत्त्वों-सिद्धान्तों का सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण व्याख्या मेरे लिए बालकों के खेल समान है मानी व्यक्ति इस प्रकार ज्ञान का मद करता है।

जरा सोचो तो, किस ज्ञान की बात कर रहे हो। भगवान के केवलज्ञान के सामने तुम्हारा यह ज्ञान कितना है। मात्र शब्द ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है वह तो टैंक में भरे गये पानी के जैसा है किन्तु आत्मज्ञान की अनुभूति, कुएँ में रहने वाले जल स्त्रोत की तरह है। एक बार एक पुस्तक में किसी मनोवैज्ञानिक का लेख पढ़ा था कि ''यदि कोई मूर्ख पागल हो जाए तो वह अधिक से अधिक दूसरों को शारीरिक कष्ट देगा या स्वयं आत्म हत्या कर लेगा किन्तु यदि ज्ञान मद में बेहोश कोई विद्वान या बुद्धिमान मिथ्यात्व या स्वार्थ से पागल हो जाए तो वह अपने सीमित, संकुचित ज्ञानाभिमान से अनेक व्यक्तियों को मार्ग च्युत या गुमराह करके उनको अपार क्षति पहुँचाता है।'' इस सन्दर्भ में जैन धर्म के आगम ग्रंथों में भगवान ऋषभदेव के बड़े पुत्र चक्रवर्ती भरत के पुत्र मारीचि का उदाहरण सबसे बड़ा प्रमाण है। इसी प्रकरण में

अन्य दृष्टांत भी देखे जा सकते हैं। ज्ञानमद के खण्डन में तीर्थोदय काव्य में लिखा है –

महावीर के समवशरण में, मानस्तम्भ सु जिन महिमा।
लखी इन्द्रभूति गौतम ने, गला ज्ञानमद गा गरिमा ।।

व्यक्ति को अपनी योग्यता का आभास तब होता है जब ऊँट को पहाड़ के नीचे दर्शाने जैसा बड़ा व्यक्तित्व सामने आता है। इन्द्रभूति गौतम को अपने ज्ञान का बड़ा मान था। इन्द्रभूति उनका नाम था और गौतम गोत्र था। मैं सबसे बड़ा ज्ञानी हूँ, 500 शिष्य मेरे हैं, सब वेदों का ज्ञाता हूँ, मेरे समान किसी का ज्ञान नहीं है, पृथ्वी पर मुझसे शास्त्रार्थ करने वाला कोई है क्या? ऐसा विचार करने पर उसे कोई नहीं मिलता था पर एक दिन उसका भी मान गल गया।

चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर को जब केवलज्ञान हुआ था। उस समय सौधर्म इन्द्र द्वारा समवसरण की रचना होने के उपरान्त भी छयासठ (66) दिन तक दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। इन्द्र को चिन्ता हो गयी और उसने समझ लिया अरे! दिव्य ध्वनि खिरे तो कैसे? उसे झेलने वाला कोई पात्र तो होना चाहिए। भगवान की वाणी को सामान्य से जो कोई भी नहीं झेल सकता, सिंहनी का दूध तो स्वर्णपात्र में ही टिकता है। भगवान की दिव्य ध्वनि को झेलने वाला कोई योग्य पात्र यहाँ दिखता ही नहीं, यह योग्यता जिसमें है वह तो बड़ा अभिमानी मिथ्यादृष्टि बनकर बैठा है। उसको इतना मान है कि मेरे समान बड़ा ज्ञानी कोई है ही नहीं। इन्द्र ने विचार किया चलो? उसके मान का अपन गलन करें।

सौधर्म इन्द्र ने वृद्ध ब्राह्मण का भेष बना करके वहाँ इन्द्रभूति के आश्रम में प्रवेश किया और कहा? हे गुरुदेव मुझे इन प्रश्नों के उत्तर बतला दीजिये। सप्त तत्त्व कौन-कौन से होते हैं? षड्द्रव्य क्या हैं? पंचास्तिकाय कौन से हैं? नौ पदार्थ किन्हें कहते हैं ? कृपया कर थोड़ा समझा दीजिये गुरुदेव। अरे! कभी इन शब्दों को भी हमने नहीं सुना तो इनके अर्थ कैसे बतलाऊँगा, यह मन में विचार करने लगा। बहुत चिन्तन मनन किया जब नहीं बना तो उस वृद्ध ब्राह्मण से पूछा, तुम्हें किसने पढ़ाया है? उत्तर दिया भगवान महावीर ने! चलो देखता हूँ कौन हैं वह महावीर? मैं इनका उत्तर तुम्हारे गुरु के ही पास जाकर के दूंगा। यह घमण्ड अहंकार की भूमिका है। चल देता है 500 शिष्यों के साथ, उलझे हुए मान की भूमिका में आगे-आगे चलता है। इन्द्र तो यही चाहता था कि इन्द्रभूति को समवसरण की ओर जैसे-कैसे तो

लाऊँ।

समवसरण की ओर बढ़ते हैं, तो देखा छः ऋतुओं के फल-फूल एक साथ लगे हैं। मन्द-मन्द सुगंधित वायु बह रही है। दुन्दभि वाद्य बज रहे हैं। गंधोदक वृष्टि हो रही है। जय-जयकार सुनायी दे रही है। उन्हें ज्ञात होने लगा कि अवश्य ही कोई महान आत्मा यहाँ विराजमान हैं, जिनको स्वर्ग के देव, मनुष्य आदि आकर के पूज रहे हैं, उनकी उपासना कर रहे हैं, उनके दर्शन को तरस रहे हैं। ज्यों ही पास में पहुँचे समवसरण आया। इन्द्रभूति गौतम ने मानस्तम्भ को देखा, मान स्तम्भित हो गया, चूर-चूर हो गया और आत्म कल्याण की भावना जागृत होने लगी। सम्यक्त्व प्रकट हो गया। समवसरण में अन्दर प्रवेश किया और सीधे जाकर प्रभु का साक्षात् दर्शन किया। नम्रीभूत हुए, विनीत हुए सब और क्षण भर की विनय ने इन्द्रभूति गौतम को सकल संयमी बना दिया, क्षायिक सम्यग्दृष्टि, गणधर, मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय इन चारों ज्ञानों का धारी और तिरेसठ ऋद्धियों से सम्पन्न बना दिया। ध्यान रखना ज्ञान जब चारित्र के चरणों में झुक जाता है तो वह मोक्षमार्ग बन जाता है और ज्ञान जब चारित्र के समक्ष अकड़ जाता है तब तक वह पंगु कहलाता है। अहंकार/मान में यदि रहे तो जैसे ग्यारहवें रुद्र अधोलोक की अवस्था को प्राप्त हुए वैसा ही फल मिल सकता है जानो। एक बार राजा यम ने एक मुनिराज का यह कहकर अपमान कर दिया था कि अरे! उनके पास क्या ज्ञान है उनसे ज्यादा तो मैं जानता हूँ इतने शब्द मात्र से उनके क्षयोपशम का लोप हो गया, जब उन्होंने मुनि व्रत धारण किया तो उन्हें णमोकार मंत्र भी पूरे जीवन में याद नहीं हुआ और जब याद हुआ तब केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, तब सम्पूर्ण ज्ञान रूप अनन्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

इन्द्रभूति गौतम भगवान महावीर स्वामी के प्रथम गणधर बन गये। जिस दिन वे प्रभु से मिले थे उस दिन उन्हें जगतगुरु मिले और उनके निमित्त से प्रभु की वाणी खिरी इस जगत को भी एक गुरु मिले इस कारण उस दिन को गुरु पूर्णिमा कहते हैं और अगले दिन दिव्य ध्वनि के द्वारा भव्यों को ज्ञान मिला जिस दिन श्रावण कृष्ण पक्ष की एकम तिथि थी जो वीर शासन जयंती के नाम से विख्यात हुई।

पूजामद - पूजा प्रतिष्ठा का अपना बड़ा ही जोश भरा नशा होता है। प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक मान सम्मान, पद प्रतिष्ठा की चाह में लगा रहता

है। लोगबाग, प्रमाण पत्र, मान पत्र, शिलापट्ट के पीछे पड़े रहते हैं। मैं स्वामी हूँ, विभु हूँ, ईश हूँ, मालिक हूँ, सेठ हूँ, मंत्री हूँ, राजा हूँ, मेरे पास इतना वैभव है कि सब मेरी आज्ञा में रहते हैं, मुझसे बड़ा कोई नहीं है, मैं बहुत बड़ा हूँ, जितने भी लोग हैं वे सब मुझे पूजते हैं, क्योंकि मैं बहुत बड़ा तपस्वी हूँ, मेरे सभी गुण गाते हैं, सम्मान देते हैं जो ऐसा मान करता है सो पूजा मद कहलाता है। तीर्थोदय काव्य में लिखा है-

शैल उठाया था रावण ने, पूजा मद रख बालि से।
धर्म बचाने नष्ट हुआ था, जिसका मद मुनि बालि से।।136।।

रावण को बड़ा अभिमान था। मैं त्रिखण्डाधिपति लंकेश विद्याधर हूँ, मेरी लंका सोने की बनी है, उसका पर-कोटा बना हुआ है उसमें कोई प्रवेश नहीं कर सकता है, मेरे पास राज्य है, 1008 विद्यायें हैं, कोई मेरा कुछ भी नहीं कर सकता उसे अपनी पूजा का अपने ऐश्वर्य का बड़ा अभिमान था। सभी लोगों के द्वारा पूज्य हूँ, मेरी प्रजा मुझे नमस्कार करती है। रावण के राज्य में बालिराज भी रहते थे। वे समकितमणि (सम्यग्दर्शन) के पालक थे। उनकी जिन मुद्रा दर्शन की प्रतिज्ञा थी। एक दिन रावण को ज्ञात हुआ कि बालिराज उसे नमस्कार नहीं करता है। उसने बालिराज को दरबार में बुलाया और नमस्कार करने को कहा। बालिराज को पहले से ही इस बात की अशंका थी। अतएव उसने अपने हाथ में जिन मुद्रा की अंगूठी पहन ली। जिसको देखकर उसने नमस्कार किया। तत्पश्चात् दरबार से अपने घर आ गये।

बालिराज ने घर आकर सोचा कि अगर यहां राज्य में रहे और रावण को ज्ञात हो गया तो जिन दर्शन की जो प्रतिज्ञा है वह सराग अवस्था में सुरक्षित नहीं रह पायेगी। अतएव उन्होंने वीतराग निर्ग्रन्थ मुनि का मार्ग अपना लिया और पर्वत पर ध्यान में लीन हो गये जहाँ जिनालय निर्मित थे। उन्होंने धर्म और जिनालय की रक्षा का मन में संकल्प ले लिया था। एक दिन रावण आकाश मार्ग से उन जिनालयों के निकट से जा रहा था कि अचानक उनका विमान रुक जाता है। रावण ने चिन्तन किया कि जहाँ पूज्य, स्वजन या शत्रु होता है, वही विमान रुकता है। उसने विमान से नीचे आकर देखा तो सामने मुनिराज बालि ध्यान में लीन थे। मुनिराज को देखकर रावण उन्हें शत्रु सम समझ रोष से भर गया उसी रोष मेंआकर उसने पर्वत को उठा लिया।

जिनालयों के रक्षण हेतु बालि मुनिराज ने उस पर्वत को अपने पैर के अंगूठे से थोड़ा सा दबा दिया था,जिससे वह रोया और उसका मद खण्डित हुआ था, इसी कारण से उसका नाम रावण पड़ा था। धर्मभावना शतक में कहा है–

मानी रावण ने ध्यानी मुनि, बालि पर उपसर्ग किया।
मात्र अंगूठा दबा साधु का, उसने हा-हाकार किया।।
झुका साधु के चरणों में वह, मान आत्मा से निकला।
मान गले बिन धर्म न मिलता, यह अन्दर से सोच भला।।

कुलमद– पिता के वंश को कुल कहते हैं। अपने पिता की परम्परा को ही श्रेष्ठ मानना उस पर अहंकार करना कुलमद है। मेरा कुल बड़ा ऊँचा–श्रेष्ठ है। मैं प्रसिद्ध, विशाल, उन्नत कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, मेरे समान अन्य का कुल नहीं है, ऐसा विचार करके मद करना, अपना सिर ऊपर करके चलना, किसी को कुछ समझना ही नहीं, सबको तुच्छ समझना, गर्वित होकर दूसरों का अपमान करना और बड़ों के प्रति अविनयी बनना कुलमद है। व्यक्ति जन्म से नहीं कर्म से महान होता है। कुल से नहीं कुलाचार की परम्परा से महान होता है। आज अगर उच्च कुल पाकर अभिमान में दूसरे को तुच्छ समझ रहे हो तो यह बड़ी भूल कर रहे हो, कल तुम्हारा जीवन भी तुच्छ हो सकता है। आगम में तो यहाँ तक बताया है कि एक निगोदिया प्राणी भी अगर मनुष्य होता है तो अपनी साधना के बल पर उसी भव में मोक्ष जा सकता है। उच्च कुलीन मनुष्य भी कर्मोदय वश हीन कुल में उत्पन्न हो जाता है। स्वर्ग का ऋद्धि धारक देव भी चाण्डाल हो सकता है। राजा मरकर के कीड़ा बन जाता है और कीड़ा मरकर के राजा बन जाता है। अगले जीवन में कौन सी पर्याय मिलेगी पता नहीं। बहुत पुण्योदय से उत्तम कुल प्राप्त किया है संयम शीलव्रत द्वारा उसे सफल करना चाहिए। साधना में कुल भी सहकारी है। इसलिए शास्त्रों में कहा है –**'देश, कुल जाइ शुद्धा'** अर्थात् धर्माचार्य देश, कुल और जाति से परिशुद्ध होते हैं।

आत्मा के न भाई है, न पिता है और न कुटुम्ब है, इसलिए आत्मा उत्थान का विचार रखते हुए कुलमद नहीं करना चाहिए। कुलमद रखने से क्या होता है यह तीर्थोदय काव्य में लिखा है कि–

जरासंधसुत कालयवन जो, भरा हुआ था कुलमद से।
श्री कृष्ण से युद्धमार्ग में, हरा गया था कुल मद से।।137।।

जरासंध का पुत्र कालयवन था, जो कुलमद से पूर्ण था। श्री कृष्ण नारायण से वह युद्ध में पराजित हुआ था, उसका कुल मद नष्ट हुआ था।

जातिमद – कुछ लोगों को जाति का घमण्ड भी आ जाता है। अपने नाना, मामा को वैभव सम्पन्न देखकर उनका अभिमान करना, माता के पक्ष का अभिमान, विभूति, प्रसिद्धि, पहुँच का मान करना कि मेरी माता बहुत बड़े घर की बेटी है, मैंने उच्च जाति में जन्म लिया है, मेरे समान कोई और हो ही नहीं सकता तथा अन्य व्यक्तियों का अपमान करते हैं, तिरस्कार करते हैं जातिमद है। जो लोग अपनी जाति का अभिमान करते हैं, वे नीच गोत्र के पात्र होते हैं। अपनी जाति अर्थात् मातृपक्ष का मान नहीं करना चाहिए। यह जाति कर्मोदय से प्राप्त हुई है। इस जीव ने मनुष्य भव में अनेक जातियाँ प्राप्त की हैं जैसे चाण्डाली, शाबरी, मलिनी, दासी, धीवरी आदि। पद्मपुराण में आचार्य ने लिखा है –

न जाति गर्हिता कश्चिद्गुणा कल्याण कारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।

मतलब कोई जाति निन्दनीय नहीं है, गुण कल्याण के कारण हैं। चाण्डाल भी व्रत धारण करने पर किसी काल में ब्राह्मण बन सकता है। पद्मपुराण में वर्णित है कि मधु-सुन्दर का पुत्र लवणार्णव जाति के मद से भरा हुआ था। कृतान्तवक्र सेनापति ने उसे मद से चूर्ण किया था। तीर्थोदय काव्य में भी कहा है –

था लवणार्णव मधुसुंदर का, पुत्र जाति के मद से पूर्ण।
कृतांतवक्र ने जिसे हराया, रहित किया था मद संपूर्ण ।।137।।

बलमद – अपने शरीर की शक्ति का अभिमान करना बलमद है। जरा अच्छा शरीर हृष्ट पुष्ट हो जाय, थोड़ी सी शक्ति आ जाय तो व्यक्ति अभिमान में भर जाता है मानों उसके बराबर कोई है ही नहीं, उससे बड़ा बलवान कोई नहीं है। जो बाहुओं से बल बताकर चलता है, भौंह को चढ़ाता है, इसके लिए तो मैं अकेला काफी हूँ, हमारे सामने कोई कैसे टिक सकता है, वह बलमद का धारी है। व्यक्ति के पास किसी भी प्रकार का चाहे सैन्य, अस्त्र-शस्त्र, शीररिक शक्ति आदि जो भी

कुछ है उसका मद कर लेते हैं पर विचार करो जरा नारायण, चक्रवर्तियों जैसा बल है तुम्हारे में जिन्होंने कोटिशिला उठाई थी। अरे जिसके अन्दर पराक्रम है ऐसा व्यक्ति यदि चार दिन के लिए बीमार हो जाय तो सारा बल धरा का धरा रह जाता है, अपने बल पर खड़ा भी नहीं हो सकता। एक छोटा सा तिनका यदि आँख में चला जाय तो वह भी परास्त कर देता है।

बड़े-बड़े बाहुबली भी कालबली के सामने हार जाते हैं। कालबली सबसे बड़ा बली है। शक्ति का अभिमान करने वाला चाहे रावण-कंस हो और चाहे आदिनाथ के पुत्र भरत हों जिसने भी शक्ति का अभिमान किया उसने नीचा देखा। भरत ने इतना संघर्ष किया, इतना साहस किया लेकिन वे बाहुबली से विजय श्री प्राप्त नहीं कर सके। तीर्थंकर चक्रवर्ती और महर्षियों का अपरिमित बल होता है। इनके महाबल को जानकर अपने बल का मद नहीं करना चाहिए। तीर्थोदय काव्य में लिखा है कि -

बाहुबलि से भरत भ्रात का, बल का मद वह नष्ट हुआ।
चक्ररत्न भी हार गया था, अनुज को न कुछ कष्ट हुआ।।138।।

बल का मद करने वाले भरत चक्रवर्ती हुए, जो बाहुबली के अग्रज थे। उन्होंने विजयार्द्ध पर्वत पर वृषभगिरि पर्वत पर अपनी प्रशस्ति लिखी जिससे उन्हें मान हो गया। छः खण्ड के राज्य में कहीं कोई कमी न आ जाए इसलिए उन्होंने सैन्य बल को प्रयोग में लिया, उनके बल के समक्ष अनेकों राजाओं ने समर्पण कर दिया। परन्तु उन्होंने अपने अनुज भ्राता बाहुबली को सम्राट की आज्ञा के अनुसार बुलवाया तो बाहुबली भी ऐसे नहीं आए। उन्होंने विचार किया। भरत भइया भले ही राजाओं के राजा हों पर हमारे लिए तो सहोदर हैं, सम्राट नहीं अगर भाई के नाते वे बुलाते तो मैं अनुज होने के नाते उनके चरणों में चला जाता किन्तु भइया ने आज्ञा एक सम्राट के अधिकार से दी है। मैं युद्ध क्षेत्र में आऊँगा और युद्ध किया। दोनों चरम शरीर थे। हारने का तो प्रश्न ही नहीं। बाहुबली के पुण्य ने ऐसा कार्य किया दोनों में दृष्टि युद्ध, जल युद्ध, मल्ल युद्ध हुए। तीनों युद्धों में भरत चक्रवर्ती बाहुबली से आखिर पराजित हुए, उनका मान चूर-चूर हो गया, आवेश में आकर भरत ने चक्र भी चला दिया बाहुबली पर। चक्र बाहुबली की तीन प्रदक्षिणा लगाकर वहीं स्थिर हो गया भरत भूल गए कि चक्र अपने परिवार पर तो चलता नहीं है और तद्भव मोक्षगामी पर कैसे चले? अब भरत अपनी निगाह नीची कर के खड़े रह

गये। कैसे कहें कि हम चक्रवर्ती हैं। चक्ररत्न तो बाहुबली के पास पहुँच गया। कहने का मतलब है कि जिन्होंने मान किया अपने शरीर बल, सत्ता बल, सम्पदा बल कि मेरी आज्ञा में इतने लोग रहते हैं उनका मान संसार में नहीं रहा। चाहे वे चामुण्डराय हों, कौरव हों, भीष्म, द्रोणाचार्य हों, चाहे नेपोलियन, बोनापार्ट हो या हिटलर आदि हो अहंकार/मान किसी का नहीं रहता, वो कब टूट जाए, कहा नहीं जा सकता। यह मान इन्द्रधनुष के समान है। थोड़ा सा पैसा कमा लिया, थोड़ी सी सत्ता पाली तो फिर जिन शक्तियों का उपयोग सेवा, सहयोग और संरक्षण में करना चाहिए वहीं दूसरों को कष्ट देने और अपमानित करने में लगा दी जाती है और पाप बढ़ने से स्वयं का अहित हो जाता है।

देखो यह संसार धन के पीछे, वैभव के पीछे अपने भाई को भी नहीं गिनता। सभी को समाप्त करने के लिए तत्पर हो जाता है। धिक्कार है, इस संसार को, इस शरीर को; ऐसा विचारकर बाहुबली को वैराग्य हो गया। उन्होंने तुरंत वैभव छोड़कर के मुनि दीक्षा धारण कर ली और एक वर्ष तक उपवास लेकर के ध्यान में लीन हो गए तत्पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त कर के ही उठे। ध्यान रखो इस प्रकार बल का मद भरत का नष्ट हुआ था बाहुबली से। बारह मनुष्यों का बल एक बैल में होता है, बारह बैलों का बल एक घोड़ा में होता है, बारह घोड़ों का बल एक भैंसा में होता है, सौ भैंसों का बल एक हाथी में होता है, सौ हाथियों का बल एक सिंह में होता है, सौ सिंहों का बल एक बलभ्रद में होता है और सौ बलभद्रों का बल एक नारायण में होता है, सौ नारायणों का बल एक चक्रवर्ती में होता है और सौ चक्रवर्तियों का बल एक तीर्थंकर में होता है, इसलिए बलवान मनुष्यों को अपने से दूसरों का अधिक बल जानकर बल का मद नहीं करना चाहिए।

ऋद्धिमद - साधना के बल पर यदि कुछ उपलब्ध हो गया, कोई ऋद्धि-सिद्धी प्राप्त हो गयी तो फिर कहना ही क्या? थोड़ा सा चमत्कार हुआ नहीं कि प्रचार-प्रसार प्रारम्भ हो जाता है। भले ही कुछ हो या नहीं पर प्रोपगेण्डा पूरा होता है। तपस्या के द्वारा बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ प्राप्त हो गयी हैं। मेरे समान कोई ऋद्धि धारी नहीं है मेरे समान कोई बड़े-बड़े कार्य करने वाला नहीं ऐसा मानकर दूसरों को तिरस्कृत करता है, भयभीत करता, प्रदर्शन करता उसका मान करता है सो वह ऋद्धि मद करने वाला है। गृहस्थ जीवन में तो धन,सम्पत्ति, वैभव इनका मद नहीं

करना यही गृहस्थ की ऋद्धि है। बाह्य सामग्री की वृद्धि से अहम् की तृप्ति हो सकती है, पर सत्य की उपलब्धि नहीं। चक्रवर्ती आदि भी जो विक्रिया आदि को प्राप्त करके अहंकार करते हैं वे सप्तम नरकादि को प्राप्त कर लेते हैं। अपनी प्रभुता, धन का क्या अहंकार करना ये तो हाथ का मैल है, कब चला जाए कहा नहीं जा सकता। देखों विष्णु कुमार जैसे मुनिराज को ऋद्धि प्राप्त हो गयी थी, उन्हें पता ही नहीं चला कि ऋद्धि प्राप्त हो गयी है, बताना पड़ा था। तीर्थोदय काव्य में लिखा था कि–

कुलदेशभूषण पर जब सुर, अग्निप्रभ वह विघ्न करे।
ऋद्धि गर्व था, अतः राम ने, हरा ऋद्धि मद विघ्न हरे।।138।।

पद्मपुराण में कथानक वर्णित है कि वंशधर नामक दुर्गम पर्वत पर श्री कुलभूषण–देशभूषण नामक मुनिराज कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यान रत थे। उस पर्वत पर अग्निप्रभ नामक एक देव अपनी ऋद्धि के मद से पूर्ण; तरह–तरह के उपसर्ग किया करता था जिससे वहाँ रहने वाली प्रजा भय से प्रतिदिन सायंकाल के समय दूर चली जाती थी और सुबह के समय सभी वापिस आ जाते थे। दोनों तपस्वी मुनिराजों पर अग्निप्रभ देव अपनी विक्रिया ऋद्धि के द्वारा विभिन्न तरह के रूप आदि बना करके उपसर्ग करता था। कई दिन हो गए थे लेकिन एक दिन वनवास के समय राम, सीता, लक्ष्मण यात्रा करते हुए वहाँ पहुँच जाते हैं। तीनों, युगल मुनिराजों को हाथ जोड़ कर नमोस्तु करते हैं और वहीं पास में बैठ जाते हैं। इतनें में वहाँ देव द्वारा महाभयानक शब्द हुआ वह उपसर्ग करने लगा। राम–लक्ष्मण ने देव को सावधान किया। अपने धनुष की मेघ के समान गर्जना करने वाली टंकारें कीं। देव को समझा दिया कि ये महामुनि हैं, महान तपस्वी हैं, तुम्हें धिक्कार है, तुम जो कार्य कर रहे हो, दुर्गतियों की तैयारी कर रहे हो। अग्निप्रभ नामक ज्योतिष्क देव अपने आप समझ गया और वह चला गया। बाह्य में यह सब कार्य हो रहा था, परन्तु उन महामुनियों को इन सारी उपद्रवकारी चेष्टाओं का कुछ भी ज्ञान नहीं था। अन्तरंग में उनके उस समय ज्ञानोपयोग शुक्ल ध्यानमय हो रहा था। परिणामतः दोनों मुनिराजों को केवलज्ञान प्राप्त हो गया और अग्निप्रभ देव का मद भी नष्ट हुआ। यह एक बड़ी उपलब्धि राम ने अपने वनवास काल में प्राप्त की थी।

तपमद – तप साधना को लेकर भी मद हो सकता है। ख्याति पूजा लाभादि से रहित अनशन अवमौदर्य आदि तप को करने वाला मैं ही हूँ अथवा

पंचमहाव्रत आदि त्रयोदश प्रकार के चारित्र को पालन करने वाला हूँ अथवा सामायिक आदि चारित्र का रक्षक मैं ही हूँ। मैं बड़ा तपस्वी हूँ, मेरे जैसा तपस्वी कोई दूसरा नहीं है। बेला, तेला पक्षोपवास, मासोपवासादि करता रहता हूँ, अनेक प्रकार के रसों का परित्याग किया है। सभी ऋतुओं में सुमेरूवत् अडिग तपसाधना में रत रहता हूँ ऐसी परिणति तपमद है। तप का उद्देश्य आत्मा की पवित्रता है। वह क्रोध, मान, मद, मत्सर आदि वैभाविक भावों की शुद्धि से ही सम्भव है। आजकल तप साधना के दिन हैं सामान्य से सभी व्रत करते हैं। यदि किसी ने उपवास कर लिया तो कहेगें अरे तुमसे तो मैं अच्छा हूँ। हमने तो उपवास कर लिया और तुम तो दो बार भोजन करते हो, इतना भी नहीं कि कम से कम एकासन कर लेते। क्या साधना करोगे तुम? हरी सब्जी भी नहीं छूटती तुमसे। हम तो व्रती नहीं हैं फिर भी हरी नहीं लेते, रस का भी त्याग कर देते हैं और देखों व्रती, महाराज आदि कोई–कोई हरी भी लेते, रस भी लेते हैं। ध्यान रखना सब की अपनी–अपनी शक्ति है। अपनी शक्ति का मान करना अपनी साधना को धूमिल करना है।

आगम ग्रंथों में आचार्यों ने लिखा है कि नीचे की सीढ़ी पर बैठा व्यक्ति यदि मास भर के उपवास करता है और साधु नित्य आहार करते हैं तो भी दोनों की साधना में असंख्यात गुणा अन्तर है, उस व्यक्ति/श्रावक की साधना, निर्जरा, संवर, विशुद्धि से असंख्यात गुणी विशुद्धि साधु/श्रमण की कहलाती है। लब्धि/गुणस्थान मुनियों के उस श्रावक की अपेक्षा अधिक होते हैं। श्रावकों को कभी भी तप साधना का मद नहीं करना चाहिए। तप तो सहज है मान/अहंकार सहित किया गया तप पतन में कारण है। तप का मद करने से अधोगति को प्राप्त करके संसार में भ्रमित होते हैं। तप तो परम खुराक है आत्म जागृति की, कोई दिखावा नहीं है। तप का मद यमदग्नि ऋषि को हुआ था। मैं बड़ा तपस्वी हूँ। पंचाग्नि आदि तरह–तरह के तप तपता हूँ। मेरे समान कोई तप नहीं तप सकता ऐसा उन्हें बहुत मान था। एक बार उनके तप की परीक्षा लेने अमितप्रभ एवं विद्युतप्रभ देव आये और उन्होंने जब थोड़ा सा ही उपसर्ग प्रारम्भ किया तो वे ऋषि अपनी तप साधना से विचलित हो डिग गये। डिग जाने पर उन्हें समझ में आया कि अरे! मैं क्या तपस्वी हूँ मुझे इतना भी सहन नहीं हुआ, मैं थोड़े से ही विघ्न उपसर्ग से घबरा गया। इस प्रकार दोनों देवों ने यमदग्नि ऋषि का तप का मद नष्ट किया था। उदाहरण स्वरूप तीर्थोदय काव्य में लिखा था कि–

अमित वा विद्युतप्रभ सुर ने, यमदग्नि ऋषि का तपगर्व।
बढ़ा-चढ़ा था दूर किया था, कर परीक्षा तप का गर्व ।।139।।

शरीरमद - अपने शारीरिक रूप और सौन्दर्य पर गर्व करना शरीरमद है। वपु का तात्पर्य शरीर से है। मेरा सौन्दर्य अनुपम है, मैं बहुत सुन्दर हूँ, मुझे देखते ही सारे लोग चकित हो जाते हैं। मेरे रूप सौन्दर्य के आगे कोई भी नहीं लगता, सब सूर्य के सामने दीपक के जैसे दिखते हैं इस प्रकार से विचार करते हैं सो वह शरीर का मद है। यह मद सबसे खतरनाक है। शारीरिक रूप के संबंध में सनतकुमार चक्रवती के मान का प्रसंग बड़ा प्रेरणादायी है। वे बड़े रूपवान थे। उनका रूप कामदेव के समान था। स्वर्ग के देव भी उनके रूप पर मुग्ध थे। जब वे गृहस्थ अवस्था में थे तो उन्हें कभी मान आया था लेकिन जब उन्होंने दीक्षा धारण कर ली उसके पश्चात् वे कुष्ठ रोग से पीड़ित हो गये। अपने रूप का मान नहीं करना चाहिए आपका रूप, सौन्दर्य, लावण्य क्षणभंगुर है, क्षण भर में नष्ट हो जाता है।

महाभारत के निर्माता दुर्योधन को अपने शरीर का बहुत मान था। श्री कृष्ण नारायण ने शांति दूत बनकर दुर्योधन को संधि करने के लिए कहा, किन्तु वह नहीं माना आखिर में महाभारत का युद्ध किया जिसमें जन, धन की हानि हुई और अन्त में स्वयं मारा गया, दुर्गति का पात्र हुआ, अपने वंश को ही नष्ट कर डाला। कहा भी जाता है कि-

तन का मान किया दुर्योधन मिट्टी में मिल गई जवानी
तोरी थोड़ी जिन्दगानी................।

इसी तरह सत्यभामा भी रूप मद से भरी हुई थी। आप जानते हैं, सत्यभामा कौन थी। वह नारायण श्री कृष्ण की पत्नी थी जो पटरानी थी। उसे अपने रूप सौन्दर्य लावण्य का बड़ा मान था कि मेरे जैसा और दूसरा कोई नहीं है। लेकिन जब उसने जंगल में कृष्ण की दूसरी रानी रुकमणी को देखा तो ऐसा लगा मानों कोई देवी जैसी खड़ी है। आश्चर्य चकित रह गयी सत्यभामा; कि यह कोई स्त्री नहीं हो सकती यह तो कोई देवी है। श्री कृष्ण ने भी सत्यभामा से नहीं कहा कि ये तो मेरी पत्नी है रुक्मणी। पर जैसे ही उसे यह मालूम हुआ वैसे ही रुक्मणी का रूप देखकर के वह लज्जित हो गयी अरे! मैं तो यही मानती थी कि मेरा रूप ही सर्वश्रेष्ठ है। उसका शरीर सौन्दर्य का मद चूर हो गया। इसी विषय का दृष्टांत तीर्थोदय काव्य में

पद्य रूप में लिखा था कि-

रूप मद से भरी हुई थी, सत्यभामा राज्ञी जो।
देख रुक्मणी को देवी-सम, चूर मद हुई राज्ञी वो।।139।।

मार्दव धर्म को पाने हेतु उन रामचन्द्र का स्मरण करें। मोक्ष गये हैं वे। रामचन्द्र जी ने अपने कुछ आदर्श स्थापित किये हैं। जब उन्हें वनवास के लिए कहा गया तो उन्होंने अपने पिता के वचनों की मर्यादा रखी और जंगलों में जाकर कुटिया बना करके रहे। कहाँ महलों में रहने वाले, जंगलों में जाकर रहे। आप नहीं रह पायेंगे, कुटिया में भी जाने के लिए कई बार सोचेंगें, विचारेंगे, आप कहेंगे हम नहीं जाते। क्योंकि कोई कहेगा कि इतने बड़े सेठ जी और कुटिया में। हम महल को कुटिया बोल जरूर देते हैं ये मुनिवर मेरी कुटिया में आयें। लेकिन कुटिया में नहीं जायेगें। पर रामचन्द्र जी को जरा भी मान/गर्व नहीं था उन्होंने तो बल्कि कुटिया में मुनिराजों के आहार भी कराये।

अष्ट मदों को चूर्ण करने वाले उदाहरण सुनें। जब हम बड़े लोगों को देखते हैं, गुणवानों को देखते हैं, बड़ी वस्तु देखते हैं तो अपने मद भी चूर्ण हो जाते हैं। उन वस्तुओं और बातों का चिन्तन इस भाव से जरूर करना चाहिए कि उनके माध्यम से हमारा मद चूर्ण हो जाय। हम लोग केवल अपने से नीचे वालों को देखते रहते हैंऔर मद करते रहते हैं। जब कभी यदि ज्ञान का मद हो तो सोचें कि बड़े-बड़े ज्ञानी गणधर देव, बड़े-बड़े केवल ज्ञानी मुनिराज जी अभी इस भूमि पर विराजमान हैं। कहाँ? यहाँ नहीं हैं पर इसी मध्य लोक में विदेह क्षेत्र में बीस तीर्थंकर विद्यमान हैं। पाँच विदेह हैं और प्रत्येक में चार-चार तीर्थंकर हैं। तीर्थंकरों के साथ कितने केवलज्ञानी, मनः पर्ययज्ञानी, ऋद्धिधारी आदि वहाँ पर विराजमान हैं और हम मद कर रहे हैं। इसी भारत में भी अनेक आचार्य, मुनिगण विराजमान हैं जो ज्ञानवान हैं और उनसे बड़ा समझकर हम मद कर रहे हैं।

ध्यान रखें कर्म का उदय आता है तो एक क्षण में क्या से क्या हो जाता है। एक क्षण में अज्ञानी भी बन सकते हो, इसलिए कभी मद नहीं करना चाहिए। ज्ञानादि जो भी मद हो रहे हैं ये सब अज्ञानता में हो रहे हैं। हम से कहीं अधिक धनवान, रूपवान, सुन्दर लोग होगें बड़े-बड़े ऋद्धिधारी, तप करने वाले भी होंगे, जब वे सामने आते हैं तो हमारा मद कपूर की भांति नष्ट हो जाता है। मैं सबसे छोटा

हूँ तो भी अच्छा है, मैं कुछ भी नहीं हूँ, मैं तुच्छ हूँ, मैं सूर्य के सामने दीप के समान हूँ, मैं जुगनू के समान हूँ, ऐसा विचार करना चाहिए। मैं सबसे बड़ा हूँ, मेरे समान कोई नहीं है आदि ऐसे विचार नहीं करना चाहिए, नहीं तो कभी भी मार्दव धर्म को प्राप्त नहीं कर सकते। आचार्यों ने आगम में कहा है कि इस संसार में मानी मनुष्य धर्म को नष्ट करता है, समीचीन गुणों को गँवाता है, विनय नहीं करता है, लोक मर्यादा को छोड़ देता है, न सुख से सोता है न खाता है। इसी प्रकार मानी मनुष्य मान के वश कष्ट में पड़कर निरन्तर पाप का संचय करता रहता है। मान श्रेष्ठ आचरण को नष्ट कर देता है, जैसे मेघ सूर्य के तेज को लुप्त कर देता है, मान विनय आदि गुणों को नष्ट कर देता है। बाह्य संयोगों के प्रति बढ़ते हुए मान को कृश कर आत्मा के स्वरूप को समझें और जीवन में विनम्रता को विकसित करें।

एक राजा था, उसे इतना अधिक मान था कि मैंने जो वैभव प्राप्त किया है वह इतना अधिक है कि मेरे समान वैभव किसी का नहीं है और न आज तक हुआ होगा। मैं इतना बड़ा चक्रवर्ती बना हूँ। यह बड़ी खुशी की बात है। सबको आनन्द की बात है और ऐसा ही आनन्द व खुशी मेरे नाम से सबको होती रहे, मेरा नाम अजर-अमर हो। इसलिए मेरा नाम यदि कोई ऐसे पर्वत पर लिखा जाय जिसे सब पढ़ते रहें, मेरे गुण गाते रहें, वह राजा इस प्रकार से विचार करने लगा। ये सामान्य सी बात है, हमें थोड़ा बहुत ही कुछ प्राप्त हो जाय तो फूले नहीं समाते सभी को दिखाने का भाव जाग ही उठता है। विचार करो आप लोग भी तो ऐसा सोचते हैं कि नहीं। कभी कुछ दान दे दिया, मंदिर में कुछ निर्माण कार्य करा दिया तो अपने नाम का एक पटिया, एक बोर्ड तो लगना ही चाहिए अजर अमर रहेगा नाम। पर कब तक? कौन जानेगा आपको? ज्यादा से ज्यादा आपकी एक दो पीढ़ी जानेगी इसके बाद कोई नहीं जानेगा। शायद किसी को आपका चेहरा भी याद नहीं रहेगा कि आप कौन थे, किसी को मालूम ही नहीं पड़ेगा।

कितने नाम लिखें हैं तीर्थ क्षेत्रों पर। उन्हें कौन पड़ते हैं। ज्यादा से ज्यादा आपके परिवार में आपका बेटा हो तो वह कभी कदाचित् जायेगा तो पढ़ लेगा। ऐसा ही है तो बेटे के लिए घर में लिखकर चले जाओ। मंदिर का बोर्ड घर में लगा दो तो वह रोज पढ़ेगा। मंदिर में तो कभी-कभी पढ़ेंगे। तो भाई घर में लगाओगे तो उसे देखकर कभी-कभी उस तीर्थ क्षेत्र पर जाने की भावना तो आयेगी। वहाँ लगाने से

क्या होगा? दूसरों को तो कुछ नहीं। हालांकि दूसरों को कभी उस वजह से कुछ तकलीफ भी हो जाए, लेकिन अपनी मान बड़ाई के लिए सब कुछ करते रहते हैं। जिससे शिक्षा मिले ऐसे काम करना चाहिए। अपने घर में उसका इतिहास रखें ताकि उसे पढ़कर लोगों को शिक्षा मिल सकें। अच्छा है विचार करें, कषाय न करें वैसे अगर कोई आपसे कहे बिना ही कहीं योग्य जगह पर नाम लिख दें तो शिक्षाप्रद होने से बुरा नहीं है।

उस चक्रवर्ती राजा ने सोचा कि चक्ररत्न तो मिला है, अच्छा है। ऐसा काम करते हैं कि अपने एक सेवक को आज्ञा देकर भेजते हैं कि जाओ तुम और एक बहुत विशाल पर्वत है उस पर नाम लिखकर आओ। सेवक को बुलाया और कहा कि एक पर्वत है वहाँ पर तुम्हें जाना है और मेरा नाम इस प्रकार लिखवाना है कि एक चक्रवर्ती हुआ, वह छः खण्ड का अधिपति था, अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी, छियानवें हजार रानियाँ, चौदह रत्न आदि-आदि यह सब सम्पदा जिसके पास थी, ऐसा नाम लिखवा कर आओ। सेवक राजा की आज्ञा लेकर चला गया। सेवक वहाँ पहुँच जाता है, जाकर के पूरे पर्वत को देखता है तो देखता ही रह जाता है, वह वहाँ कहीं भी नाम नहीं लिख पाता है और वापिस लौट आता है।

सेवक आकर के राजा से कहता है कि हे राजन् यह कार्य तो बहुत ही कठिन है। राजन् पूछते हैं, क्यों कठिन है? पर्वत तक नहीं पहुँच पाये क्या? सेवक कहता है कि गया तो था, सेना भी साथ में गयी थी, सब कुछ हुआ, लेकिन पर्वत पर नाम नहीं लिख सके। क्यों? इतना विशाल काय पर्वत है, किसने मना किया है? कोई बाधा ला रहा है क्या? मैं चलूं क्या? नहीं राजन् आपको चलने की आवश्यकता नहीं हैं और यदि आप चलना ही चाहते हैं तो चलिए देख लीजिए। और पर्वत की ओर चल दिये। वहाँ पहुँच कर सेवक ने कहा हे स्वामिन! देखिए यहाँ पर्वत पर तो आपका नाम लिखने की जगह ही नहीं हैं। क्यों, जगह क्यों नहीं है? हे स्वामिन् देखिए आप जैसे एक नहीं असंख्यात हो चुके हैं और अगर अनन्त भी कह दें तो कोई बड़ी बात नहीं है। यहाँ पर तो पहले से ही असंख्यात नाम लिखे हुए हैं, लिखने की जगह ही नहीं है। पहले से। हाँ । क्या सब चक्रवर्तियों के ही नाम है, हाँ, अच्छा, इतने चक्रवर्ती हो गये क्या मेरे समान वैभव वाले? हाँ, ओह, चलो देखते हैं, निकट जाकर जब स्वयं देखा तो आश्चर्य चकित रह गया। सोचने

लगे उसी समय, धिक्कार है मेरे जीवन को। मैं सोच रहा था कि मेरे समान कोई नहीं हुआ, लेकिन मेरे समान तो कितने हो चुके हैं कि नाम लिखने तक को जगह नहीं है। अब क्या करूँ? किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो विचारने लगा।

राजा सोचने लगा कि नाम लिखने की परम्परा तो है, लिखना भी पड़ेगा। कैसे लिखें। अरे किसी का नाम मिटवाये देते हैं और सेवक से बोला कि मिटा दो किसी का नाम और अपना लिख दो देखो भइया, ऐसे मिटाने वाले भी कितने हो गए होंगे। अरे ऐसे मिटाने वाले भी अनन्त हो गए, चल रहा है काम अनादि काल से ऐसे ही। ये मिटाना भी तो एक प्रकार से द्वेष है। राग-द्वेष चल रहा है। देखो, दूसरे का नाम मिटाया जा रहा है और अपना नाम लिखवाया जा रहा है। मान खण्डित हो जाता है कि मैं ही सबसे बड़ा हूँ, ऐसा नहीं है, मेरे समान बहुत हो चुके हैं। मान खण्डित हुआ, लेकिन दूसरे के नाम से द्वेष नहीं गया और स्वयं के नाम से राग तो बना ही रहा। आखिर किसी का मिटाकर के लिख ही दिया अपना नाम। जानते हो जहाँ नाम लिखा था ऐसा वह वृषभगिरि पर्वत है, वहाँ पर नाम लिखने की परम्परा चलती है प्रशस्ति चक्रवर्ती द्वारा लिखवायी जाती है। विचार करो, यह सब संसार में होता रहता है। अपने को इससे हटकर ऊपर की ओर देखना है जिससे अपना मान गलेगा और हम मार्दव धर्म को प्राप्त कर सकेंगे।

ज्ञान, जाति, पूजा, रूप, कुल, ऐश्वर्य, शील, बल, तप, ऋद्धि इनका मद करने वाला और दूसरे को नीचा दिखाने वाला प्राणी नीच गोत्र का बंध करता है। मान कषाय के वशीभूत हो प्राणी नीच गति को प्राप्त होता है। आचार्य शुभचन्द्र स्वामी ने ज्ञानार्णव में लिखा है-

कुल जातीश्वरत्वादि, मद विध्वस्तबुद्धिभिः ।
सद्यः संचीयते कर्म, नीचैर्गति निबन्धनम् ।।19/48।।

कुल, जाति, ऐश्वर्य, रूप, बल, विद्या और धन इन आठ भेदों से जिनकी बुद्धि बिगड़ गयी है, अर्थात् मान करते हैं, वे तत्काल नीच गति के कारक कर्म का संचय करते हैं। लेकिन अपने पद के अनुरूप अपने निश्चित सुयोग्य नियम, कानून तथा कर्त्तव्यों में सजग रहते हुए उससे च्युत नहीं होना, उसे योग्य समय से दृढ़ता, निर्भयता पूर्वक पालन करना स्वाभिमान कहलाता है जो तद्पदवी अनुरूप लोगों को ग्राह्य है। मान का शमन और विनय का उदय ही मार्दव है। आचार्य वट्टकेर

स्वामी ने मूलाचार में और आचार्य शिवकोटि महाराज ने भगवती आराधना ग्रन्थ में कहा है- **विणओ मोक्खद्दारं** विनय-विनम्रता, मृदुता, मोक्ष का द्वार है। यह विनम्रता, मृदुता प्राणी को मोक्ष के द्वार पर ले जाकर खड़ा कर देती है। विनय से ही संयम, तप, ज्ञान, व्रत-नियम हैं, बिना विनय मृदुता के न तो ज्ञान है, न संयम, व्रत नियम, न तप और न मोक्ष का द्वार है, न मोक्ष का मार्ग है। मार्दव धर्म में पाँचों इन्द्रियों को संयमित करने की शक्ति है। यह धर्मशीलता का सहारा है इसी के माध्यम से धर्म आगे बढ़ता है, आचार्य आदि सर्व संघ एवं पंचपरमेष्ठियों की आराधना इसी के द्वारा सम्भव है। जहाँ कोमलता नहीं होगी, विनम्रता नहीं होगी, मृदुता नहीं होगी वहाँ कोई व्रत, तप, ध्यान, स्थिर नहीं रह सकेंगे।

किरातार्जुनीयं में उल्लेख किया गया है कि धनुष जितना झुकता है, उतना ही दूर बाण फेंकता है। इसी प्रकार जो विनम्र होता है वह अपने प्रत्येक कार्य में सफल होता है। यदि गर्व का मर्दन करना है, जन्म-मरण से छुटकारा पाना है तो उत्तम मार्दव धर्म का पालन करना होगा। मार्दव धर्म संसार का नाश करने वाला है। दया धर्म का मूल है और उद्दण्डता का नाश करने वाला है। मृदुता मय परिणामों से मानव और सभी से सुखी व आदरणीय बनता है। जिस प्रकार मिट्टी में जल के समिश्रण करने से वह कंकड़ पत्थर से भी रहित होने पर शुद्ध बनती है सुकोमल बनती है तभी वह सुन्दर कुंभादि का आकर प्राप्त कर पाती है उसी प्रकार जब मानी प्राणी धर्म रूपी जल से पवित्र कोमल बनता है तभी उसे भी सुन्दर गुणमय भगवान जैसा स्वरूप प्राप्त होता है। परन्तु अपना बड़प्पन दिखाना, आत्म-प्रशंसा करना और दूसरों की निंदा आदि करना ये मान कषाय के रूप हैं। दूसरों को नीचा दिखाना या तिरस्कृत करना इससे आपसी झगड़े तनाव बढ़ते हैं जिससे अशांति का वातावरण निर्मित होता है, वात्सल्य भाव का अभाव होने से तथा आन्तरिक शुद्धि के अभाव में नैतिक पतन हो जाता है। हम छोटी-छोटी बातों पर उत्तेजित न हों, मन में थोड़ी सी सहनशीलता आ जाय, विनम्र और विनयशील बनना सीख लें तो हमारा जीवन सुखमय हो जाय। लोक व्यवहार में कदापि अपनी नम्रता को नहीं छोड़ना चाहिए। मार्दव आत्मा का परिणाम है। आत्मा की गहराई में उतरने पर स्वयं ही मान कषाय के अभाव में मार्दव धर्म गुण का आनन्द स्वयमेव अनुभव में आता है।

उत्तम आर्जव धर्म

माया का अभाव ही आर्जवता का सद्भाव

मङ्गलाचरण

नमः श्रीवर्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां, यद्विद्या दर्पणायते ।।

सद्धर्म बन्धुओं,

आज दशलक्षण पर्व का तृतीय दिन है और आज उत्तम आर्जव धर्म है। नियमसार ग्रन्थ की तात्पर्यवृत्ति में कहा है कि– '**ऋजोर्भावः आर्जवः**' सरलता का भाव आर्जव है। सरलता के माध्यम से जिसे पाया जा सकता है वह आर्जव धर्म है। यह धर्म किसी स्वार्थ भावना वश नहीं जीवन में ख्याति लाभ पूजा अथवा संसार परिभोगों की प्राप्ति के लिए नहीं बल्कि सम्यग्दर्शन के साथ इस धर्म का अनुपालन किया जाता है। उत्तम आर्जव धर्म में सरलता और ऋजुता के साथ माया, छल, कपट और बेईमानी को छोड़ते हैं। जिस आत्मा के अन्दर आर्जव धर्म होता है, वहाँ उस आत्मा के प्रति सभी लोगों को पूर्ण विश्वास जाग्रत होता है। उसे सब लोग आदर्श पुरुष मानते हैं और जहाँ धोखेबाजी, छल–कपट पलता है वहाँ मनमुटाव बुराईयाँ उत्पन्न होती है, यहाँ सरलता भी ऊपर से आरोपित होती है। कहा जाता है कि सरल बन जाना यद्यपि बहुत सरल है किन्तु सरल हो पाना बड़ा जटिल है। सरलता वहाँ होती है जहाँ मन में सत्य के प्रति निष्ठा, सत्य मार्ग पर चलने हेतु संकल्पित, ईमानदारी से जीवन जीने के अभ्यस्त हों, उनकी सरलता आन्तरिक होती है। आर्जव धर्म का अपने अन्तस् से बड़ा सम्बन्ध होता है जिसे ऊपर से समझना कठिन सा प्रतीत होता है।

आर्जव का अर्थ परिणामों की सरलता है। जितना सरल अपने जीवन में हम बन पाएँगे उतना ही परमात्मा के समीप हम होते जाएँगे। जो व्यक्ति पर पदार्थों में रुचि रखते हैं वे संसार में भटकते रहते हैं और जिन्होंने स्वयं अपने आप पर और परमात्मा पर विश्वास किया, वे इस संसार से मुक्त हो जाते हैं। परमात्म की साधना कराने वाला ऐसा उत्तम आर्जव धर्म हम अपने जीवन में पाकर के अपने जन्मों–

जन्मों के पाप धो करके मुक्ति की ओर गमन कर सकते हैं। इस धर्म से हमें अपने मन–वचन–काय की एकता प्राप्त होती है। आप लोग कविवर द्यानतराय जी कृत दशलक्षण पूजन में पढ़ते हैं–

मन में हो सो वचन उचरिये।
वचन होय सो तन सों करिये।।

जो मन में होता है, वही वचन में होना चाहिए और वही क्रिया में भी झलकना चाहिए, तभी इस धर्म का पालन होता है। इन पंक्तियों का मतलब यह कदापि नहीं लेना कि जो हमारे मन में आये उसे ही हम कहने लगें और तद्रूप वैसा ही करने लगें, इससे तो नुकसान ही हो जायेगा। सोचो यदि किसी के मन में मरने मारने का भाव आ गया और गुस्से में उसके मुँह से निकल गया तो फिर क्या होगा? और यदि कार्य रूपमें परिणत कर दिया फिर तो.....? इसलिए भइया मान लो ऐसा यदि विचार आ भी जाय तो उसे शीघ्र ही मन से निकाल देना चाहिए। इन पंक्तियों का मतलब यही है कि मन–वचन–काय की एकरूपता अच्छे कार्यों की हो। जो सत्पुरुष होते हैं, वे सरल होते हैं, छल कपट भाव नहीं रखते हैं। धर्मात्माओं ने कहा है –

मनस्यैकं वचस्यैकं कर्मण्यैकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।।

जैसा मन होता है, वैसा वचन में भी होता है, और जैसा वचन में होता है, वैसा आचरण में लाते हैं वे महात्मा होते हैं। परन्तु मन में एक बात हो, वचन में अन्य बात हो और आचरण में उससे विपरीत बात हो वे दुरात्मा, दुर्जन होते हैं। अच्छे और बुरे की यही पहचान है। ऋजुता का जो भाव है, सरल जो भाव है, जो भाव स्वाभाविक है वह है आर्जव। मन, वचन, काय की एकरूपता और सरलता ही महानता का आधार है। ऋजुता से रहित व्यक्ति में जो असद्गुण होते हैं जिनसे वह वक्र चलता है तथा अपने विषाक्त स्वभाव से दूसरों को हानि पहुँचाता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में आर्जव धर्म के संदर्भ में कहा है–

'योगस्यावक्रता आर्जवम्'।। 9/6।।

योगों की अवक्रता का नाम आर्जव धर्म है। मन–वचन–काय की

कुटिलता नहीं होना सो आर्जव धर्म होता है और जहाँ पर कुटिलता पाई जाती है वहाँ पर आर्जव धर्म कदापि नहीं होता है। आचार्य कार्तिकेय स्वामी ने कीर्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ में आर्जवधर्म के विषय में कहते हैं-

जो चिंतेई ण वंकं ण कुणदि वंकं ण जंपदे वंकं।
ण य गोवदि णियदोसं अज्जव धम्मो हवे तस्स ।। 396।।

जो मन से कुटिल चिंतन नहीं करता, कुटिलता पूर्वक बोलता नहीं है, न ही कुटिलता के कार्य करता है और जो अपने दोषों को भी नहीं छिपाता वह आर्जव धर्म का धारक होता है। क्योंकि मन-वचन-काय की सरलता का नाम आर्जव धर्म है। जब कुटिल वक्र परिणाम से चित्त दूर हो जाता है तब कुटिल वक्र परिणाम स्वयं छूट जाते हैं और वहीं से आर्जव धर्म शुभारम्भ होता है। कुटिल परिणाम जब तक विद्यमान रहते हैं, तब तक आर्जव धर्म नहीं हो सकता। आर्जव धर्म से मुनिवर शुभोपयोग से शुद्धोपयोग की ओर गमन करते हैं। जो अपने दोष को छिपाता है उसकी पाप वृत्ति निरन्तर बढ़ती जाती है और पाप; छिपाने से बढ़ता है तथा बताने से घटता है। पापों को गुरु के सामने बखान कर प्रायश्चित्त लेने से तो आत्मा निर्मल हो सकती है। एक छोटा सा दृष्टांत है-

एक राजा था। वह बड़ा धर्मात्मा था, उसके अन्दर त्याग-संयम की पवित्र भावना थी। अपने परिवार में वह बहुत प्रेम-वात्सल्य भी रखता था। वह विचार करता रहता था कि अभी राज्यपथ है सब कुछ संभालना है, बहुत कुछ कार्य अभी आदर्श पूर्ण करना है और उसके बाद मोक्षमार्ग को भी प्राप्त करना है। देखेंगे जीवन के किसी क्षण में हमें भी वैराग्य हो जाय, ऐसी भावना राजा के अन्दर थी।

एक बार एक सज्जन पुरुष ने राजा को एक बहुत सुन्दर फल उपहार में प्रदान किया और कहा राजन् यह बहुत मीठा अनमोल, दुर्लभ फल बड़ा ही स्वादिष्ट है इसे आप स्वीकार करें। राजा ने वह फल ले लिया और राजभवन में अपने कक्ष में गया । फल खाने के पहले राजा ने सोचा इतना सुन्दर अनोखा दुर्लभ फल मैं अपनी प्रिया रानी को दिए देता हूँ। राजा चूँकि रानी से बहुत स्नेह करता था इसलिए उसने वह फल अपनी प्रिय रानी को दिया। रानी ने राजा से वह फल लेकर रख लिया। रानी सोचने लगी अब में इस फल का क्या करूँगी मेरे लिए जो सबसे

प्रिय है उसे दे देती हूँ। रानी का सर्वाधिक प्रेम अपने राज्य के मंत्री पर था, उसने मंत्री को शीघ्र बुलवाया और वह फल दे दिया गुप्त रूप से। देखिए राजा का प्रेम तो रानी पर था पर रानी का प्रेम राजा से न होकर राजा के मंत्री से था। रानी का प्रेम राजा पर उस तरह नहीं था जिस तरह राजा का था किन्तु राजा समझ नहीं सकता था कि रानी का प्रेम मेरे ऊपर नहीं है क्योंकि रानी का प्रेम राजा से वास्तविक रूप में नहीं बनावटी रूप में था।

मंत्री ने रानी से फल ले लिया और उसने भी वह फल अपनी पत्नी को न देकर, स्वयं न खाकर के एक वेश्या को दिया क्योंकि वह वेश्या से बहुत प्रेम करता था। देखो भइया जगत कैसा है? फल लेकर अब वेश्या सोचती है कि इतना अच्छा श्रेष्ठ फल मुझे मिला है। यह मेरा सौभाग्य है, पर इसे मैं नहीं खाती हूँ मैं इसे राजा को भेंट कर देती हूँ क्योंकि उत्तम वस्तुओं का भोगता राजा ही होता है। यह फल चलो राजा को दे ही आती हूँ। वह वेश्या राजमहल में आती है और कहती है राजन् यह बहुत उत्कृष्ट फल मुझे मिला है, यह हर जगह नहीं मिलता है, आपके योग्य ही है, इसीलिए आपको भेंट रूप में देने आयी हूँ। प्रधान और सबसे उत्तम वस्तुओं पर प्रथम राजा का ही अधिकार होता है। हम लोग कहाँ इनका उपभोग कर सकते हैं। आप इसे ले लीजिए, स्वीकार करिए, बड़े भक्तिभाव से लायी हूँ। वेश्या ने वह फल राजा के आगे किया। राजा ने फल ले लिया और लेकर ज्यों ही देखा तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। यह फल तो हर जगह मिलता ही नहीं है, यह तो मेरे पास आया था मैंने तो रानी को दिया था, वेश्या के पास कैसे पहुँच गया? इस बात की जानकारी लेनी चाहिए। किससे पूछूँ? क्यों न वेश्या से ही पूँछ लेता हूँ कि तुम्हारे पास यह फल कहाँ से आया? और राजा ने वेश्या से पूछ ही लिया।

वेश्या ने कहा क्या बताऊँ राजन् । आप से छुपा भी नहीं सकती आप हमारे राजा हैं रक्षक हैं। यह फल तो मुझे मंत्री ने दिया है। राजा ने कहा अच्छा मंत्री के पास से आया है, ठीक है, मंत्री को बुलाओ। मंत्री आया और उससे राजा ने पूछा, ये फल तुमने वेश्या को दिया है, जो तुम्हारे पास कहाँ से आया? मंत्री सोचने लगा, अब क्या बोलें, उसे सिर से पैरों तक पसीना आ गया, सारा बदन डर से कांपने लगा, अब तो मेरी मृत्यु निश्चित है लगता ऐसा ही है, अब क्या होगा, मेरा यह रहस्य कैसे खुल गया? कुछ नहीं बतायेंगे तो मुसीबत, बतायेंगे तो भी मुसीबत, अब

करें तो क्या करें? बताना ही पड़ेगा, शायद हो सकता है कि राजा मुझे अभय दान दे दें, छुपाना नहीं चाहिए इस तरह विचार करते हुए मंत्री राजा से बोला – हे राजन् जो कुछ भी हो जाय, आप हमें कुछ भी दण्ड दें, स्वीकार करता हूँ सहर्ष, लेकिन इस बात को आपसे नहीं छुपा रहा हूँ, यह फल तो मुझे महारानी से प्राप्त हुआ।

इतना सुनते ही राजा के तन मन में आग सी लग गयी। हे भगवन् ! यह क्या हुआ। मैंने जिसको अपना माना था कि ये मेरे लिए सबसे प्रिय है और मुझसे सबसे अधिक प्रेम रखती होगी किसी अन्य से नहीं, पर यह क्या? जो मेरी अर्द्धांगनी है वही मुझे धोखा दे रही है। यहाँ प्रेम दिखलाती है कि आपके अतिरिक्त अन्य मेरा कोई नहीं है लेकिन पीछे से क्या करती है? धिक्कार है इस संसार को। अब किस पर विश्वास करें। रहस्य खुल गया। रानी को बुलवाया। रानी ने आकर जब यह सब देखा तो समझ गयी कि अब तो रहस्य खुल गया, जाने क्या होगा। मायाचार तो रहता ही है आप सभी जानते हैं। रोना-धोना प्रारम्भ हो गया बहाने बनाना और बताना होने लगा। राजा ने सोचा और कहा किसी भी तरह का बहाना नहीं चलेगा और तुम्हारे कहने से मैं किस-किसको दण्ड दूं। यह तो हमी नहीं समझ पाये थे, वास्तविक भूल तो हमारी है।

स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं, देवो न जानाति कुतो मनुष्याः ।

अर्थात् स्त्रियों का चरित्र और पुरुषों का भाग्य तो देव भी नहीं जान सकते हैं फिर मनुष्यों की सामर्थ्य ही क्या हो सकती है। धर्मभावना शतक में लिखा है कि –

नारी का चारित्र तथा वह पुरुषों का जो भाग्य रहा।
नहीं समझते, देव जहाँ पर, फिर क्या मानव भाग्य रहा।।
मेघ क्रिया बिजली-सम नारी, में चंचलता वास करे।
मायाचारी जिस नारी में, कैसे नर विश्वास करे।।23।।
नृप को दे सुन्दर फल कोई, राजा रानी को देता।
रानी देती मंत्री को वह, मंत्री वेश्या को देता ।।
वेश्या यह सौभाग्य समझकर, वह फल देती राजा को।
ऐसा कपट देख नारी का, त्याग उपजता राजा को।।24।।

आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी ने स्वयं कहा है कि मायाचार स्त्रियों के पास

स्वभाव से होता है। मायाचार मनुष्य को पतनोन्मुखी बनाता है। सारे बैर-विरोध मायाचार से ही प्रारम्भ होते हैं। विश्व की समस्त बुराईयों का भण्डार मायाचार है। राजा ने जब समझा कि अरे! हमारे साथ कितना मायाचार पल रहा है, धोखा हो रहा है। मेरा इतना श्रेष्ठ कुल, कुटुम्ब, परिवार और उसमें ऐसा कार्य घट रहा है। ऐसे परिवार और जीवन दोनों को धिक्कार है। राजा को बस अब मोक्षमार्ग दिखाई देने लगा, यही एक सच्चा मार्ग है। राजा को संसार मार्ग हेय लगने लगा। सारा राज्य, वैभव, भोग-विलास आदि फीके लगने लगे। अन्तस् में एक ही चिन्तन धारा प्रवाहित होने लगी कि :-

अनन्त जन्मों से भोगा यह, वैभव वही पुराना है।
अगर आठ कर्मों को मारूँ, शिव का मिले किनारा है।।25।।

जगत में सब स्वार्थ के साथी हैं, कोई अपना नहीं है संसार में, अपना ही सपना है। ये स्वप्न भी कर्माश्रित होने से अपना नहीं न संसार का कोई पदार्थ अपना है। जो हमारे से विलग नहीं होता, वही अपना है और जिस-जिस का संयोग होता है, उस-उसका वियोग निश्चित है। उसको अपना कहना ही सपना है। यह संसार स्वार्थी है, सभी स्वार्थ के साथी हैं। देख लो रानी ने मुझे धोखा दे दिया, अब किस पर विश्वास करूँ? अब तो इस जगत पर विश्वास करना ठीक नहीं है। हम अब उन पर विश्वास करेंगे, जो निस्वार्थी, निष्कपटी हैं, जिन्होंने सारा परिग्रह छोड़ दिया है और मोक्षमार्ग को अपनाया है, वे ही मेरे साथी होंगे। उन्हें ही अपना साथी बनाऊँगा, उनकी ही शरण में जाऊँगा और उनसे ही धर्म का रास्ता, मुक्ति का रास्ता पूछूंगा, वे ही मुझे सच्चा रास्ता बतायेंगे, अन्य कोई भी व्यक्ति हमें सच्चा रास्ता नहीं बता सकता। यदि कोई बतायेगा तो उस रास्ते में धोखे निश्चित हैं क्योंकि वहाँ स्वार्थ पलता है। यह चिन्तन राजा के हृदय मस्तिष्क में चलने लगा कानों में गूंज सुनायी देने लगी **लाखों शत्रु मारे मैंने, नहीं आठ को मारा है** और इन्हीं विचारों से उसे वैराग्य हो गया। ये कुटिल भाव, कपट-छल-मायाचार जीवन को कितना विकृत कर देते हैं और इसे छोड़े बिना आर्जव धर्म की सरलता, सहजता हमारे जीवन में छूने को नहीं मिलती है यह बात राजा को समझ में आ गयी। जैसे कि-

राजा का वह त्याग देख लो, धैर्यवान कहलाता है।
धर्म आर्जव पूर्ण प्राप्त कर, आतम शुद्ध बनाता है।।

कर्मशत्रु भी डरकर जिससे, दूर सदा को होते हैं।
भव बंधन से छुटकारा हो, शिवसुख में रत होते हैं।। 26।।

जो मन-वचन-काय से निरन्तर मायाचारी करता है वह किस बुद्धिमान के द्वारा विश्वास करने योग्य होता है? किसी के द्वारा नहीं। छुपाया हुआ दोष भी काल पाकर प्रकट हो ही जाता है, जिस प्रकार जल में फैंका हुआ मल दीर्घकाल तक नीचे स्थिर नहीं रहता अर्थात् प्रकट हो ही जाता है। आर्जवधर्म के विषय में पद्मनंदी पंचविंशतिका ग्रंथ में आचार्य कहते हैं-

हृदि यत्तद्वाचि बहिः फलति तदेवार्जवं भवत्येतत्।
धर्मो निकृतिरधर्मो, द्वावहि सुरसद्मनरक पथौ ।। 89।।

जो विचार हृदय में है, वही वचन में रहता है तथा वही बाहर फलता है अर्थात् शरीर से भी तदनुसार ही कार्य किया जाता है, यह आर्जव धर्म है। इसके विपरीत दूसरों को धोखा देना अधर्म है। स्वर्ग अर्थात् देवगति सरलता का सोपान है तो कुटिलता पशु गति का पथ है। सरल परिणामों से ऊर्ध्वगति की प्राप्ति होती है, कुटिल परिणामों से चर्तुगति रूप संसार में भ्रमण होता है। जो मायाचारी करके अनेक उपायों द्वारा दूसरों को ठगते हैं, वे महामोही स्वर्ग और मोक्ष के सुख से अपने आप को वंचित रखते हैं। किसी के हृदय कपाट में छिपे मायाचारी भावों को समझ पाना अत्यंत कठिन है। मायाचारी करने वाला बाहर से तो बड़ा ही सरल विनम्र प्राणी प्रतीत होता है, परन्तु अन्दर से वह कुछ और ही होता है। जैसे खजूर ऊपर से कोमल और अन्दर से बड़ा कठोर होता है वैसा ही मायाचारी होता है। कहा जाता है कि अगर -

उन्नतं मानसं यस्य, भाग्यं तस्य समुन्नतं।

जिसका मन उन्नत हो गया, सरल शांत सुदृढ़ हो गया तो उसका जीवन-भाग्य भी श्रेष्ठ हो गया। जन्म, जरा, मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए मन का सरल होना नितान्त जरूरी है। दोषों को अतिशय छिपाने पर भी वे कालान्तर में प्रकट हो ही जाते हैं इसलिए दोषों को करने के बाद कभी छिपाना नहीं चाहिए अपितु प्रायश्चित्त आदि लेकर के उन दोषों से निवृत्ति पाने का प्रयास करना चाहिए। कहा है - **पापं कृत्वा न गुह्येत गुह्यमाने विवर्धते** अर्थात् पाप करके

छिपाना नहीं चाहिए, छिपाया हुआ पाप शांत नहीं होता दिनों-दिन/नित प्रतिदिन वह बढ़ता जाता है। आत्म निरीक्षण करके अपनी कमी को स्वीकारना, सबसे बड़ा कठिन कार्य है। परन्तु इतना ध्यान अवश्य रखें कि अपने दोषों का उद्घाटन भी हर किसी के समक्ष नहीं करना चाहिए, जो हमारे मोक्ष-मार्गदर्शक हैं हितैषी हैं, अपने से बड़े अनुभवी गंभीर और शास्त्रवेत्ता गुरु हैं उन्हीं के समक्ष अपनी आलोचना आदि कर आत्मशुद्धि कर सकते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी उत्तम आर्जव धर्म के विषय में वारसाणुपेक्खा ग्रंथ में कहते हैं।

मोत्तूण कुडिल भावं, णिम्मलं हिदएण चरदि जो समणो।
अज्जव धम्मं तइयो, तस्स दु संभवदि णियमेण ।। 73।।

जो श्रमण/मुनि कुटिल भाव को छोड़कर निर्मल हृदय से अथवा हृदय की शुद्धता के साथ आचरण करता है, चारित्र का पालन करता है, उसके आर्जव धर्म प्रकट होता है या रहता है। कहने का मतलब यह है कि जो आत्मा कुटिल भावों को छोड़कर मायाचार को छोड़कर निर्मल हृदय के साथ आचरण करता है उस आत्मा के पास नियम से आर्जव धर्म वास करता है अन्य के पास नहीं। उसका मन इतना शुद्ध होना चाहिए कि बस; **मन में होय सो वचन उचरिये। वचन होय तो तन सों करिये।** यह बात जीवन में उतर जाय । अगर सोचना अलग, बोलना अलग और क्रिया करना अलग है, तो; देख लो; यह आर्जव धर्म अपने जीवन में कभी भी नहीं आ सकता। मायाचार-छल-कपट जहाँ चलता रहता है वहाँ आर्जव धर्म का वास नहीं होता है, यह बहुत पवित्र वस्तु है, इसके वास के लिए अपना हृदय बहुत स्वच्छ सुन्दर बनाना पड़ता है। हम ध्यान करते हैं तो ध्यान हेतु अपने मन रूपी वेदी पर प्रभु को विराजमान करना चाहते हैं। वे प्रभु दशधर्मों का अपने जीवन में पालन कर प्रभु बने हैं उनके पास अनन्त गुण हैं, ये दशधर्म भी उनके गुण रहे हैं, रहेंगे भी, लेकिन ध्यान रखना उनको तो इन धर्मों के माध्यम से फल मिल चुका है। उनके उपदेश में ये धर्म रहते ही हैं। सारे जगत में जो कुछ है उनके केवलज्ञान से बाहर नहीं है, इसीलिए हम बोलते हैं कि ऐसे धर्म भी उनके पास हैं। यदि हम ऐसे प्रभु को अपने अन्तस् में बसाना चाहते हैं, इन धर्मों को अपनी आत्मा वेदी पर बिठाना चाहते हैं तो अपनी आत्मा रूपी वेदी को साफ सुन्दर स्वच्छ बनाओं। उनमें ये कषायें नहीं रहना चाहिए। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायें अगर रहेगी तो उस मन रूपी वेदी पर

हम इन प्रभु को नहीं बिठा सकते उनका ध्यान नहीं कर सकते। हमारा ध्यान कभी निर्मल नहीं हो सकता, ये बात हमें हमेशा याद रखनी चाहिये।

मन की निर्मलता से ही माया समाप्त होती है। सरलता सीमातीत है, कुटिलता सीमा युक्त है। छल, कपट, धोखा को कितना भी छिपाने का प्रयास किया जाये वह किसी न किसी रूप में प्रगट हो ही जायेगा। इस जगत में धोखा खाना बुरा नहीं हैं पर धोखा देना बहुत बुरी बात है। क्योंकि कोई धोखा देता है अपने पूर्व जन्म के पापकर्म के फल से जिसे हमें कर्ज चुकाने के समान समतापूर्वक सह लेना चाहिए। कर्मभूमि में देखो धोखा, छल, कपट है, परिणामतः तिर्यंच और नरक गति का द्वार सदैव खुला है, पर भोगभूमि में कोई भी छल, कपट, व्यसन, दुराचार नहीं है, वहाँ के मनुष्य व तिर्यंच ऋजु परिणामी, सरल विचार के होते हैं तो सीधे मृत्यु उपरांत देवगति ही जाते हैं। सहजता निष्कपटता, सरलता का ही ये परिणाम है।

आप सभी जानते हैं क्या रामायण की रचना क्यों हुई? छल-कपट ही इस कथा का कारण बन गया। राम कथा का नाम रामायण है। प्रसंग उस समय का है जब राजा दशरथ अपनी रानी के साथ रथ में बैठ कर जा रहे थे। रथ बहुत तेजी से भाग रहा था, आकस्मात् उस रथ के पहिए को संभालने वाली कील निकल जाती है। रानी इसको देख लेती है। अपनी चिंता तो रानी को हुई ही साथ में राजा की भी चिंता हुई और उसने चलते हुए रथ के पहिए में कील की जगह अपने हाथ की अंगुली लगा दी और चलते हुए उस रथ को संभाला। राजा को जब यह रहस्य मालूम हुआ तो वे अति प्रसन्न हुये और प्रसन्नता में ही रानी से कहा-मांग लो वरदान! जो कुछ भी चाहिए, हम देने को तैयार हैं। तुमने मेरा जीवन बचाया है। पर राजा ने यह नहीं सोचा था कि वरदान की जगह हमारा धर्म तो संकट में नहीं पड़ जायेगा? आखिर वहीं हुआ कि वह वरदान तो पैंडिंग में रह गया, उधारी वाला काम हो गया। जब हम चाहेंगे तब दिया जाये। बस इसमें ही भूल-चूक हो गयी। इस बात से यही सीख मिलती है कि कोई भी रहस्य की बात ऐसे ही सामान्यतः नहीं छोड़ना चाहिए, अभी जो मांगो सो ठीक, बाद वाली कोई बात नहीं ऐसी बात होनी चाहिए थी। नहीं तो मौंके का फायदा उठाकर लोग अपने धर्म की हानि भी कर सकते हैं। और हुआ भी यही।

एक बार वे राजन् उस छल से छले ही गये आखिर। जब मौका आया तब इतना ही हुआ था कि भगवान का गंधोदक देने में थोड़ी देर हो गयी। यह प्रश्न खड़ा

हो गया कि अन्य रानियों को गंधोदक पहले दे दिया और हमें बाद में क्यों? मैं तो राजा की सबसे प्रिय रानी हूँ, राज्य संचालन में भी साथ देती हूँ फिर भी मुझे बाद में गंधोदक दिया गया। बस इतने में ही आग सुलग गयी। भाव आ गया कि मेरी तो कोई पूछ नहीं रह गयी। राजा दशरथ इस संसार से विरक्त हो रहे थे, वे राज्य छोड़ने वाले थे और उनकी मोक्षमार्ग पर जाने की तैयारी चल रही थी यह बात रानी को मालूम थी। देखो समय का चक्र राजन् को कष्ट होना था उन रानियों को भी कष्ट होना था, कैसा स्वार्थ जागा। अब वरदान मांगलो, हाँ मांग लो। राज्य देने का तो अवसर था। रानी ने राजा से कहा - मेरे पुत्र भरत को राज्य दिया जाए और इसी के साथ राम को वनवास। इतना सुनते ही राजन् बहुत व्यथित हुये और कहा अरे ये क्या बात हुई तुम्हारे पुत्र को राज्य यह बात तो ठीक है वह भी मेरा ही पुत्र है पर राम को वनवास, यह कोई अच्छी बात नहीं हुई, वह भी तो मेरा पुत्र है, उसे कम से कम राज्य में तो रहने दो। रानी ने कहा-बस मेरा तो यही वर है, मुझे यही चाहिए; ऐसा है तो ठीक है और उन्होंने कहा-

रघुकुल रीत सदा चली आयी, प्राण जायं पर वचन न जायी ।। रामचरितमानस।।

अब तो यही करना पड़ेगा। आँखों से अश्रु धारा बह निकली, बहुत आकुल-व्याकुल और व्यथित हुए। इसी छल कपट से सारी रचनाएं हो गयीं। फिर तो छल ही छल राम को जीवन में देखने को मिला। आगे एक और प्रसंग है।

एक बार एक स्त्री जंगल में आयी। वह भी राजपरिवार से थी लेकिन उसके पास कोई धार्मिक संस्कार नहीं थे। उसने आकर के इन महापुरुषों को अपने रूप लावण्य सौन्दर्य से आकर्षित कर लुभावाना चाहा। अपने तरह-तरह के हाव भाव प्रकट करके बहुत प्रयास किये, पर वे महापुरुष उस से प्रभावित नहीं हुए। जब वे बहुत प्रयास के बाद भी आकर्षित नहीं हुए तो उस स्त्री ने अपना दोष छुपाते हुए उन पर दोष मढ़ने के लिए अपने सूपा जैसे नखों से शरीर को नोंच लिया, वस्त्रों को अस्त-व्यस्त कर लिया तथा भाई के पास जाकर के कह दिया कि वन में दो वनवासी ठहरे हैं, उन्होंने मुझे सताया है और देखों तो भइया मेरी यह दशा की है इतना कहते हुए जोर-जोर से रोने लगी। भाई ने जब बहिन की यह अवस्था देखी तो उसे क्रोध आया और चल दिया जंगल की ओर बदला लेने। जाते हुए साथ में अपने मामा को भी ले गया जो अपनी मायाचारी से बहुत से रूप धारण कर लेता था।

दोनों जंगल में पहुँच जाते हैं। मामा अपना हिरण का वेश बना करके जो देखने में बिल्कुल स्वर्ण के समान लगता था कुटिया के आस-पास उछलने लगा। भांनजे ने राम नाम की चादर ओढ़ी और साधु का वेश धारण कर लिया। हिरण से कहा कि तुम इन दोनों पुरुषों को दूर जंगल में ले जाओ, इतने में इनकी स्त्री का हरण कर लूंगा। हिरण कुटिया के बाहर उछलता कभी कूदता और कभी भागता है, कभी रुक जाता, तरह-तरह की चेष्टाएं कर रहा था वह स्वर्ण मृग। इतना प्यारा मृग लग रहा था, सीता का ध्यान उस पर गया। वह सोचने लगी कि क्यों न हो इसे अपनी बगिया में रख लें। उन्होंने अपने पति राम और देवर से कहा यह हिरण हमें चाहिए, इसे पास से छूना चाहते हैं। हाँ क्यों नहीं, अभी लाते हैं। रामचन्द्र जी चले जाते हैं आगे जाकर पकड़ने के लिए, वे सोचते हैं थोड़े आगे जाकर पकड़ लेंगे, पर वह जंगल से काफी दूर निकल गया। रामचन्द्र जी को गये हुए काफी देर हो गयी और वे नहीं आये, तब सीता और लक्ष्मण को उनकी चिंता होने लगी। सीता ने देवर लक्ष्मण से कहा कि तुम्हारे अग्रज अभी तक नहीं आये, जरा तुम जाकर के तो देखो कहाँ रह गये हैं। लक्ष्मण को थोड़ी शंका हो जाती है वे सोचते हैं जंगल में भाभी अकेली है, थोड़ी व्यवस्था करके जायँ और उन्होंने एक रेखा कुटिया के सामने खींच दी। इस रेखा के अन्दर कोई प्रवेश नहीं कर सकता अगर कोई करेगा तो आग लग जायेगी, वह भस्म हो जायेगा।

रेखा खींच कर लक्ष्मण चल दिए। जंगल में बहुत दूर चले जाते हैं, पर उन्हें अग्रज दिखते ही नहीं है, चले जा रहे हैं, बहुत दुःखी होते हैं, आँखों में आँसू आ जाते हैं। रास्ता तो यही है, कहाँ से जायेंगे, लौट के कहां जायेंगे। राम जब आगे बढ़कर जाते हैं वहाँ देखते हैं कि हिरण जो था वह आकाश में उड़ गया, तब उन्हें समझ में आया यह तो छल कपट है। अब घर की ओर लौटें। इतने शीघ्र थोड़े ही आ सकते थे जितनी देर जाने में लगी, उतनी ही देर आने में लगेगी। कोई विद्याधर थोड़े ही थे कि उड़कर आकाश मार्ग से आ जायें, ये तो भूमिगोचरी थे। थोड़ा धैर्य रखकर आगे बढ़े। अनुज और अग्रज मिल जाते हैं। अग्रज अनुज से पूछते हैं तुम यहाँ, वहाँ तुम्हारी भाभी अकेली होंगी तो अनुज कहते हैं- रेखा खींचकर आया हूँ, कुछ नहीं होगा, दोनों चल दिए।

यहाँ कुटिया में सीता अकेली रह जाती हैं। वह साधु का वेश बनाये तैयार

ही था और लक्ष्मण के जाते ही भिक्षाम् देहि, भिक्षाम् देहि कहते हुए कुटिया के सामने खड़ा हो गया। सीता कुटिया में थी। उसने साधु की आवाज सुनी। अरे कोई साधु आया है, सबको दान देना है, कोई साधु भूखा नहीं जाना चाहिए, दान देना तो गृहस्थ का कर्तव्य है, लेकिन एक बंधन बांधकर गये हैं देवर जी। मना किया है कि बाहर नहीं जाना है, तो ऐसा करती हूँ कि अन्दर बुलाकर दे देती हूँ। सीता ने उस साधु से कहा - आप अन्दर आइये भोजन लीजिये। वह साधु बोला; नहीं! मैं किसी के घर में प्रवेश नहीं करता, क्योंकि उसने लक्ष्मण को रेखा खींचते हुए देख लिया था इसलिए वह बाहर ही खड़ा रहा। सीता सोचने लगी अच्छा देखो कितने अच्छे साधु हैं ये किसी के घर में प्रवेश नहीं करते हैं। सीता पुनः बोली तो इसमें क्या है; आप आइये न! आप तो साधु हैं, आपके अन्दर तो कोई विकार है नहीं; आप आइये! ऐसा बार-बार कहा सीता ने, वह कहता है कि नहीं; जहाँ अकेली महिला होती है वहाँ हम प्रवेश नहीं करते। देखो भइया मात्र महिलाओं के पास मायाचार होता है ऐसा नहीं है, पुरुषों के पास भी मायाचार होता है, पर बहुलता की दृष्टि से महिलाओं के पास कहा गया है।

चलो; हम ही बाहर चलकर भिक्षा दे देते हैं ऐसा विचार कर सीता पात्र में आहार लेकर आती है, बस; उस पतिव्रता नारी ने ज्यों ही अपनी वस्तु भिक्षा में देनी चाही त्यों ही उस वेशधारी साधु ने कहा नहीं मुझे ये नहीं चाहिए, मैं तो तुझे ही ले जाऊँगा और उसने हाथ पकड़कर उसे उठा लिया। अरे ये क्या? मेरा शील, मेरा धर्म, मेरे पति, मेरे देवर उनका क्या होगा, यह क्या कर दिया तुमने। नहीं-नहीं। मुझे बचाओं, मुझे बचाओं, रक्षा करो, रक्षा करो। बहुत चिल्लाती है। णमोकार मंत्र पढ़ती है। उस साधु से कहती है मेरा शीलव्रत है मुझे छोड़ दो, पर वह तो विद्याधर था, विमान में बिठाकर ले जाता है। विमान में बैठते ही अपना असली रूप प्रकट कर देता है। वह था लंका पति रावण। उसने सीता से कहा देख लो मेरा यह असली रूप है। नहीं-नहीं हम नहीं देखेंगे, हमने तो साधु समझा था स्वादु नहीं। नीची दृष्टि किये रही और रोती रही। अपनी रक्षा के लिए कहती रही। सहायता के लिए पुकार रही थी तब एक पक्षी तिर्यंच प्राणी था उसने देखा तो उसे चिंता हो गयी, एक महान पतिव्रता नारी का हरण। उसे सहन नहीं हुआ, वह शीघ्र आया और आकर बार-बार लंकापति रावण को चोंच से प्रहार करता है। और कहता है कि हे पापी इसे छोड़। हे

दुरात्मा! इस सती को छोड़ दे। बार-बार प्रयास करता है, किन्तु एक शक्ति हीन प्राणी कब तक क्या कर सकेगा, तिर्यंच है सबल के सामने कब तक टिक पाता। रावण ने तलवार उठाई और उस पक्षी के पंख काट दिये। अपंग हो गया वह तथा गिर पड़ा नीचे। इस परिस्थिति में वह णमोकार मंत्र का चिंतन करने लगा। पहले एक बार गुप्ति-सुगुप्ति मुनिमहाराज के चरणों का गंदोधक था उसमें लौट गया था इस कारण से उसके पंख स्वर्ण के समान हो गये थे, उसने अणुव्रत तक धारण कर लिये थे। सारी अशुद्ध वस्तुओं का त्याग कर दिया था। अब वह उन्हीं मुनिमहाराज जी का ध्यान करते हुए अंतिम स्वाँस ले रहा था।

कुटिया में आकर जब अग्रज राम और अनुज लक्ष्मण ने देखा तो वह खाली सूनी पड़ी थी। दोनों आश्चर्य चकित रह गये, ये क्या हो गया? अब क्या होगा? दोनों की आँखों से गंगा जमना बहने लगी। रामचन्द्र बोले मुझे चिंता उसके व्रतों, शील की अधिक है, किस मायाचारी ने क्या किया? इतना बड़ा छल-कपट हो गया। मायाचारी ने स्वर्णमयी हिरण का रूप धारण किया। लक्ष्मण बोले कैसे भाभी बाहर आ गयी, उन्हें किस प्रकार बुलाया होगा अन्दर तो कोई प्रवेश नहीं कर सकता था। अब क्या करें। चलें ढूढ़ते हैं। दोनों भाई जंगल में ढूढते-ढूढ़ते आखिर एक जगह उन्हें वह जटायु पक्षी घायल अवस्था में मिला। उसे उन्होंने देखा तो उन्हें और भी दु:ख हो गया। अरे! यह प्राणी तो कितना पुण्यवान प्राणी था, इसने तो मुनि महाराज का दर्शन किया था, उनके चरणों में त्याग भी किया था। इस प्राणी को भी नहीं छोड़ा। नियम से इसने रक्षा की होगी तभी तो इसे शायद यह बाधा हुई है, चलो पहले इसको देखते हैं और उस प्राणी के कान में णमोकार मंत्र पढ़कर सुनाया। ऐसी थी निस्वार्थ भावना। देखो कैसी भावना अपने हृदय में होनी चाहिए। अपने भाई बन्धु के प्रति हम लोग ऐसे भाव रखें, अन्य प्राणी भी हमारे समान हैं, वे भी सुख-दुख का अनुभव करते हैं। हम लोग उनका हित करने के लिए हमेशा तत्पर रहें।

मैं जब-जब भी इस कथा का स्मरण करता हूँ तो अन्दर से एक संवेदना होती है कि प्राणी का क्या धर्म है और आज क्या कर रहे हैं लोग। अपने परिवार को भूल रहे हैं उनके हित के विषय में सोचते ही नहीं। गुरु लोग अपने परिवार, अपने कुटुम्ब को छोड़कर के वे समाज के हित के विषय में विचारते हैं तथा हित का कार्य करते हैं। णमोकार मंत्र तथा सल्लेखना के भाव सह अंतिम क्षण में उसने प्राण छोड़

दिये, उसे ऐसा महान संयोग मिला कि स्वर्ग की प्राप्ति हो गयी। विचार करो कितनी श्रेष्ठ कथा है। कहाँ-कहाँ कुटिलता होती है उसके परिणाम का फल क्या होता है? इस बारे में हम पद्मपुराण पढ़कर जानें। पद्मपुराण के कुछ ऐसे विशिष्ट संदर्भ हैं जो अपने जीवन में बहुत परिवर्तन लाते हैं।

एक समय वह था जब राम के द्वारा सीता को वापिस लाने के प्रयास चल रहे थे। सीता के शील धर्म की रक्षा करनी है, युद्ध निश्चित हुआ। युद्ध आरम्भ होकर चल रहा था, बीच में पर्व के दिन आ गये और पर्व के दिनों में युद्ध को रोक दिया गया। पहले ऐसे युद्ध होते थे कि पर्व के दिनों में हिंसा नहीं होती थी, युद्ध रोक दिये जाते थे। यह पर्व आठ दिनों का अष्टाह्निका पर्व था। ऐसा पुराण में वर्णित है। अष्टाह्निका पर्व में सभी भगवान की पूजा-अर्चा, व्रत उपवास में लीन हो जाते हैं। पहले इतनी शक्ति होती थी कि बहुत पाप कर्म करके लोग सप्तम नरक पृथ्वी तक जाने की क्षमता रखते थे और एक तरफ पूर्ण कर्मों की निर्जरा भी कर सकते थे कि वे मोक्ष के द्वार भी खोल सकते थे।

जो कम्मे सूरा सो धम्मे सूरा

कर्म में भी सूर होते थे और धर्म में भी सूर होते थे। आज के लोग न तो कर्म के सूर हैं न धर्म के सूर हैं, केवल शून्य हैं और कुछ नहीं। कर्म में सूर नहीं तो धर्म में तो सूर हो जाओ। धर्म में तो आगे बढ़ो, उसको भी शक्ति नहीं बची क्या? शक्ति कैसे आये? बैटरी चार्ज के समान दशलक्षण करो, षोडशकारण करो, रत्नत्रय करो। चाबी भरना पड़ती है फिर शक्ति स्वयं आ जाती है। एक महीने की चाबी के समान षोडशकारण व्रत सम्पन्न होते हैं। साधु समागम भी आप सभी को चाहिए उसी से शीघ्र एनर्जी आती है। उस अष्टाह्निका पर्व में लंका के शांतिनाथ जिनालय में एक आत्मा आठ दिन का उपवास लेकर बैठी थी, उसका एक ही आसन में ध्यान चल रहा था। उपसर्ग होने पर भी वह ध्यान में लीन थी। सारे नगर पर विपत्ति आयी तो बच्चे आये, पत्नी आ गयी, गाँव-नगर से लोग आ गये। बचाओं! बचाओं! कहने लगे फिर भी कुछ नहीं हुआ। शांतिनाथाय नमः चल रहा है। ऐसा आसन, ऐसा ध्यान कोई मुनि बनके लगाता तो शायद केवलज्ञान हो जाता ऐसा पुराण में कहा है। लेकिन उसे धर्म ध्यान भी नहीं हो रहा है। अरे! मुंह में राम बगल में छुरी

वाली बात है न। 'राम-राम जपना पराया माल अपना' ऐसा ध्यान लगाया था। 'एक्शन इज करेक्ट इंटेशन इज राँग' - कि अच्छी लेकिन अभिप्राय तो बहुत बुरा था कि बगुला से भी खराब, वह तो खुलेआम करता है पर यह तो मायावी बन वासना की पूर्ति के लिए ऐसा कार्य कर रहा है जो महारौद्रध्यान है, परिग्रहानंद कि मुझे वह पर-वस्तु कब मिले। मुख में तो भगवान का नाम था लेकिन मन में क्या? क्रिया प्रशस्त थी लेकिन अभिप्राय गलत था। आखिर उसका फल उसे प्राप्त हुआ। वह बहुरूपणी विद्या की सिद्धि को बैठा था इसलिए सिद्धि तो हो गयी।

बहुरूपणी विद्या से तात्पर्य उस विद्या से अनेक रूप बना सकते हैं। लंकापति रावण ने विद्या के बल पर बहुत रूप बनाये पर जीवन में वे कुछ नहीं कर पाया। राम से जब युद्ध होने लगा तो उस विद्या ने भी साथ छोड़ दिया विद्या भी कहती है कि मैं दुराचारी का साथ नहीं देती। ऐसे राम जैसे सदाचारी व्यक्तित्व का कुछ नहीं कर सकती मतलब उनसे मैं मुकाबला कैसे कर सकती हूँ, ये इतने महान पुरुष हैं, हम तो उनकी सेवा में ही जुटेंगे, तुम्हारा साथ नहीं देगें। सब विद्याएं उनके पास से चली जाती हैं और उसने जीवन से ही हाथ धो दिये। तो आखिर विचार करो कि ऐसा जीवन मन में कुछ है, वचन में कुछ है, काया में कुछ है ये मायाचार है। जो लोग ऐसा करते हैं उनका जीवन कैसा है यह आप जानें। राम ने बड़ी कठोरता के साथ रावण को शिक्षा दी लेकिन वे पवित्र थे, उनके अन्दर कोई छल नहीं था, लेकिन रावण ने राम-राम नाम की चादर ओढ़कर राम को ही दुःख के गर्त में डाल दिया। यह बगुला भक्ति या ध्यान आन्तरिक शुद्धि का कारण नहीं है किसी ने उचित ही कहा है कि -

तन पर तो है सफेदी मन हो रहा है गन्दा ।
क्या करेगी जमुना अरु क्या करेगी गंगा ।।

आर्जव धर्म का अपने अन्तस् से बड़ा सम्बंध होता है, जिसे बाह्य रूप से समझना कठिन प्रतीत होता है। कभी-कभी माता-पिता, शिक्षक आदि ऊपर से कुछ कटुता का प्रयोग करें तो भी उनकी उद्धार की भावना में आंतरिक पवित्रता गर्भित होती है। रामायण का ही एक प्रसंग है। रामचन्द्र जी और सीता के विषय में कथानक आता है। श्री रामचन्द्र जी सीता से कहते हैं चलो तीर्थयात्रा करने। उनके मन में क्या था? वचन में क्या था? मन में था छोड़ने/त्यागने का विचार और वचन में

तीर्थ यात्रा यह मायाचारी हुई कि नहीं। जबकि वे तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, तद्भव मोक्षगामी अवश्य थे, लेकिन ध्यान रखना कि सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबंधी माया के चक्र में नहीं उलझता, समस्याओं में फंसकर के तीन कषायों संबंधी चर्चा उसके हो सकती है। परिस्थितिवश अप्रत्याख्यानादि।

पद्मपुराण के रचनाकार ने रामचन्द्र जी के विषय में वर्णित किया कि उन्होंने यह नहीं कहा तुम्हें हम त्याग रहे हैं, देश निकाला दे रहे हैं बल्कि धोखे से वन में छुड़वा दिया। सीता की सरलता देखिए जब उनसे सारथी ने कहा कि माँ कुछ कहना है? उसे लगा शायद क्रोध करेगी, भला-बुरा कहेगी, पर यह सब कुछ नहीं हुआ। सीताजी के शब्द देखिए बड़े विनम्र भावों से कहती है - मेरे स्वामी का कोई दोष नहीं है। यह मेरे पापकर्म का उदय आया है। उनके निमित्त से यह कर्म निर्जरित हो रहा है। हाँ एक बात अवश्य कह देना कि लोकापवाद के भय से मेरे साथ मायाचारी की यात्रा की जगह मुझे वन में छुड़वा दिया, कहीं धर्म का मजाक कोई बनाने लगे, मखौल उड़ाने लगे, ढोंगी कहने लगे तो आप धर्म को नहीं छोड़ देना। जैसे मेरे साथ में धोखा किया, वैसा कहीं धर्म के साथ नहीं कर देना। संकट में घिरी एक नारी का धैर्य देखिए। मुनियों के लिए नहीं अपने स्वयं के लिए, अपने-अपने हृदय में झांककर देखना कि कितने सरल और सहज हैं हम, कहीं मायाचारी तो नहीं। सीता का तो पुण्य साथ में था। लव-कुश का जन्म हुआ। बाद में अग्नि परीक्षा भी दी। श्रीराम चन्द्र जी, लक्ष्मण और दोनों बेटे कहते हैं चलो घर चलो। वह कहती है अब घर नहीं अब तो वन ही सुहायेगा, मोक्षमार्ग पर चलो। वन में आर्यिका के व्रत ले कर तप किया नारी पर्याय को छेदकर स्वर्ग में प्रतीन्द्र बन गयी और निकट भविष्य में अपनी आत्मा को परमात्मा बना लेंगी। साहित्य इतिहास और प्रथमानुयोग इसका गवाह है कि जिन-जिन के कुटिलतायें आयीं, विकृतियाँ हुईं, उनकी दुर्गति हुई मोक्षमार्ग में मायाचारी नहीं चलती है। मायाचार के समान निन्दनीय पदार्थ नहीं है। कपटी मानव का व्रत पालन, तप, दान, पूजा, तीर्थाटन आदि करना निष्फल निरर्थक होते हैं। जो दूसरों को मायाजाल में फँसाने का प्रयत्न करता है, वह स्वयं उसमें फँस जाता है, जो दूसरों के लिए गड्ढा खोदता है, वह स्वयं नरक के गंभीर गड्ढे में गिरता है। माया शल्य हृदय में कील के समान चुभती रहती है। माया शल्य वाला व्यक्ति सदैव शंकित रहता है। कहीं मायाचार प्रकाश में न आ जावे,

इस भय से हमेशा डरता रहता है। अपराध होने पर उसे छिपाने का जितना प्रयास करते हैं उतने दुखी होते हैं।

जिस व्यक्ति के पास ईमानदारी नहीं होती, सरलता नहीं होती सहजता नहीं होती है समस्त गुण होते हुए भी वह व्यक्ति गुणों से रिक्त माना जाता है। आचार्यों ने शास्त्रों में लिखा है जो मायाचारी होता है, वह व्रत पालन नहीं कर सकता, वह तो व्रतों के उपदेश का खण्डन मण्डन करता है। वह उपेक्षा भाव से प्रश्न पर प्रश्न करता है कि व्रत करने से क्या होता है? व्रतों में क्या रखा है? बेकार अपने शरीर को कष्ट देना है। ऐसा व्यक्ति अपनी पापमय प्रमादी क्रियाओं के रक्षण के लिए सब व्रत-नियमों को खण्डित करता चला जाता है। यह मायाचार का प्रथम लक्षण है। जितनी भी हिंसात्मक कार्यवाहियाँ, विशाल युद्ध आदि होते हैं, वे सब मायाचार के कारण होते हैं। मायाचारी सर्वाधिक हिंसा करता है, कारण कि वह हिंसक-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता है। वह भाव और द्रव्य दोनों ही प्रकार की हिंसा करता है। समस्त व्यसन मायाचार से प्रारम्भ होते हैं। आचार्य वादिराज क्षत्रचूड़ामणि ग्रंथ में लिखते हैं- संसार में रहें और यह कहें कि मैनें मायाचारी त्याग दी है ऐसा कथन भी एक मायाचार है। प्रत्येक क्षेत्र में मायाचार है, इससे कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं है। संसार का विस्तार करने वाला मायाचार ही है। मायाचार की निंदा करते हुए कहा गया है-

कुशल जनन बन्ध्यां सत्य सूर्यास्त संध्यां।
कुगति युवति मालां-मोह मातङ्ग शालां॥
शम कमल हिमानी दुर्यशो राज-धानीं।
व्यसन शत सहायां दूरतो मुंच मायाम्॥

जो कुशल क्षेम उत्पन्न करने के लिए बन्ध्या है। सत्य रूपी सूर्य को अस्त करने के लिए संध्या है। कुगति रूपी स्त्री का स्वागत करने के लिए माला है, मोह रूपी हाथी की शाला है। प्रशम भाव रूपी कमल को नष्ट करने के लिए हिमानी- अर्थात् तुषारपात है, अपयश की राजधानी है और अनेक व्यसनों की सहायक है ऐसी इस माया को दूर से ही छोड़ देना चाहिए। आचार्य कहते हैं माया दुर्भाग्य को उत्पन्न करने के लिए माता के समान है, दुर्गति को बढ़ाने वाली है, मनुष्यों को स्त्री पर्याय प्राप्त कराने वाली हैं। इसलिए ज्ञानियों द्वारा माया छोड़ दी जाती है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में माया कषाय की स्थिति के लिए दृष्टांत वर्णित किये गये हैं। कहा है-

'वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तये य खोरप्पे।' (गो.सा.गा. 286)

माया चार प्रकार की होती है- बांस की जड़ के समान, मेढ़े के सींग के समान, गोमूत्र के समान और खुरपा के समान। अनन्तानुबन्धी कषाय का टेढ़ापन बांस की जड़ के सदृश होता है तथा उसे धारण करने वाला स्वयं भी उतना ही टेढ़ा हो जाता है। अर्थात् यह कषाय टेढ़ी-मेढ़ी अन्तहीन उलझन वाली मानी गयी है और ऐसी मायाचारी का फल तिर्यंच पशुपक्षी की पर्याय माना गया है। अप्रत्याख्यान कषाय मेढ़े के सींग के समान घुमावदार होती है इसमें बांस की जड़ से थोड़ा सा घुमाव होता है। प्रत्याख्यान कषाय का टेढ़ापन गोमूत्रिका के समान होता है तथा संज्वलन कषाय जन्य माया खुरपे के समान एक मोड़ वाली होती है। ऐसा व्यक्ति समस्त कषाय एवं उनके दोषों से मुक्त होने का प्रयास करता है। हमारी गति कर्म के अनुरूप विग्रह गति होती है। हमारी गति आत्मा के अनुरूप नहीं होती है। आत्मा के अनुरूप गमन करने के लिए टेढ़ेपन को समाप्त करना अवश्यंभावी है, इसके लिए आर्जव धर्म के प्रति अनुराग अत्यन्त आवश्यक है। माया के संदर्भ में आचार्यों ने कहा है कि-

जन्म भूमिरविद्यानामकीर्तिर्वास मन्दिरम्।
पाप पंक महागर्तो निकृतिः कीर्तिता बुधैः॥ 19/58 - ज्ञानार्णव

माया को अविद्या की जन्म भूमि, अकीर्ति का निवास गृहऔर पाप रूप पंक का महागर्त कहा है। गुप्त पाप रूपी कुष्ठ को प्रगट करने वाली है तथा कलह व तिरस्कार को प्रदान करने वाली है आसमान में बादल छा जाने से जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश भूमि पर नहीं आ पाता, उसी प्रकार माया के बादल आ जाने पर धर्म का प्रकाश आत्मा की भूमि पर नहीं आ पाता है। आगम में आचार्यों ने कहा है कि प्राणियों को मायाचारी के कारण स्त्री वेद, नपुंसक वेद, तिर्यंच गति एवं नीचगोत्र में प्राप्त होने वाले अपमान को अनेक जन्मों में भोगना पड़ता है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में मायाचारी का फल तिर्यंच पर्याय बतलाते हुए सूत्र लिखा है-

'माया तैर्यग्योनस्य' (6/16)

तिर्यंच गति के प्राणियों में मायाचारी अधिक होती है। इस बात के अनेक दृष्टांत हम सबके सामने दिखलाई देते हैं जैसे कि कौवा बहुत मायाचारी होता है। कोयल भी मायाचारी होती है। वह कौवे के समान रंग रूप आकार की होने से अपना फायदा उठाने की दृष्टि से अपने अंडे कौवे के घौंसले में रख देती है, स्वयं अपने अंड़ों की सेवा नहीं करती, जब अंडे फूट जाते हैं और उसमें से निकले बच्चे बड़े हो जाते हैं तथा आवाज से पहचाने जाने लगते हैं तब वे स्वयं ही वहाँ से उड़ जाते हैं। इस प्रकार मायाचारी के कारण कोयल के बच्चे कौवे के द्वारा पाले जाते हैं। कौवा उल्लू पक्षी को हानि या कष्ट पहुँचाने के लिए सूर्योदय का लाभ उठाता है क्योंकि उल्लू को सूर्योदय में दिखलाई नहीं देता है। बगुला पक्षी इतना मायावी होता है कि वह मछलियों को पकड़ने के लिए एक टांग पर आंखें मूंदे हुए ध्यानस्थ खड़ा रहता है और जैसे ही मछली आती है उसे अपनी चोंच में दबा कर उड़ जाता है। मायाचारी अनेक रंगों में, अनेक गुणों में व्यक्त होती है।

इस संसार में बस अपने-अपने सुख को सभी रोते हैं, चाहे पुत्र हों, चाहे पिता हों, चाहे कोई भी हों, सभी अपना-अपना सुख चाहते हैं। बेटा पिता जी पर केस डाल रहा है, पिता जी बेटे पर केस डाल रहे हैं। ऐसे ही एक सज्जन हमारे पास आये और बोले महाराज श्री हमारे पिता पुत्र में बटबारे को लेकर केस कर रहे हैं, पर हमारी इच्छा आपको आहार देने की है। मैंने उनकी बात सुनकर कहा-सीधे बाहर चले जाओ। ये क्या कर रहे हो तुम अपने परिवार में पिता जी ने जो कुछ दिया है सो ठीक,न भी दे तो भीख मांग लो इससे तो। इतना भी एहसास नहीं होता कि उन्होंने तुम्हें छोटे से बड़ा कर दिया, ये क्या कम है, इतना ही बहुत है। मैंने कहा नहीं ये बहुत गलत बात है, ऐसा नहीं होना चाहिए, इसको भूल जाओ, क्षमा करो और ये बैर-भाव छोड़ों, तभी तुम इसके पात्र हो सकते हो अन्यथा नहीं। इन व्यवहारों से समझ में आता है कि संसार कैसा है? कितना स्वार्थी है। ऐसे कई साक्षात् उदाहरण देखे जाते हैं जिससे हमारा वैराग्य और भी दृढ़ होता चला जाता है।

एक परिवार पास में ही रहता था। उस घर के मुखिया नौकरी का कार्य करते थे, रिटायर्ड हो गये थे, उन्हें पेंशन मिलने लगी जिससे उनका जीवन और घर-परिवार चलता था। अब वे वृद्ध हो गए थे उन्हें दमा की बीमारी थी। बहुत खाँसी आती थी। कफ भी बहुत आता था। उठना-बैठना चलना-फिरना मुश्किल

था, शरीर कमजोर हो गया था, लेकिन फिर भी जैसे-तैसे दीवार को पकड़ कर चल लेते। लाठी का सहारा लेकर यहाँ-वहाँ चले जाते। उनकी पत्नी इतनी स्थूल शरीर वाली मोटापे के कारण उठना-बैठना भारी था उसके जीवन में कुछ भी सेवा भावना नहीं थी मात्र स्वार्थ ही स्वार्थ था। जिसकी कमाई खा रही थी, जिससे जीवन निर्वाह हो रहा था, उसके प्रति कोई सेवा की भावना नहीं थी, किसी तरह का भी कोई आदर भाव नहीं था। पत्नी चूल्हे पर रोटी बनाने बैठी है और उसके पति आ जाते हैं, वे थोड़ी दूर बैठ जाते हैं। पत्नी थाली में दाल परोस देती है, पतली-पतली दाल आधी थाली में रहती है। रोटी बनाकर वह वहीं से बैठे-बैठे यू थाली में फेंकती है और कहती है लेओ खा लो। वह रोटी दाल पर गिरती है और दाल उछल कर उसके शरीर पर आ जाती है, वह देखते ही रह जाता। क्या सोचता होगा वह? अरे मैंने सब कमाई की, मेरी पेंशन तो ये सब लोग खा रहे हैं और मेरे प्रति ऐसा भाव। ऐसे रोटी फेंक कर देती थी वह कि देखने मात्र से इतनी मन में पीड़ा होती थी, तो उस खाने वाले को कैसा लगता होगा?

मैं सोचता था संसार ऐसा है, कभी किसी के साथ भी कोई ऐसा कर सकता है क्या? कर सकता है। कर्म किसी को भी नहीं छोड़ते। इन कर्मों को काटो भइया। किसको कर्म कैसे फल देंगे भरोसा नहीं है। ऐसा जीवन सबका हो सकता है और कई बार हुआ भी है। इस संसार में किसी-किसी को तो मक्खी भगाने वाला कोई नहीं मिलता। अन्त में रोते-रोते, चिल्लाते-चिल्लाते मर जाते हैं। इसलिए ध्यान रखो स्वार्थ का संसार है अपने-अपने सुख को सभी रो रहे हैं, कोई अपना नहीं है, अपना ही सपना है। किसी-किसी का कुछ पुण्य रहता है कि अन्तिम समय तक सेवा होती रहे, ऐसे लोग बिरले ही होते हैं, इसलिए त्याग-तपस्या-साधना करो। सल्लेखना से मरण करो सद्गति हो जाय, इस संसार की भटकन मिट जाय। जिस व्यक्ति ने यह स्वीकार कर लिया कि मेरा अच्छा-बुरा मेरे अपने पुण्य-पाप के अनुसार होता है, उसको मायाचार करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहा तदुपरान्त चारित्रमोह से संबंधित मायाचार के परिणाम गुणस्थानों के अनुसार मिटते चले जाते हैं। मायाचार को त्यागने पर ही सच्चे सम्यग्दृष्टि बन सकते हैं। जो मायाचार को नहीं त्यागते वे दूसरों के साथ-साथ स्वयं को भी हानि पहुचाँते हैं। धर्म की सरलता अनादिकाल से है और अनादिकाल तक रहेगी। सरलता शाश्वत, अविनश्वर,

स्वाभाविक होती है। उत्तम आर्जव धर्म में तीनों योगों की सरलता, सहजता और सत्पुरुषार्थ, सत्प्रयास पूर्वक जीने से आत्मिक स्वभाव आत्मिक गुणों को प्राप्त कर सकते हैं। जब पूर्ण ऋजु विचार हो जायेंगे तो ऋजु गति से सिद्धालय की सहज उपलब्धि हो सकेगी। अतः अपने स्वकीय स्वभाव को प्राप्त करें, स्वकीय गुणों, स्वकीय निधि को प्राप्त कर एक दिन परमात्मा की श्रेणी में आयें यही मंगलमयी भावना है। धर्म भावना शतक में कहा है-

जिनके सरल विनम्रादि गुण, चंद्र कलाओं सम-बढ़ते।
चेतन उनका निर्मल बनता, दर्पण-सम, ज्ञानी कहते॥
फिर धर्माजर्व पाकरके वे, उत्तम सुख में लीन रहें।
क्षण-क्षण में वे आतम रस का, निर्विकल्प हो पान करें॥ 18।।

❖

जैसा सोचें वैसा ही हम, वचन, क्रिया में करें सदा।
नहीं छुपाएँ अपराधों को, धर्म-मार्ग से चलें सदा॥
ऐसा करने वाला भवि वह, आर्जव धर्मी कहलाता।
रहता सबका विश्वासी वह, उत्तम कीर्ति को पाता॥ 28।।

❖

मायाचारी तिर्यक् गति में, वा निगोद नारक में भी।
दुःख पाता कष्टों को सहता, कुमरण से वह भव में ही॥
माया त्यागी आर्जवता से, बने पूज्य देवों का भी।
लोक पूज्य बनता तीर्थंकर, सुख पाता सिद्धों का भी॥ 22।।

उत्तम शौच धर्म

लोभ का त्याग है शुचिता का मार्ग

मङ्गलाचरण

स चन्द्रमा भव्य कुमुद्वतीनां विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेपः।
व्याकोशवाङ्न्याय मयूख मालः पूयात्पवित्रो भगवान्मनो मे।।

सद्धर्म बन्धुओं!

'शुचिर्भावः शौचम्' पवित्रता के परिणाम / भाव होना उत्तम शौच धर्म है अर्थात् शुचिता का जो भाव है वह शौच धर्म कहलाता है। शरीर में ममता रहित भाव होना एवं यह मेरा है ऐसी बुद्धि का नहीं होना उत्तम शौच धर्म कहलाता है। शरीर सम्बन्धी लोभ का त्याग ही समस्त लोभ के त्याग का मूल कारण है। शरीर के उपकार के लिए बन्धु आदि में लोभ होता है। अतः पर वस्तुओं को छोड़ मन की शुद्धि के बिना शौच धर्म; नहीं होता है। शुचिता; उत्तम शौच धर्म, शुचि मतलब पवित्रता, स्वच्छता, शुद्धता, निर्लोभता, मन भी निर्मल, वचन भी निर्मल, तन भी निर्मल, जहाँ देखो तहाँ निर्मलता चेतनता भी निर्मल, ऐसी निर्मलता तो लोभ को त्यागने पर ही प्राप्त हो सकती है। अतिलोभ का त्याग और धर्म व धर्मात्माओं से ग्लानि को छोड़ना शौचधर्म कहलाता है।

संसार में पर पदार्थों के प्रति जो आसक्ति है, वही लोभ का कारण है। शौच धर्म का सम्बन्ध तो आत्मा की शुद्धता से आत्मा की पवित्रता में है, लोक व्यवहार में शरीर की बाह्य शुद्धता भी मान्य है यह भी बहुत आवश्यक है, तन की पवित्रता के साथ मन की पवित्रता भी चाहिए। अपने मन को पवित्र बनाने से अपनी आत्मा पवित्र होती है। मन को पवित्र कैसे बनायें? मन को पवित्र बनाने के लिए जिन कारणों से हमारा मन अपवित्र हुआ है, अपावन हुआ है, उन कारणों को विराम देना यही एक उपाय है। स्वार्थ बुद्धि से धर्म करना, रोगी, गरीबों और तप-ध्यान करने वाले साधुओं से घृणा करना अपनी आत्म-शुचिता व पवित्रता को नष्ट करना है। शौच का अर्थ बाह्य शुद्धिमात्र नहीं है। उत्तम शुद्धि तो आन्तरिक शुद्धि ही है। अन्तरंग शुद्धि तत्त्वज्ञान से सम्भव है। पूर्ण शुचिता न केवल बाह्य परिग्रह त्याग से

सम्भव है बल्कि अन्तरंग परिग्रह त्याग से सम्भव है। शौच धर्म के विषय में आचार्य श्रीपूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में कहते हैं-

लोभ प्रकाराणामुपरमः शौचम्। 6/12

लोभ के प्रकारों का त्याग करना सो शौच धर्म है। लोभ अनेक प्रकार का होता है। मात्र धन का ही लोभ है, ऐसा नहीं है। नाम, ख्याति, पूजा, रूप, पद, लाभ आदि अनेक प्रकार का लोभ होता है। कोई धन के लोभ में पड़ा है, तो कोई रूप के, कोई शरीर के, सांसारिक सामग्री के, कोई पद-पैसा के इन सभी प्रकारों को छोड़ना, त्याग करना सो शौच धर्म कहलाता है। अति अर्जन करना और सोचना कि इससे हम धर्म कर लेगें, यह इस अपेक्षा से तो ठीक है, जो लोग अधिक अर्जन करते हैं और विसर्जन कुछ करते नहीं। खूब कमाते हैं लेकिन खर्च कुछ करते नहीं, एक अपेक्षा से यह ठीक नहीं है। किस अपेक्षा से ठीक नहीं है? आचार्य पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश ग्रंथ में कहते हैं कि-

त्यागाय श्रेयसे वित्त, मवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलिम्पति॥16॥

जो निर्धन, पुण्यप्राप्ति होगी इसलिए दान करने के लिए धन कमाता या जोड़ता है, वह 'स्नान कर लूंगा' ऐसे विचार से अपने शरीर को कीचड़ से लपेटता है।

त्याग के लिए निर्धन धन का अर्जन करता है, वह सोचता है कि मैं धर्म कर लूंगा, तीर्थयात्रा कर लूंगा, चौका लगा लूंगा, देवपूजा कर लूंगा,आदि -आदि अनेक तरह की बातें सोचता है पात्रदानादि के पुण्य से पाप को नष्ट कर डालूंगा इसलिए मैं धन को कमा रहा हूँ। अगर ऐसा जो सोचता है तो उसका सोचना गलत है। आप सोचेंगे इसमें क्या गलत है? यह तो अच्छा है न, कि आगे मैं धर्म करूंगा इसके लिए कमा रहा हूँ। तुमने अभी ये नहीं जाना है कि धन कमाते समय कितना आर्त-रौद्र ध्यान होता है, कितना धर्मध्यान छूट जाता है और कितनी कषाय करना पड़ती है, कितना मानसिक क्लेष होता है। इस बात को हम नहीं जानते हैं और हम विचार करते हैं कि अच्छा होगा जब वह त्याग करेंगे, कोई बड़ी बोली ले लेंगे, पटिया लगवा देंगे, चौका लगायेंगे, तीर्थयात्रा को जायेंगे, मुनि, आचार्यों के संघ में दर्शनों को जायेंगे, संत समागम करेंगे आदि ये सब सोचते हैं तो आचार्य कहते हैं

कि तुम्हें इन सब को करने की आवश्यकता क्यों है? अगर तुम ऐसा सोचते हो कि धन इन सबके लिए कमाना जरूरी है, तो कहते हैं कि कोई आवश्यक नहीं है। तुम भले ही कुछ न करो। तुम्हारे पास थोड़ा है, जो है उसके द्वारा अपना काम चला लो, जितना दान होता है, कर लो; पूजा की शक्ति है तो पूजा कर लो। जितनी शक्ति है बस अपना जीवन चला लो और धर्म ध्यान कर लो। जो पंच पाप हैं उनका त्याग करो। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये छोड़ दिये तो सबसे बड़ा धर्म हो गया। पंच पाप को छोड़ने में कोई पैसे की जरूरत नहीं। महाव्रती बनें, अणुव्रती बनें। तिर्यंच भी अणुव्रती हो जाते हैं, वे कहाँ चौका लगाते, तीर्थयात्रा करते लेकिन फिर भी कोई-कोई अणुव्रती होते हैं। पंचम काल में भी हो सकते हैं, लेकिन बहुत कम। चतुर्थ काल में तो बहुत होते थे। स्वयंभूरमण द्वीप में रहने वाले बहुत से तिर्यंच अणुव्रती होते हैं। विचार करो हम लोग क्या सोचते हैं कि बड़ा धर्म कर लेंगे, इसलिए पहले मायाचारी से धन कमा लें और मंदिर में बोलते हैं कि

हे भगवन्! हमने, अवगुण बहुत किये।
जब से कलम रखी कागज पर, दस के बीस किये॥

ऐसा कार्य किस काम का है कि तुमने मायाचार, लोभ से, दूसरे को ठगा सब कुछ पाप किया। हिंसा भी हुई, झूठ भी हुआ, चोरी भी हुई, परिग्रह भी हुआ, अब्रह्म भी हुआ, क्योंकि पांचों इन्द्रियों व सभी कषायों से अब्रह्म होता है। ऐसा नहीं है कि मात्र स्पर्श-रसना से ही अब्रह्म होता है। अठारह हजार शीलों के भेद से जान सकते हैं। अब्रह्म सब जगह जुड़ा हुआ है, तुम थोड़े ब्रह्म से बाहर हो तो अब्रह्म ही है। आत्मा से बाहर जाएं सो अब्रह्म ही है। बहुत सूक्ष्म परिभाषा है। धर्म की आवश्यकता उसको है, पुण्य करने की आवश्यकता उसको है जिसने पाप किया है और जो पापों से मुक्त हो जाता है उसे पुण्य करने की आवश्यकता नहीं है। जो पाप करता है उसे पुण्य करने की आवश्यकता है, जो पापों से मुक्त हो जाता है उसे पुण्य क्या करना? पुण्य तो अपने आप होता है ये बात अलग है। निर्जरा भी होती है, पुण्य भी होता है। ऐसा चिन्तन तो बहुत कम लोग कर पाते हैं। ध्यान रखो पापों से मुक्त होने का जो सोचते हैं वे सबसे बड़े ज्ञानी हैं। सीधे दीक्षा ले लेते हैं। मुनि बन जाते हैं, न तो दान देते हैं, न यात्रा करते हैं, बस पंच पापों से मुक्त हो गये। यह सबसे श्रेष्ठ है।

भइया कुछ लोग सोचते हैं कि यहाँ प्रवचन में बैठे रहेंगे तो वहाँ दुकान पर

ग्राहक आकर चले जायेंगे। प्रवचन से क्या होगा? दुकान से तो अच्छी कमाई करेंगे, फिर अच्छी एक, दो बोली ले लेंगे, महाराज जी के पास जायेंगे, चौका लगायेंगे इस तरह विचार करते हैं तो इन सब की कोई आवश्यकता नहीं है। अगर आपने हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, कुशील को छोड़ दिया यह सबसे बड़ा पुण्य एवं धर्म है। बड़े-बड़े दान देने से अच्छा है कि दस दिन तक दुकान न खोलें। भले कहीं मत जाना, दस दिन तक यहाँ जो ज्ञान मिल रहा है, ध्यान हो रहा है, साधना हो रही है उससे बड़ी और कोई बात नहीं हैं। हम सामने वाली वस्तु को छोड़करके और कोई दूसरी वस्तु पाने की सोचें तो यह कहावत ध्यान में जरूर रखें कि-

'आधी छोड़ पूरी को जावें, न आधी मिले न पूरी पावें।' हाथ में है जो वह भी जावे। तो भइया सामने जो मिला है उसे कर लें। नहीं-नहीं भइया घर के जितने सदस्य हैं वे सभी दुकान पर जायेंगे, कमाई कर लें फिर कुछ धर्म,कर्म, दान पूजा आदि करेंगे। यह तो दिखावा है, जो आत्मिक लाभ ले सकते हैं ले लो, नहीं तो वही है कि कीचड़ से लेप करके फिर स्नान करोगे, ये कीचड़ मत लेपो, यह सब धन कमाना कीचड़ से लेपना है। वहाँ दुकान पर तो सब झूठ बतलाते हैं कि; नहीं? कितना मुनाफा चाहिए, क्या-क्या करना पड़ता है? सब कुछ मिलावट है, टैक्स भी चुराते हैं। दस दिन मिले हैं अच्छा धर्म कमाना है देखो एक दुकान खुली है आत्मा के लाभ के लिए, जो जन्मों-जन्मों तक लाभ करायेगी। यह धर्म और पुण्य की दुकान खुली है, कर्म निर्जरा की दुकान खुली है और आप लोग दूसरी दुकान खोले बैठे हैं वह कर्मबंध की दुकान है। आप जैसे लोग कहते हैं अरे महाराजश्री ऐसे किया तो जीवन कैसे चलेगा? आचार्य कहते हैं कि धर्म करो तो सही। जीवन कैसे चलेगा? आप जान जायेंगे। धर्म कार्य कभी भी दु:ख नहीं दे सकता, कहाँ से वैभव आयेगा ये पता भी नहीं चलेगा पर इसके लिए विश्वास होना चाहिए। धन तो मानों बरसता है। ऐसे घर, परिवार, कुटुम्ब में उत्पन्न होंगे कि जन्म लेते ही रत्न-मोती, पन्ना, हीरा, माणिक, खजाना न जाने और क्या-क्या होगा। बैठे-बैठे खाते हैं। परन्तु स्वार्थ बुद्धि से धर्म करना, रोगी, गरीबों और तप-ध्यान करने वाले साधुओं से घृणा करना अपनी आत्म शुचिता व पवित्रता को नष्ट करना है। आचार्यों भगवंतों ने लोभ की परिभाषा देते हुए कहा है कि-

युक्त स्थले धन व्ययाभावो लोभः। (नियमसार 112)

अर्थात् युक्त काल में धन के व्यय का अभाव लोभ कहलाता है,जब धन

खर्च करने की आवश्यकता है, उस समय धन खर्च नहीं करना लोभ कहलाता है। जब शरीर से श्रम करने की आवश्यकता है उस समय श्रम नहीं करना, धर्म नहीं करना, सेवा नहीं करना आदि लोभ कहलाता है। लोभ से बुद्धि चंचल होती है, लोभ तृष्णा को जन्म देता है, तृष्णा से दु:खी हुआ मानव दोनों लोकों में दु:ख को प्राप्त करता है। क्योंकि-

लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रजायते।
लोभान् मोहश्च नाशश्च, लोभः पापस्य कारणम्॥

लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है, लोभ से काम उत्पन्न होता है, लोभ से मोह बढ़ता है और जीवन का नाश होता है। लोभ ही सभी पापों का कारण है। 'लोभ पाप का मूल है' यह लोकोक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है सो सर्वथा सत्य है क्योंकि जितने अनुचित कार्य हैं वे सभी लोभ के कारण होते हैं। कविवर द्यानतराय जी कहते भी हैं। 'लोभ पाप का बाप बखाना।' लोभ मनुष्य की क्या-क्या दुर्गति नहीं करवाता है? आचार्यों ने कहा है कि लोभी मनुष्य स्वामी, गुरु, स्वजन, वृद्ध, स्त्री, बालक, दुर्बल, गरीब व्यक्ति को भी मारकर निष्ठुर होता हुआ धन ले लेता है। इतना ही नहीं यह लोभ उसे इतना पतित कर देता है कि बाढ़ में बहकर आये शवों पर से आभूषण आदि उतारते हुए भी नहीं हिचकिचाता है। लोभी मनुष्य माता-पिता, पुत्र, भाई, प्रिय मित्र, स्वामी और सगे संबंधियों को भी मार डालता है। थोड़े से धन को पाने की इच्छा से सगे भाई भी लड़ जाते हैं। जैसे-मांस के टुकड़े के लिए श्वान (कुत्ता) परस्पर में शीघ्र ही लड़ बैठते हैं। बड़े-बड़े शास्त्रों के ज्ञाता, संशयों को दूर करने वाले होकर भी इस लोभ से मोहित होने के कारण दु:खी होते हैं।

संसारी प्राणी यहाँ तक कि लोभ के कारण न तो रात्रि में सुख से सोता है, न समय पर भोजन करता है, न ही समय पर दान देता है, न समय पर धर्म ही करता है। कभी ऐसा व्यक्ति टूटे-फूटे पायों वाली खटिया पर नित्य ही सोता है। भूख से पीड़ित होने पर थोड़ा सा रूखा-सूखा भोजन करता है। कमर में मलिन पुराना खण्ड वस्त्र धारण करता है इस प्रकार लोभ कषाय के वशीभूत प्राणी प्रतिदिन अधिक धन संचय करने में लगा रहता है, किन्तु जल के द्वारा कथञ्चित समुद्र को तो एकबार भरा जा सकता है, पर तीनों लोकों के राज्य के द्वारा भी लोभ रूपी समुद्र को नहीं भरा जा सकता है। क्योंकि लोभ का अन्त नहीं है। लोभाविष्ट मनुष्य की

आत्मा का अध:पतन हो जाता है, उसमें स्वार्थपरता, हृदयहीनता और निष्ठुरता जैसी दुर्वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उसके हृदय में भड़की असंतोष की अग्नि में उसकी निराकुलता और शांति स्वाहा हो जाती है।

लोभ प्रतिष्ठा पापस्य, प्रसूतिर्लोभ एव वा।
द्वेष क्रोधादि जनको, लोभः पापस्य कारणम्॥

लोभ समस्त पापों का मूल और द्वेष, क्रोधादि का जनक है। चारों कषायों का उत्प्रेरक लोभ है। लोभ के कारण ही व्यक्ति मायाचारी बनता है। जब उसके मन में किसी वस्तु के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है, उसका मन मुग्ध हो जाता है, वह उसे प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के साधन अपनाता है। स्वार्थ, लिप्सा और प्रलोभन के कारण ही माया की सृष्टि होती है। मायाचार में सफल हो जाने के उपरान्त उसके मन में अभिमान उमड़ पड़ता है और जब उसके अहं को चोट पहुँचती है तो क्रोध भड़क जाता है। इसलिए कहा जाता है कि समस्त कषायों का जनक लोभ है। आचार्यप्रवर शिवार्य भगवती आराधना में कहते हैं-

द्रव्येषु ममेदं भाव मूलो व्यसनोपनिपातः सकल इति ततः परि त्यागो लाघवं।(45)

धन, दारा आदि वस्तुएं मेरी हैं ऐसी अभिलाषा वृद्धि ही सर्व संकटों में मनुष्य को गिराती है, इस ममत्व को हृदय से दूर करना ही लाघव अर्थात् शौच धर्म है। अत्यधिक लोभ करना हानिकारक है। लोभ के निमित्त से आत्मा अपवित्र हो जाती है। अत्यधिक लोभ करना ही पाप है, वही पाप का बाप माना गया है। धर्म शतक भावना में लिखा है-

सब पापों का बाप समझ लो, लोभ सदा दुःख उपजाता।
कभी लोभ वश देखो मानव, मक्खी चूस कहा जाता॥37॥

जैसे-जैसे लाभ में वृद्धि होती है, वैसे-वैसे लोभ में भी वृद्धि होती है और यही लोभ एक दिन इच्छा और इच्छा से तृष्णा में बदल जाता है। जिस तृष्णा की पूर्ति कर पाना कभी संभव नहीं है। इसलिए कहा जाता है- "**प्रकर्ष प्राप्त लोभान्निवृत्तिः शौचम्**"- उत्कृष्टता को प्राप्त लोभ से निवृत्ति ही शौच धर्म है। लोभ को नियंत्रित करना ही शौच धर्म है। मतलब लोभ ही समस्त अपवित्रता का आधार है। लोभ के निमित्त से आत्मा अपवित्र हो जाती है। आचार्यों ने लोभ को दोषों की कुंजी कहा है, दोषों का सागर, अवगुण की खान कहा है। कहा भी गया है कि-

त्रैलोक्येऽपि ये दोषः, ते सर्वे लोभ संभवः।
गुणास्ततै वहोकेऽपि, ते सर्वे लोग वर्धनात्॥

तीनों लोकों में जो भी दोष हैं, अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक में जो भी दोष विद्यमान हैं, वे समस्त दोष लोभ रूपी चुम्बकीय शक्ति के माध्यम से खिंचे चले आते हैं अर्थात् लोभ के अन्दर एक ऐसी चुम्बकीय ताकत / शक्ति है जिसके द्वारा सभी दोष चले आते हैं। यद्यपि समस्त संसार का कारण मन है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने बहुत मार्मिक बात कही है-

जलेन जनितं पंकं जलेन परिशुद्ध्यति।
चित्तेन जनितं कर्म चित्तेन परिशुद्ध्यति॥

जितने भी दोष एकत्र होते हैं, वे सब मन से एकत्र होते हैं और वे सब दोष भी मन से ही धुलते हैं। वो कैसे? जिस प्रकार मिट्टी में जल गिरने से वहाँ कीचड़ हो जाता है और वही कीचड़ हाथ-पैर में यदि लग जाये तो उसे साफ भी जल से ही किया जाता है। जैसे जल से ही कीचड़ उत्पन्न हुआ और जल से ही वह कीचड़ धोया भी जाता है अर्थात् साफ किया जाता है, उसी तरह से मन से ही पाप होता है और मन से ही पाप धोया जा सकता है। दोषों, अच्छाइयों, गुणों और अवगुणों का कोष मन ही है। जिसका मन पवित्र हो गया, उसका जीवन भी पवित्र हो जाएगा और जिसका मन अपवित्र है, उसका जीवन भी अपवित्र हो जाएगा। बिना मन की पवित्रता के भाग्य भी ऊँचा नहीं हो सकता। आचार्य कहते हैं कि यदि मन पवित्र नहीं है तो बाह्य में शुद्धि कर लेने पर भी शुचिता नहीं आती है, जैसे नीम का फल पक जाने पर भी बीज कड़वा ही रहता है। इसलिए जिसका मन ऊँचा, शुद्ध, पवित्र है उसका भाग्य भी ऊँचा है, मन शुद्ध होगा तो विशुद्धि होगी। पवित्र मन आत्मा के परिणामों को पतनोन्मुखी होने से बचाता है। कर्मों से मलिन आत्मा को शुद्ध करने के लिए मिट्टी, जल, अग्नि समर्थ नहीं हैं, ज्ञानी जन ज्ञान-ध्यान व तप रूपी जल के माध्यम से कर्मों का प्रक्षालन करें। धर्म भावना शतक में लिखा-

मन की शुचिता से मानव का, तन भी शुचिता को पाता।
मात्र नहीं तन की शुचिता से, मगरमच्छ वह तिर पाता॥29॥
लोभ जगत में बड़ा शत्रु है और खजाना पापों का।
अगर नहीं छोड़ोगे इसको, नहीं ठिकाना साँसों का॥30॥

अति लोभी व्यक्ति धर्म की आड़ में जो भी पाप करता है उससे धर्म का उपहास होता है और अन्य लोग धर्म मार्ग से भयभीत होने लग जाते हैं। इसलिए स्कन्धपुराण में कहा है-

अन्य क्षेत्रे कृतं पापं धर्म क्षेत्रे विनश्यति।
धर्म क्षेत्रे कृतं पापं वज्र लेपो भविष्यति॥ 4/69॥

अर्थात् संसार या लौकिक क्षेत्र में किया गया पाप धर्म क्षेत्र अर्थात् सच्चे देव, गुरु, आदि के सामने पश्चाताप और प्रायश्चित्त करने पर आत्मा से दूर हो जाते हैं तथा धर्म क्षेत्र में (धर्म, पैसा, भूमि, मंदिर आदि से संबंधित वस्तुओं के विषय में) किया गया पाप वज्र लेप के समान कठिन या दृढ़ हो जाता है अर्थात् भवों-भवों तक दुःखों का कारण होता है। गृद्धता रूपी जल से वृद्धि को प्राप्त हुआ यह लोभ रूपी सघन वृक्ष दोनों लोकों में दुःख रूपी फलों को देता है। अतएव उसे संतोष रूपी शस्त्र से काट देना चाहिए। संतोष जड़ पदार्थों की आसक्ति को कम कर आत्मिक सुख शांति प्राप्त कराता है। कहा भी है-

गोधन गजधन बाजधन और रतन धन खान।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूलि समान॥

संतोष से बढ़कर कोई दूसरा धन नहीं हैं। संतोषी व्यक्ति हमेशा सुखी होता है। इसलिए मन रूपी जंगल में जलती हुई परिग्रह की अभिलाषा रूपी अग्नि को संतोष रूपी मेघ जल की धारा से शान्त कर देना चाहिए। असंतुष्ट व्यक्ति अत्यन्त दुःखी होता है उसे तीनों लोकों की सम्पत्ति मिलने पर भी वह सुखी नहीं होता है। पंडित प्रवर आशाधर जी कहते हैं कि लोभ का गड्ढा इतना विशाल है कि इस पृथ्वी की समस्त वस्तुएँ उसमें समा जायें परन्तु वह गड्ढा पूर्ण नहीं होने वाला। आचार्य शिवार्य भगवती आराधना में लोभ को त्यागने पर बल देते हुए कहते हैं-

लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडि भोगस्स।
अकए वि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवं तस्स॥1431॥

लोभ करने पर भी पुण्यहीन पुरुष के पास धन नहीं होता और लोभ नहीं करने पर भी पुण्यशाली के पास धन होता है। अतः धन का लोभ, धन लाभ में निमित्त नहीं है, अपितु पुण्य निमित्त है। अर्थात् संतोषी अत्यंत दरिद्र होने पर भी

निरन्तर सुखी रहता है। ऐसा जानकर लोभ को त्यागना चाहिए। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आचार्य कार्तिकेय स्वामी कहते हैं-

सम संतोस-जलेणं जो धोवदि तिव्व लोह मल पुंजं।
भोयण-गिद्धि-विहिणो तस्स सउच्चं हवे विमलं॥397॥

जो समभाव और संतोष रूपी जल से तृष्णा और लोभ रूपी मल के समूह को धोता है तथा भोजन का लोभ नहीं करता, उसके निर्मल शौच धर्म होता है। आचार्य कहते हैं कि-शौच धर्म से सभी कषाय नष्ट हो जाती हैं और जीव पाप रहित हो जाता है। लोभ को यदि हटाना है तो मन को शुद्ध रखने का प्रयास करना चाहिए और यह धर्मध्यान से संभव है। सद्गुणों का कोष यदि मन में एकत्र करना है तो वह शौच धर्म से संभव है। जिन्होंने तृष्णा रूपी प्यास का नाशक संतोष रूपी अमृत पिया है, उन्होंने निर्वाण सुख का कारण प्राप्त कर लिया है। कहा है-

कंखा भाव णिवित्तिं किच्चा वेरग्ग भावणा जुत्तो।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं॥ 75॥ (बा.अ.)

जो परम मुनि इच्छाओं को रोककर और वैराग्य के विचारों से युक्त होकर आचरण करता है, उसका शौच धर्म होता है। नियमसार में भी आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि- यदि अन्तरंग में परमाणु प्रमाण भी लोभकषाय विद्यमान हो, तो शुचिता नहीं हो सकती, वह पूर्ण वीतराग सम्यग्दृष्टि भी नहीं हो सकता है। जब तक लोभ कषाय शेष रहेगी तब तक व्यक्ति नीचे की ओर गिर सकता है। चतुर्थ गुणस्थान में ही पूर्णता की स्थिति नहीं मान लेना चाहिए। हमें पुरुषार्थ करते हुए चौदहवें गुणस्थान तक पहुँचना है। सम्पूर्ण लोभ से रहित बारहवें गुणस्थान वाले क्षपकश्रेणि के ही मुनिराज होते हैं। दसवें गुणस्थान वाले भी सूक्ष्म लोभ से सहित हैं। ग्यारहवें गुणस्थान वालों को लोभ की ये जंजीरें नीचे गिरा देती हैं। नरक-निगोद तक एक बार पुनः पहुँचा सकती हैं। ऐसा है यह लोभ जो ग्यारहवें गुणस्थान से गिरने वाले मुनियों को भी चारों गतियों में भ्रमण करा सकता है। किन्तु ग्यारहवें गुणस्थान वाले लोभ से सहित तो नहीं हैं यह ध्यान रखना पर उनका लोभ दबा हुआ है, उदय को प्राप्त नहीं है। लोभ कषाय को दबा दिया है तो अन्तर्मुहूर्त के लिए ही सही उपशांत मोह गुणस्थान में वीतरागता की प्राप्ति हो जाती है। जहाँ सूक्ष्म लोभ का भी क्षय कर दिया जाता है, वहाँ क्षीण मोह की अवस्था प्राप्त

हो जाती है और क्षीण मोह वाले मुनिराज अन्तर्मुहूर्त्त में ही केवलज्ञान को प्राप्त करके नियम से ही उसी भव से मोक्ष जाते हैं। ध्यान रखना पूर्ण वीतरागता तेरहवें गुणस्थान में ही होती है। चौदहवाँ गुणस्थान का काल तो अत्यन्त अल्प है पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण काल जितना होता है उतना ही है और फिर मोक्ष हो जाता है।

मुनिजनों का शौच धर्म आत्मा की विशुद्धि, ज्ञान-ध्यान, तपो-व्रत इत्यादि रूप है। आत्मा के परिणामों को शौच धर्म से पवित्र मन पतनोन्मुखी होने से बचाता है। शौच धर्म के प्रभाव से कषायें नष्ट होती हैं तथा इसके कारण जीव पाप से लिप्त नहीं पाता है। आप जानते हैं सातावेदनीय कर्म का उदय किस से होता है, सुख किससे मिलता है? तो शौच धर्म से। धर्म मार्ग के प्रत्येक चरण पर शांति, आनंद और पवित्रता स्वाभाविक है। जिस प्रकार चन्द्रमा से शीतलता पृथक नहीं होती उसी प्रकार शौच धर्म से मन: शांति पृथक नहीं होती है। सम्पूर्ण सुखों का मूल उत्तम शौच है।

सगर चक्रवर्ती के जीवन का दृष्टांत बड़ा ही मार्मिक हृदयग्राही है जो हमें सन्मार्ग की ओर प्रेरणा देता है। सगर चक्रवर्ती तीर्थंकर अजितनाथ जी के तीर्थकाल में हुए। इनके साठ हजार पुत्र थे। एक समय की बात है सगर चक्रवर्ती राज्यसभा में सिंहासन पर विराजमान थे। तभी उनके साठ हजार पुत्र आये और सिंह के बच्चों के समान उद्धत तथा अहंकार से भरे हुए वे अपने पिता से निवेदन करते हुए बोले कि हम लोग क्षत्रिय पुत्र हैं। शूरवीरता और साहस से सुशोभित क्षत्रिय पुत्रों का यौवन यदि दु:साध्य कार्य में पिता का मनोरथ सिद्ध नहीं करता तो वह यौवन नहीं है। ऐसे प्राणी के जीवन धारण करने से अथवा जन्म लेने से क्या लाभ है? जीवन धारण करना और जन्म लेना ये दोनों ही सर्वसाधारण बातें हैं अर्थात् सब जीवों के होते हैं। इसलिए हे राजन! हम लोगों को साहस से भरा हुआ कोई ऐसा कार्य बतलाइये जिससे हमारी केवल भोजन में सम्मिलित होने से उत्पन्न होने वाली अकर्मण्यता दूर हो सके। हे पिताजी! हमें बाहुओं में जो बल मिला है वह किसलिए? इनका प्रयोग तो करने दीजिए।

यह सुनकर सगर चक्रवर्ती ने प्रसन्न होकर पुत्रों से कहा- हे पुत्रों! चक्ररत्न से सब कुछ सिद्ध हो चुका है। ऐसी कौन सी वस्तु है हिमवन् पर्वत और समुद्र के

मध्य जो हमें सिद्ध नहीं हुई है? तुम सभी के लिए यही काम है कि तुम लोग मिलकर इस विशाल राज्य वैभव लक्ष्मी का यथायोग्य रीति से उपभोग करो। इस प्रकार चक्रवर्ती ने उन्हें बहुत समझाया, पर उन्होंने कहा-निठल्ले बैठना हमें अच्छा नहीं लगता। आप हमें कोई काम दीजिए, अन्यथा हम लोग भोजन भी नहीं करेंगे। चक्रवर्ती पुत्रों की बात सुनकर चिन्ता में पड़ गये। देखो कैसे-कैसे लोग होते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो यह सोचते हैं कि हमें कुछ न करना पड़े बैठे-बैठे ही खायें और वे सोच रहे हैं कि हम बैठे-बैठे क्यों खायें? पिता समझा रहे हैं कि पूर्व जन्म का पुण्य है, सब कुछ भरा है इसका उपभोग करो। वे कहते हैं नहीं। इन बाहुओं का, इनके बल का प्रयोग हम क्यों न करें। अब तो चिन्ता में और भी पड़ गये चक्रवर्ती। वे सोचने लगे कि इन्हें कौन सा कार्य दिया जाये। विचार करते हैं फिर अकस्मात् ही उन्हें स्मरण हो आता है कि अभी धर्म का कार्य शेष है। उन्होंने प्रसन्न होकर आज्ञा दी कि प्रथम चक्रवर्ती भरत ने कैलाश पर्वत पर महारत्नों से अर्हन्त देव के बहत्तर जिनालय निर्मित करवाये थे उन जिनालयों की सुरक्षा के लिए तुम लोग उस पर्वत के चारों ओर गंगा नदी की परिखा बना दो क्योंकि पंचमकाल आयेगा और लोगों की नियत खराब हो जायेगी, वे लोग एक-एक ईंट तक को उठायेंगे तथा घर ले जायेंगे। इसलिए हे पुत्रों! गंगा नदी की परिखा बनाओ। सभी पुत्र यह काम पाकर बड़े प्रसन्न हुए और पिता की आज्ञानुसार दण्डरत्न लेकर उसके द्वारा उन जिनालयों के चारों ओर शीघ्र ही परिखा खोद दी, जिससे कैलाश पर्वत पर कोई नहीं जा सके और वे जिनालय चिरकाल तक सुरक्षित रहें। जानते हैं आप खाई खोदते समय क्या हुआ?

देखो भइया, किन्हीं जीवों से कई जन्मों के संबंध इस जीव के साथ रहते हैं। कुछ ऐसे संबंध होते हैं जो जीव के हित में बड़ा कार्य करते हैं। उनका परस्पर में हित संपादन भी करते हैं। मणिकेतु नामक देव स्वर्ग लोक में अपने मित्र सगर चक्रवर्ती का हित चाहता है इसलिए बार-बार उन्हें धर्ममार्ग के लिए समझाता है। पर सगर चक्रवर्ती संसार के विषय भोग में मोहित रहते हैं। इस बार फिर मणिकेतु ने सोचा अच्छा अवसर है, ये बड़े पुण्यवान लोग हैं लेकिन संसार के तुच्छ वैभव में डूबे हुए हैं। प्रेम और सज्जनता से प्रेरित हुआ देव मणिकेतु पुन: स्वर्ग से आकर चक्रवर्ती सगर को समझाने के लिए योग्य उपाय करने लगा। जहाँ वे साठ हजार

राजपुत्र परिखा खोद रहे थे वहाँ भयंकर नाग का रूप धारण कर पहुँचा। उसने अपनी विषमयी फुंकार के द्वारा सभी राजकुमारों को मृतकवत् मूर्च्छित कर चला गया। राज्य मंत्री यह जानते थे कि राजा का राजपुत्रों पर अत्यधिक स्नेह है, वे पुत्रों के मरण की घटना को जानकर भी यह समाचार राजा को सुनाने के लिए समर्थ नहीं हो सके, बल्कि इस समाचार को छुपाकर ही बैठे रहे। जब मणिकेतु देव ने यह देखा कि काम बनने वाला नहीं है तो उसने ब्राह्मण का रूप धारण किया और सगर चक्रवर्ती के पास पहुँचा। पहुँचकर वहाँ बड़े ही शोक से आक्रान्त होकर कहने लगा-हे देव! आपके राज्य में रहते हुए हमें कोई दु:ख नहीं है सब प्रकार कुशल है किन्तु आयु की अवधि दूर रहने पर भी असमय में ही यमराज ने मेरा पुत्र मुझसे छीन लिया है। वह मेरा एकमात्र पुत्र था। यदि आप उसे आयु से युक्त अर्थात्-जीवित नहीं करेंगे तो मेरा भी मरण निश्चित समझें।

ब्राह्मण के वचन सुनकर चक्रवर्ती ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा-विप्र वर्य! जो संसार में आया है, यमराज उसे नहीं छोड़ता। इस संसार में कितने ही प्राणी ऐसे हैं जिनकी आयु बीच में ही छिद जाती है। यदि तुम उस यमराज पर द्वेष रखकर उसे पराजित करना चाहते हो तो, घरबार का मोह छोड़कर मुनि दीक्षा धारण कर शोक छोड़ो।

चक्रवर्ती राजा सगर जब यह सब कह चुके तो ब्रह्मण वेष धारी मणिकेतु देव मन में प्रसन्न होता हुआ बोला-हे देव! आप सत्य कहते हैं कि यमराज से बढ़कर और कोई बलवान् नहीं है उनको जीतने का एकमात्र उपाय है मुनि दीक्षा। किन्तु देव मेरी बात भी सुनें, मैं जो भी कुछ कहूँगा उससे आपको भयभीत नहीं होना चाहिए। हाँ-हाँ कहो। हे राजन्! आपके साठ हजार पुत्र कैलाश पर्वत पर खाई खोदने गये थे, वे सब उस यमराज के द्वारा अपने पास बुला लिए गये हैं। दैवयोग से उनके ऊपर मिट्टी और चट्टानें गिरने से सारे के सारे स्वर्ग लोक सिधार गये, सबका मरण हो गया और आप यहाँ बैठे हैं। यह संसार असार है, किसके मोह में आप फंसे हैं। अपने कहे हुए शब्दों के अनुसार अब आपको भी यमराज को जीतने के लिए मुनि दीक्षा ले लेनी चाहिए। ब्राह्मण के ये वचनरूपी वज्र से सगर चक्रवर्ती का हृदय विदीर्ण हो गया और वे मूर्छित होकर गिर पड़े। कुछ समय पश्चात् उपचार से वे सचेत हुए और विचार करने लगे-धिक्कार है इस मोह को जिसके

कारण मैं अभी तक संसार का वास्तविक रूप नहीं समझ पाया। क्या एक दिन मेरा भी मरण हो जायेगा? मैं भी तो कोई शाश्वत् पर्याय लेकर नहीं आया हूँ, यह भी तो नश्वर है न। वे चले गये, मैं क्या करूं यहाँ? उनका जीवन तो अचानक चला गया, यदि संयम पूर्वक उनका जीवन गया होता तो सद्गति हो जाती या मोक्ष हो जाता। मेरा भी यदि ऐसा ही हो गया तो मैं क्या करूंगा? सब कुछ तो है मेरे पास। किसके लिए कमाऊं, व्यर्थ ही खेद को बढ़ाने वाली इस लक्ष्मी रूपी माया की मुझे आवश्यकता नहीं। अब किसके लिए जीऊं, क्या करूं यहाँ रह करके? यह शरीर अपवित्र है, नष्ट हो जाने वाला है और इसलिए सेवन करने योग्य नहीं है। यह यौवन इन्द्रधनुष के समान नश्वर है, ऐसा जानते हुए तीर्थंकर भगवान वन में चले जाते हैं। परन्तु मैं मूर्ख अब भी इन्हीं में मूढ़ हो रहा हूँ। ऐसा करते हैं चलो हम भी चलते हैं, गुरु के चरणों में। सगर चक्रवर्ती ने तभी भगलि देश के राजा सिंह विक्रम की पुत्री विदर्भा के पुत्र भगीरथ के लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं दृढ़धर्मा केवली के पास पहुँच गये। वैराग्य तो हो ही गया था दीक्षा धारण कर तपश्चरण में रत हो गये। यह सब कार्य देव कर रहे थे, वे आपस में बड़े मित्र थे पूर्वजन्म के।

सगर चक्रवर्ती ने दीक्षा ले ली तो वह मणिकेतु देव उन पुत्रों के पास पहुँचा कैलास पर्वत पर। उन राजकुमारों को सचेत किया और कहा-वाह बड़ा अच्छा काम दे दिया तुम्हारे पिता ने कि खाई खोदो। बल मिला था तुम्हें तो तपस्या आदि और कोई बात बता देते, तो अच्छा रहता, कर्म कट जाते। इस बल का प्रयोग कहाँ कर रहे हैं आप। जड़ के लिए कर रहे हैं आप। इस जड़ की सुरक्षा के लिये कर रहे हैं। जड़ तो नश्वर है उसका तो गलन पूरण स्वभाव है। ये सब पुद्गल दिख रहा है और क्या है इस जगत में?

समाधितन्त्र में कहा भी है कि -

अचेतनमिदं दृश्य, मदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि, मध्यस्थोहं भवाम्यतः।। 46।।

ये चिंतन करना चाहिए। इस जगत् में जो कुछ दिख रहा है यह सब दृश्य अचेतन है और मेरी अदृश्य आत्मा चेतन है। अत: मैं किसमें राग करूं, किसमें द्वेष करूं? बस माध्यस्थ भाव से ज्ञाता-दृष्टा बनूँ।' अपने-अपने कर्म का फल भोगे यह संसार।' और कुछ नहीं, अब आप क्या कर रहे हो? देखो आपके पिता ने तुम्हें यह

काम बता दिया और स्वयं मोक्षमार्ग में लग गये, तुम्हें संसार का मार्ग बताकर धर्म साधना करने लगे। मुनि बन गये दीक्षित होकर। अच्छा! यह सब कैसे हो गया? हमें क्यों नहीं बोला मुनि बनने के लिए। मणिकेतु देव कहने लगा कि-हे राजकुमारों! किसी ने आपके पिता को आप सबके मरण का यह अश्रवणीय दु:संवाद सुना दिया जिसे सुनकर वे शोकाग्नि से बहुत ही अधिक उद्दीपित हुए और भगीरथ को राज्य देकर दीक्षित हो मुनि बन गये हैं और तप करने लगे हैं। मैं आपकी कुल परम्परा से चला आया ब्राह्मण हूँ इसलिए शोक से यहाँ आप लोगों को खोजने के लिए आया हूँ।

ब्राह्मण वेषधारी मणिकेतु देव के ये वचन सुनकर उन राजकुमारों को भी वैराग्य हो गया और वे चिन्तन करने लगे कि अरे! हमें पिताजी ने यह काम बताया है, जो उन्होंने किया है हमें भी वही काम बताते तो अच्छा होता, जिस मार्ग पर वे गये वही श्रेष्ठ मार्ग है, वास्तव में यह सब तो नश्वर है मेरा कुछ भी नहीं। ऐसे तो हम इस संसार से पार होने वाले नहीं हैं, ये दु:ख-सुख हमें हमेशा मिलते रहेंगे और हम इस जगत में चतुर्गति भ्रमण करते रहेंगे। बाहुओं का बल मिला है तो उसे पवित्र / शुद्ध रूप में प्रयोग करना चाहिए। ऐसे तो अनेक लाभ के कार्य किये हैं, कई शत्रुओं को भी हराया है, फिर दूसरे कर्म शत्रु तैयार होते रहे जिससे हम दु:ख पाते रहे। अब तो उन शत्रुओं को हराना है, जिन शत्रुओं के हराने के बाद कभी इस संसार में आना नहीं होता है। वे कर्म शत्रु हैं उनको हराने के लिए अगर बल मिला है तो हम क्यों इस संसार में फंसे रहें? चलो वही पुरुषार्थ करेंगे और साठ हजार राजपुत्रों ने जिनेन्द्र भगवान का आश्रय लेकर दीक्षा धारण कर ली तथा तप करने लगे। वाह-वाह! क्या काम किया विचार करो एक तरफ हम लोग हैं क्या कर रहे हैं। हम लोग अपना बल किसमें लगा रहे हैं? कौन सी कमाई कर रहे हैं? उन्होंने पंच पाप छोड़ दिए यही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है, यही सबसे बड़ी कमाई है। यही सबसे बड़ा धर्म है। जब यह समाचार भगीरथ ने सुना तो वह भी उन मुनियों के पास गया और वहाँ उसने उन सबको भक्ति पूर्वक नमोस्तु कर जिनेन्द्रोक्त धर्म का स्वरूप सुनकर श्रावक के व्रतों को ग्रहण किया। अन्त में मणिकेतु देव मित्रवर ने उन सगर आदि समस्त मुनियों के समक्ष अपनी समस्त रहस्य की बात प्रकट कर दी और कहा कि आप सभी लोग हमें क्षमा कीजिए। इस पर उन मुनियों ने कहा- 'इसमें आपका

अपराध ही क्या है? आपने तो यह हमारा परम हित और प्रिय कार्य किया है।' इस प्रकार प्रसन्नता से भरे हुए वचनों से मणिकेतु देव को उन सब मुनियों ने सम्बोधन देकर सान्त्वना दी। देव का दिया वचन कार्य सिद्ध हो गया था, वह भी सन्तुष्ट हो देवलोक चला गया। हम लोग तो केवल बस ये जड़ के अर्जन में लगे हैं। क्या यह साथ देगा? नाम, ख्याति, पूजा की चाहना रखने वाले लोग, धन की कमाई करके क्या कर लेंगे?

भइया आत्मा का साथ धन नहीं देता, आत्मा का साथ तो धर्म ही देता है, धन नहीं देता है। जिस आत्मा के पास यह धर्म होता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं। वे देव स्वर्गों में रहने वाले अपार वैभव शाली होने पर भी नमस्कार करते हैं। कहा भी है कि-

धम्मो मंगल-मुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो।
देवावि तस्स णमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो ॥ (वी.भ. 8)

जिस आत्मा का मन अहिंसा, संयम, तपमय उत्कृष्ट धर्म में लगा हुआ है उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

धर्म की कीमत है भइया धन की कीमत नहीं है। आप लोग सोचते होंगे कि धन कमा करके निर्विघ्नता से धर्म कर लेंगे तो ऐसी भी कोई गारंटी नहीं है, क्योंकि अगर बहुत पाप करके और तरह-तरह से मायाचार करके धन कमाया है उसे संचित किया है तो उसमें भी अनेक विघ्न, अन्तराय, बाधाएं आ सकती हैं। इसलिए आगे की मत सोचो, वर्तमान को देखो। पापों के त्याग में अपना समय लगाओ, ये ही सबसे बड़ा धर्म है। नाम, ख्याति, पूजा के लिए भी लोग लोभ करते हैं। कई लोगों की सोच होती है कि कमाई करके नाम कमा लेंगे। दानादि कर देंगे। तो बहुत दिनों तक नाम रहेगा। पर देखो, इस नाम के लोभ में कई बार कितने झगड़े हो जाते हैं। कषायें बढ़ जाती हैं। दान कर त्याग कर दिया, धन दे दिया, लेकिन यदि तुम्हारे मन के अनुसार नाम नहीं लिखा गया तो कहते हैं कि तुमने नाम नहीं लिखवाया अभी तक। नाम का पटिया लगवाना था अभी तक क्यों नहीं लगा? यदि लग गया तो इसको इधर क्यों लगवा दिया, ऊपर लगाना था तुमने नीचे लगा दिया। बड़े-बड़े अक्षरों में लिखना था, तुमने छोटे अक्षरों में लिख दिया। ऐसा होता है कि

नहीं? अब देखो त्याग कर दिया धन का, लेकिन नाम का लोभ नहीं छोड़ा और नाम का लोभ तो अनेक विधा लिए हुए होता है। पापों का बखान करना बहुत कठिन है पर धर्म का बखान सरल है, नाम सम्मान की चाहना यह भी एक लोभ कषाय है, जो हमें शौच धर्म से दूर करती है। जब हम अनेक प्रकारों से समझते हैं तभी अपना मन धर्म की ओर आता है। जैसे एडवर्टाइजमेन्ट तरह-तरह से करते हैं वैसे ही लोगों को अनेक प्रकार से बताना पड़ता है तभी लोगों के मन बनते हैं कि चलो हाँ अब समझ में आ गया, अब अन्तस् में बैठ गया। आचार्यों ने जैनागम ग्रन्थों में कहा है कि-

अण थोवं वणथोवं अग्गीथोवं कसाय थोवं च।
ण हु मे वीस सियव्वं थोवं पि हु ते बहुं होई॥120॥ (आ.नि.)

अर्थात् ऋण को थोड़ा, घाव को छोटा, आग को तनिक और कषाय को अल्प मान / समझकर निश्चिंत होकर नहीं बैठ जाना चाहिए, क्योंकि यह थोड़े-थोड़े भी बढ़कर बहुत हो जाते हैं।

यदि आपने ऋण अर्थात् कर्ज कहीं से ले लिया है तो उसे यह समझकर कि यह कर्ज तो थोड़ा है चुका देंगे तो लापरवाही नहीं करना। यदि लापरवाही की तो आचार्य कहते हैं कि वह धीरे-धीरे इतना बढ़ जायेगा कि सारी जिंदगी तुम्हें उसे चुकाने में बीत जायेगी फिर भी वह ऋण चुकेगा नहीं। यह बात ऋण लेने वाले और देने वाले दोनों भलीभांति जानते हैं। ऐसे ही घाव यदि हुआ है तो वह कितना भी छोटा सा क्यों न हो, अगर आपने उस पर ध्यान नहीं दिया तो एक दिन वह नासूर बन जायेगा। अग्नि की एक चिनगारी ही क्यों न हो वह क्या से क्या नहीं कर देती है, जानते नहीं कि वह ज्वाला बनकर सब कुछ राख करने की क्षमता रखती है। इसी प्रकार कषाय की परिणति भी है, कणिका मात्र भी व्यक्ति का विनाश करने में सक्षम है। समयसार ग्रन्थ में दृष्टान्त देते हुए कहा है कि एक अमृतमय लड्डू में एक सरसों के दाने के समान विष का अंश हो, तो क्या लड्डू ग्राह्य हो सकता है? नहीं, वह लड्डू अग्राह्य है, मौत का संदेश है। अमृतमय लड्डू में एक अंश विष भी घातक है, तो शौचधर्म में छोटा सा लोभ भी बाधक तत्व हो तो वह घातक ही होगा। लोभ परिग्रह में है। अत: सम्पूर्ण परिग्रह तथा शरीर ममत्व का भी परित्याग रखना उत्तम शौच है। उत्तम शौच धर्म अखण्ड है अभिन्न है। इसमें मन शुद्ध होता है और यह

लोभ का नाश करता है। निर्लोभता से आत्मा में बड़ी महानता प्राप्त होती है। कातन्त्र रूपमाला में कहा भी है-

शुचिर्भूमि गतं तोयं शुचिर्नारी पतिव्रता।
शुचिधर्म परो राजा ब्रह्मचारी सदा शुचि॥

भूमि के भीतर गया जल, पतिव्रता शीलवान नारी, धर्मनिष्ठ राजा और कामवासना त्यागी ब्रह्मचारी ये सदा पवित्र कहे गए हैं।

निर्लोभी राम लंका जीतने के बाद भी उस पर मोह न करके अपने राज्य में लौट आये और उनकी पवित्र भावना से उन्हें अनायास ही अयोध्या का राज्य प्राप्त हुआ यही शुचिता धर्म का फल है। लोभ का त्याग वही व्यक्ति कर सकता है, जो खुद निर्लोभी हो जिसे धन के प्रति आकर्षण न रह गया हो। लोभ की परिधि में विषय संतुष्टि पंचेन्द्रिय सुखों की पूर्ति के समस्त साधन आते हैं। जब तक लोभ कषाय आत्मा में विद्यमान है तब तक हम आत्मा से साक्षात्कार नहीं कर सकते। आत्मा की शुचिता लोभ के अभाव में होगी। जिस प्रकार दीपक को प्रज्ज्वलित करने से पूर्व उसकी बाती की शुद्धि आवश्यक रूप में करते हैं पात्र और तेल की शुद्धि भी करते हैं उसी प्रकार लोभ, ममत्व, परिग्रह का निवारण इन्द्रिय निग्रह पूर्वक करते हैं। जिन-जिन ने लोभ किया उन सबका पतन हो गया। चाहे वह रावण हो, चाहे कौरव हों, चाहे कंस हो, चाहे प्रतिनारायण राजा हो या विख्यात सेठ आदि हों। कहा भी है-

उत्तम पथ के जो पथिक, यश के रागी साथ।
मिटते वे भी लोभ से, रच कुचक्र निज हाथ॥

दृष्टांत के माध्यम से हम लोभ के विषय में विचार कर सकते हैं कि बड़े-बड़े वैभव शाली व्यक्ति भी इस संसार से विरक्त हो गए। एक बड़ा सेठ था, जिसके पास अपार वैभव था, कोई कमी नहीं थी, उसकी कई पीढ़ियाँ बैठकर खा सकती थीं। लेकिन फिर भी उसको लोभ था कि खूब कमाएं और कमा करके अपने पास रखें। हमारी कई पीढ़ियों से हमें कम से कम नाम तो मिलेगा ही कि चलो इस व्यक्ति के पास इतना धन, बड़ी-बड़ी इमारतें, बड़े-बड़े खजाने आदि हैं जिसकी पीढ़ियाँ सम्पन्न हैं। ये भी तो लोभ है। नाम का लोभ था कि हमें नाम मिलेगा। इसके लिए उसने विदेश जाने का प्लान बनाया,घर में सबसे चर्चा की, सभी ने एक स्वर में

विदेश जाने का मना किया। कहा क्या करने जा रहे हैं? इतना धन है अपने पास अब कुछ भी व्यापार नहीं करें, कुछ भी नहीं कमाएं तो भी पूरा जीवन सुखमय बीतेगा। यदि धर्म में भी तीन भाग लगा दें तो भी कुछ कमी नहीं आयेगी आप क्यों जा रहे हैं? यहीं रहकर धर्म में जीवन बितायें। सेठ कहता है नहीं मुझे अभी व्यापार करना जरूरी है। बड़े-बड़े धनवान, राजा, महाराजा हो गए हैं, कम से कम उनके समान तो कुछ बन जाऊं। जीवन मिला है तो कुछ कर लूँ। बहुत मनाया लेकिन क्या करें 'जैसी मति वैसी गति।'

विदेश यात्रा के लिए समुद्रीय जलयान से यात्रा प्रारम्भ करता है। अब चलते-चलते परीक्षा प्रारम्भ हुई, पुण्य-पाप की तो परीक्षा होती ही है सबके जीवन में। अनेकों आशाएँ, आकांक्षाएं, उसके हृदय में थीं। परन्तु उसे क्या खबर थी कि समय की गति उसे क्या सिखाने बैठी है। दूर आकाश में से साँय-साँय की भयंकर ध्वनि आने लगी। जो बराबर बढ़ती हुई सुनाई देने लगी। घबरा गया वह। यह क्या? अभी तो समुद्र के बीच में ही पहुँचे थे और तूफान सर पर आ गया। जोर से तूफान शुरु होने के संकेत जलयान चलाने वालों ने दे दिये कि अब संभल जाओ, कुछ भी नहीं कह सकते कि क्या होगा? बचना मुश्किल है इसलिए सब लोग सतर्क हो जाओ और अपने-अपने इष्ट देव का स्मरण करो, उनके अतिरिक्त कोई अब दूसरा सहारा नहीं है। आंधी का वेग मानों समुद्र को अपने स्थान से अन्यत्र उठा कर ले जाने का जोर लगा रहा था। समुद्र ने अपने अभिमान पर इतना बड़ा आघात कभी न देखा था। वह एकदम गरज उठा, फुंकारे मारने लगा और उछल-उछल कर वायुमण्डल को मानों ताड़ने लगा। दिशाओं से भयंकर गर्जनायें होने लगीं। अरे यह क्या हो गया। सब घबराने लगे, किसी के आंसू बहने लगे, कोई कांपने लगे, कोई भगवान को स्मरण करने लगे, तो कोई णमोकार मंत्र पढ़ने लगे, सब अपने-अपने इष्ट देव को याद करने लगे। मेघराज भी अपना प्रकोप दिखाने लगे। आंधी वर्षा के बीच तूफान रुका नहीं और इतने जोर से आगे बढ़ा कि सारे जहाज को झकझोर दिया, जहाज में जल भर गया। समुद्र की एक विकराल तरंग उठी और फिर जहाज जोर से ऊपर की ओर उछला और नीचे गिरकर टुकड़ों में बंट गया वह जल में विलुप्त हो गया। कितने ही लोग समुद्र में समा गए। चले गए अंदर। जिसने इष्ट देव को याद किया था, उनका भी तीव्र पापकर्म का उदय था लेकिन भगवान का नाम इष्ट का स्मरण बेकार नहीं जाता है यदि सच्चे हृदय से श्रद्धा पूर्वक स्मरण किया जाए

तो रक्षा स्वयमेव होती है।

वह सेठ बेहोश हो गया, समुद्र में डूब नहीं पाया पर उसे भी यह नहीं मालूम कि मैं कहाँ हूँ। जब दो दिन निकल गये, थोड़ा सचेत हुआ तो देखा अरे! एक लकड़ी के पटिये पर अपने को पाया। घबरा गया वह। घबरा कर उस पटिये के टुकड़े को जोर से पकड़ लिया। समुद्र में लहरें उठ रहीं हैं और तीव्रगति से उठती लहरें उसको किनारे की ओर ले जा रही हैं। अरे! यह क्या हो गया, वह विचार करता है यह णमोकार मंत्र के स्मरण का, भगवान के स्मरण का परिणाम है। ऐसा तीव्र पाप कर्म आया लेकिन वह कर्म कैसे टल गया, एक सहारा मिला और मैं किनारे से लग गया। सब लोग ऐसे ही करते हैं। भगवान का नाम कब याद करते हैं, जब दुःख की घड़ी आती है, सुख के समय तो भूल जाते हैं। इसीलिए किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करें न कोय।
जो सुख में सुमिरन करें, सो दुःख काहे को होय॥

दुःख आता है तब सब भगवान का स्मरण करते हैं, गुरु के पास भागते हैं। चमत्कार जी नमस्कार जी करते हैं और जब सुख आता है तो फूल जाते हैं, भूल जाते हैं, खूब खाओ पीओ, ऐश करो, ये करो, वो करो, मौज उड़ाओ, देख लेंगे, क्या हम कोई पाप थोड़े ही कर रहे हैं। जो पापी होते हैं वे मंदिर जाते हैं, वे ही पुण्य की क्रियाएँ करते हैं। अपन तो बहुत पुण्यवान हैं। देखो भइया उन्हें पाप-पुण्य की परिभाषा ही नहीं मालूम कि पुण्य को भोगने में पाप होता है। इसीलिए तो कहते हैं कि जो सुखी अवस्था में भी भगवान को नहीं भूलता है, सो दुःख काहे को होय। कभी पुण्य का बैलेंस कम हो ही नहीं पाता, हमेशा पुण्य से भरा रहता है। सेठ का भी पुण्योदय तो था, लेकिन ऐसी परीक्षा हुई कि पुण्य डगमग करने लगा, पर भगवान के नाम लेने से थोड़ा सहारा मिल गया, रक्षा हो गयी लेकिन अभी भी बहुत परीक्षाएँ हैं, परीक्षा एक बार ही होती है, ऐसा नहीं है।

सेठ को नवजीवन मिला है पर उसे यह ज्ञात ही नहीं रहा कि कहाँ से आ रहा हूँ, कहाँ जाना है? क्या करूंगा? सब कुछ भूल गया। अब वह किनारे पर आया तो उसे कुछ भी पता नहीं है। किससे सहायता पाऊं कोई दिखाई देता नहीं। रास्ता

भी दिखाई नहीं दे रहा था, घना जंगल था। जैसे-तैसे आगे बढ़ा ही था कि एक भयंकर चीत्कार पीछे से आयी। अरे! यह क्या? उसकी मानसिक स्तब्धता भंग हो गयी। पलटकर पीछे देखा। एक बड़ा भारी शरीर का काला जानवर सूंड ऊपर उठाये, चीख मारता हुआ उसकी ओर दौड़ता हुआ चला आ रहा था। हे प्रभु! बचाओ। अरे! कितना अच्छा होता यदि प्रभू को मैंने अपने अच्छे दिनों में भी याद कर लिया होता। अब होगा क्या? यहाँ तो कोई और सहायक भी नहीं है।

उस जानवर को देखकर भागकर दौड़ने के अतिरिक्त अन्य शरण नहीं थी। वह दौड़ रहा था जंगल में झाड़ियों के बीच होता हुआ जितनी दौड़ से उससे दौड़ा जा रहा था। पीछे-पीछे वह काला जानवर भी भागता है। भागते-भागते सेठ भगवान का नाम लेता है, णमोकार मंत्र पढ़ता है। वह जानवर अत्यधिक निकट आ जाता है, अब तो क्या था सेठ का धैर्य जाता रहा। वह सोचने लगा अब जीवन असम्भव है। पर देखो भइया उसने अपनी जिह्वा से प्रभु का पावन नाम लिया था, वह निरर्थक नहीं जायेगा, उसकी रक्षा हुई, उसे सहारा आखिर मिल ही गया। सामने एक बड़ा वट वृक्ष खड़ा था जिसकी टहनियाँ, शाखाएं नीचे लटक रहीं थी। उसने पुन: साहस कर दौड़ लगाई। और वृक्ष के नीचे की ओर लटकती दो शाखओं को पकड़ कर वह अतिशीघ्र ऊपर चढ़ गया।

उस जानवर ने उसे वृक्ष पर चढ़ते देखा तो उसका प्रकोप और भी बढ़ गया, यह तो सरासर उसकी मानहानि है। इस वृक्ष ने इसको शरण दी है, अब तो यह भी न रह पायेगा। वह जानवर अपनी लम्बी सूंड से वृक्ष के तने को पकड़कर जोर-जोर से हिलाने लगा। सेठ का तो रक्त सूख गया। अब मुझे बचाने वाला कोई नहीं। हे नाथ! कृपा करो। क्या मुझे जाना ही होगा? उसने ऊपर की ओर देखा तो क्या देखता है जिस टहनी को वह पकड़े हुए है उस पर दो चूहे एक काला एक सफेद बैठे हुए हैं वे उस टहनी को निरन्तर अपने दाँतों से काट रहे हैं। सेठ बहुत घबरा गया और सोचने लगा क्या होगा मेरा। घबराकर नीचे देखा तो और भी रहे-सहे होश उड़ गये। देखता है कि उस टहनी के नीचे स्थान पर एक बड़ा गड्ढा गहरा बना हुआ है जिसमें मुँह फाड़े विकराल दाढ़ों के बीच लम्बी-लम्बी भयंकर जिह्वा लपलपा रही है, लाल-लाल नेत्रों से ऊपर की ओर वे चार भयंकर अजगर मानों इसी बात की प्रतीक्षा में देख रहे हैं कि कब डाल कटे और यह व्यक्ति मेरे गालों का ग्रास बन जाए। उन अजगरों के पास पेट भरने का एक यही तो साधन है। यह सब

देखकर वह सेठ कांपने लगा। वह हाथी भी वृक्ष को जोर-जोर से समूल उखाड़ने के लिए हिला रहा था।

प्रभु का लिया हुआ नाम बेकार नहीं जाता है। इतने में क्या होता है कि एक विद्याधर का विमान वहाँ से निकलता है। उसमें बैठे विद्याधर की दृष्टि सेठ पर पड़ती है। अरे! यह क्या बात हो गयी? जरा देखें तो सही; इस वृक्ष के ऊपर यह व्यक्ति ऐसे लटका है और यह जानवर वृक्ष को हिला रहा है मानों उसे उखाड़ कर गिरा ही देगा और भी देखो जिस डाल पर यह व्यक्ति लटका है उस डाल को दो चूहे भी काट रहे हैं। अरे! चलो इसकी सहायता करते हैं।

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' कहा है आगम में; कि - परस्पर में जीवों की रक्षा करना चाहिए। विद्याधर पास में आकर कहता है कि आ जाओ भइया, आ जाओ, मैं तुम्हारी सहायता और रक्षा करता हूँ, जल्दी आ जाओ। वह लटका हुआ सोचता है देखो पुण्योदय आ गया, मैंने णमोकार मंत्र पढ़ा था, ये मेरे सामने सहायता करने के लिए आ गये। अब देखो-पुण्य का फल मिलता तो है लेकिन कई बार हम उसका दुरूपयोग करते हैं। विद्याधर बुलाता है, कई बार कहा कि आ जाओ, जल्दी आ जाओ, मैं तो बीच में ही रुका हूँ, इतना समय नहीं है मेरे पास। मुझे बहुत लम्बी यात्रा में आगे जाना है। वह वृक्ष पर लटका हुआ कहता है मैं आ रहा हूँ। बस इतने में एक और परीक्षा हो गयी कि वृक्ष को वह जानवर जोर-जोर से हिला रहा था, वृक्ष के हिलने से उस पर ऊपर टहनी में लगे मधुमक्खी का छत्ता थोड़ा सा हिल गया और उस व्यक्ति के ऊपर मधु की कुछ बूंदें पड़ी। ये क्या सिर पर पड़ गया, उसने जैसे ही ऊपर देखा तो सीधे ही उसके मुख में बूंद पड़ी। जीवन में पहली बार आहा, इतना मीठा; आनन्द आ गया। क्या है यह? बहुत अच्छी मीठी वस्तु है, एक बूंद और आ जाए, एक बूंद और आ जाए। वह इसी प्रतीक्षा में सारे भय, संकट भूल गया और मधु की एक-एक बूंद में मग्न हो गया।

वृक्ष जोर-जोर से हिलाया जा रहा था अधिक हिलने लगा, जिससे मधु मक्खियों का सन्तुलन भंग हो गया। भिनभिनाती हुई, झन्नाती हुई वे उड़ी और चारों तरफ से उसे अपने चपेट में लेने लगी। सहसा ही घबरा उठा वह ....यह क्या? मक्खियों के तीखे डंकों की पीड़ा से व्याकुल, एक चीख निकल पड़ी उसके मुँह से, हे प्रभु! पर एक बूंद मधु की मुख में पुन: गिरी। अब तो बस ऐसा स्वाद आ रहा

था कि कहना ही क्या था कि यह सबसे बड़ा सुख हो मानो । उधर विद्याधर बुला रहे हैं, भइया कहाँ मस्त हो गए, आ जाओ। हाँ बस बूंद लेकर आ रहा हूँ। सब भूल गया वह उस मधु की बूंद में, भूल गया उन डंकों की पीड़ा को, भूल गया कि वृक्ष गिरने वाला है, यह टहनी कटने वाली है और नीचे देखो वे चार अजगर सर्प प्रतीक्षा कर रहे हैं, कहाँ किसके मुख में जायेंगे, भूल गया वह मधुबिन्दु के सुख में। विद्याधर कहते रहे, ठीक है भइया आ जाओ जल्दी, नहीं तो मैं जा रहा हूँ। वह कहता है थोड़ा और रुक जाओ, थोड़ी देर बाद आ ही जाऊँगा। विद्याधर कहता है ठीक है भइया इतना होने पर भी तू प्रसन्न है, सन्तुष्ट है, यह बड़ा आश्चर्य है। थोड़ी अन्तस् की आखें तो खोल तेरी दशा बड़ी दयनीय है। एक क्षण भी विलम्ब करने को अवकाश नहीं। इस समय मैं तेरी रक्षा कर सकता हूँ सावधान हो, जल्दी कर। आ मेरा हाथ पकड़ और धीरे से नीचे उतर आ। 'बस एक बूंद और, अभी चलता हूँ' इस उत्तर के अतिरिक्त और कुछ न था। वे विद्याधर चले जाते हैं और यहाँ वह टहनी कट जाती है और मधुबिन्दु की मस्ती लिए हृदय में, अजगर के मुख में जाकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर दी उसने। 'यह विषयों का लोभ' उसके जीवन को समाप्त कर देता है।

भइया यह किसकी कथा है, उस सेठ की कथा है या हम सब की आत्मकथा है। संसारी प्राणी की कथा है, यह मोही-रागी की कथा है, यह विषयी की कथा है विचार करो। यह प्राणी लोभ के वशीभूत हो करके चतुर्गति में विषय-परिग्रह संसर्ग करता है। एक गति में गया वहाँ पर सन्तुष्ट नहीं हो सका। दूसरी में गया वहाँ भी शांति नहीं मिली। इसी प्रकार गतियों का ग्रास, काल के अनुरूप बनता रहा है। इन्द्रिय सुख मधुबिन्दु की तरह निःसार है, सुख नहीं इसमें सुखाभास है। ये तृष्णा को बढ़ाने वाले, विवेक को नष्ट करने वाले इन्द्रिय विषय हैं। इनके कारण ही तुम्हें हितकारी सद्पुरुषों की वाणी अच्छी नहीं लगती, सुख के झूठे आभास में आज तक अपना हित नहीं किया। सद्पुरुषों का समागम बड़े योग से मिल रहा है, इस अवसर का लाभ लेकर जीवन को सुखमय, आनन्दमय बना लें। इस संसार में सभी लोभ के वशीभूत धन, सम्पदा संचित करते हैं और यह भी जानते हैं कि यह सम्पदा स्थिर नहीं रह सकती। संसार में जब धन-सम्पदा का स्थायीत्व नहीं है तो लोभ क्यों? जब हम मार्केट से कोई वस्तु क्रय करते हैं तो उसकी क्वालटी पर

अवश्य ध्यान देते हैं। वैसे ही अपने विचारों की विशुद्धि पर हमारी दृष्टि नहीं जा रही है, यह बुद्धिमान मनुष्य के विषय में बहुत ही आश्चर्य की बात है। कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो पाते हैं कि चारों कषायों में लोभ का क्षय सबसे अन्त में होता है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में नेमिचन्द्राचार्य ने परिणामों के गुणों के आधार पर लोभ कषाय के चार भेद कहे हैं-

किमिराय चक्क तणु मल हरिद्द राएण सरिसओ लोहो।
णारय तिरिक्ख माणुस देवे सुप्पायओ कमसो॥287॥

कृमिराग (किरमिच) एक विशेष प्रकार का रंग जो वस्त्र फटने पर भी नहीं छूटता। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी लोभ है जो एकबार चिपका सो चिपका रहता है। यह भवभवान्तर तक अपना संस्कार लेकर जाता है, इसलिए शास्त्रों में इसे कृमिराग या किरमिच की संज्ञा दी है जो इतना पक्का रंग होता है कि वस्त्र फट जाय पर वह रंग नहीं हटता है। ऐसे ही अनन्तानुबंधी लोभ कषाय होती है, जिसके रहते व्यक्ति के अन्दर धन-सम्पदा, विषय भोगों के प्रति अत्यधिक मूर्च्छा रहती है और प्राणी बहुत आरम्भ परिग्रह करता है। चक्रमल-गाड़ी के पहिये में डालने वाला ओंगन का रंग जो एक बार लग जाए तो वह सुखपूर्वक अर्थात् आसानी से नहीं छूटता है। उसे बड़ी कठिनाई से निकाल पाते हैं, ऐसे ही अप्रत्याख्यान लोभ होता है जिसे बड़ी कठिनाई विशेष परिश्रम से निकाल पाते हैं। कठिनाई तो होती है पर निकाला जा सकता है। शरीर मल-शरीर में लगे मल (मैल) को हटाने के लिए थोड़ा प्रयास करना पड़ता है। यह मल हाथ से रगड़ लगाने पर, पानी से धोने पर छूट जाता है वैसे ही प्रत्याख्यान लोभ होता है इसे हटाने के लिए शरीर में लगे मैल की तरह थोड़ा प्रयास करना होता है तभी इसे हटा पाते हैं। हरिद्र वस्त्र या किसी वस्त्र में यदि हल्दी का रंग लग गया हो तो वह हवा और धूप के सम्पर्क मात्र से रंग उड़ जाता है, वैसी ही संज्वलन लोभ की स्थिति होती है। इन दृष्टांतों के अनुसार जिनकी लोभ कषाय होती है, वे क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति को प्राप्त होते हैं। धर्मभावना शतक में लिखा है-

प्रकर्ष लोभी बहुआरम्भी, नरक आयु का बंध करे।
अल्पारम्भी, अल्प परिग्रही, मनुष्य गति का बंध करे॥33॥
लोभी की लालच ही जिसके, मन को करती मैली है।
अमृत जैसा पुण्य नाश हो, भरे पाप की थैली है॥

माया, मिथ्या, निदान से वह, नहीं धर्म शुभ पुण्य भरे।
पुण्यानुबंधि पुण्य साथ दे, समकित सह वह धन्य करे ॥38॥

भइया जिसकी दृष्टि जितनी आत्मविशुद्धि की ओर जायेगी, उतनी ही रुचि बढ़ेगी सम्यग्दर्शन की, निर्मलता की भूमि उतनी ही पुष्ट होती जायेगी। और जितनी पर पदार्थ की ओर रुचि बढ़ेगी, उतनी ही आत्मा की मलिनता बढ़ेगी मिथ्यादर्शन की ओर गति होगी। आत्मा को शुद्ध करने के लिए लोभ को त्यागना आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य है। यह ध्यान रखना पहले कषायें शमित होती हैं, क्षपित होती हैं, तब सत्य की उपलब्धि होती है। लोभी व्यक्ति सत्य धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता। क्षीणमोह गुणस्थान में उत्तम शौच धर्म की परिपूर्णता हो जाती है और तेरहवें गुणस्थान में सम्पूर्ण सत्य धर्म की उपलब्धि हो जाती है। इसलिए आचार्यों ने पहले उत्तम शौच धर्म कहा है। कषायों के अंत होने का क्रम भी यही है। जिस प्रकार स्वच्छ उर्वरा मृदु भूमि पर निर्दोष बीजारोपण किया जाता है ताकि पौधे का अंकुरण हो और अच्छी फसल प्राप्त हो उसी प्रकार सत्यागमन से पूर्व आत्मशुद्धि हेतु शौच / शुचिता का होना, पवित्रता का होना सत्य को ग्रहण करने की क्षमता उत्पन्न करता है। आत्मा में शुचिता न हो तो सत्य का प्रवेश भी संभव नहीं है। सत्य का साक्षात्कार निर्मल आत्मा में ही सम्भव है।

लोभी मन धन को ही, जीवन का आधार मानता है।
मोही मन विषय विकार को ही, अमृत धार मानता है।।
ज्ञानी की तो बात क्या कहें कि -
ज्ञानी मन सदाचार को ही, जीवन का सार मानता है।।

उत्तम सत्य धर्म

आत्मा को श्रेष्ठ बनाता सत्य धर्म

मङ्गलाचरण

स सत्यविद्या तपसां प्रणायकः समग्रधीरुग्रकुलाम्बुरांशुमान्।
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते विलीन मिथ्यापथदृष्टि विभ्रमः ।।

सद्धर्म बन्धुओं।

दशलक्षण पर्व महोत्सव में बड़े उत्साह पूर्वक दश धर्म रूपी अमृतवर्षा में स्नानीभूत होकर अपने आपको परम पवित्र बनाने के उद्देश्य से पुरुषार्थ रत हैं। धर्म के दशलक्षणों, दश चरणों या दश भेदों में निज आत्मा में जो अभिन्न, अनन्त शक्ति समाहित है, सुप्त है उसे जागृत करने का पवित्र, निर्मल बनाने का निरन्तर प्रयास चल रहा है। एक-एक धर्म पर विचार करते हुए आज उत्तम सत्य धर्म पर विचार करेंगे। क्षमा, मृदुता, ऋजुता और शुचिता का सार सत्य धर्म है। उत्तम सत्य धर्म का दिन अपने जीवन में एक नया मोड़ लाए, नई एक उमंग लाए। सच्चा जीवन जीने के लिए एक नया मार्गदर्शन इस धर्म के माध्यम से मिले यह हम सभी लोगों की मंगल भावना है। आप सबके साथ हम भी चिन्तन कर रहे हैं ऐसा नहीं है कि मात्र आप सबको सुना रहे हैं, आप सब लोगों के निमित्त से हमें भी अच्छा चिन्तन करने का सौभाग्य मिलता है और हम लोग ऐसे धर्म के माध्यम से अपनी आत्मा को उज्ज्वल, पवित्र बनाते हैं।

दशधर्मों में चार धर्मों को पाने से सत्य की उपलब्धि होती है। और शेष चार धर्मों को पाने से ब्रह्म-आत्म में लीनता होती है, जो कि दशों धर्मों का सार है। मुनियों के महाव्रतों, भाषा समिति, वचन गुप्ति, सत्य वचन आदि में सत्य धर्म होता है। अन्तरंग में ध्यान से जो वस्तु तत्त्व प्रगट हुआ, जो स्वभाव प्रकट हुआ, जो स्वरूप की अनुभूति हुई है, वह सत्य है। उत्तम सत्य धर्म का संबंध बोलने से नहीं है। आत्मा के धर्मों का विषय है। वस्तु के सत्य स्वरूप का ज्ञान अर्थात् वस्तु जैसी है। उसका उसी प्रकार से ज्ञान होना यही सत्य धर्म है। वास्तव में वस्तु रूप से जितनी सत्ता है, वह सत्य है। लेकिन सत्य धर्म का होना चेतना के आधार से है। जो वस्तु को सामान्य विशेषात्मक मानता है, द्रव्य-पर्यायात्मक मानता है, उत्पाद-

व्यय-ध्रौव्य स्वरूप मानता हुआ, सत् स्वरूप मानता है उसके सत्य धर्म होता है।

उत्तम सत्य धर्म के बारे में आचार्यों ने बहुत अच्छा कहा है-

'सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचनं सत्यमित्युच्यते'

सज्जनों से हितकारी वचन बोलना सत्य धर्म कहलाता है। धर्मभावना शतक में लिखा है-

सज्जन लोगों के आगे शुभ, हितकर वचनों को कहना।
भव दु:ख हरण वचन से नित ही, सत्य धर्म में रत रहना।। 39।।

यहाँ कहा गया है कि सज्जनों से कहा जाए। ऐसा किसलिए कहा गया है इस पर चिन्तन करते हैं। सज्जनों से ही क्यों कहा जाए, दुर्जनों से क्यों नहीं कह सकते? आप जानते हैं कि दश धर्मों का प्रमुखता से श्रमण, साधु, मुनि लोग ही पालन करते हैं और साधना के रूप में श्रावक भी पालन करते हैं। साधुओं की अपेक्षा उत्कृष्ट परिभाषा कही जा रही है। बोलते समय अपनी बातों का प्रभाव होना चाहिए। अपने शब्दों का मूल्य होना चाहिए। जो व्यक्ति अपने कहे शब्दों का मूल्य नहीं समझता, कुछ कहने पर बुरा मानता है उससे कुछ कहना ही व्यर्थ है। ***माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ*** वाली बात अपने अन्दर चिन्तन करना अच्छा है। जो विपरीत प्रवृत्ति वाले हैं उनसे माध्यस्थ भाव रखना अच्छा है क्योंकि वे अच्छा सुनना पसंद भी नहीं करते और अगर उनसे कुछ कहा जाए तो वे झगड़ा करने को तैयार रहते हैं ऐसे लोगों से सत्य भी नहीं कहना चाहिए साथ में यह समझना चाहिए कि अपना समय इनको देना व्यर्थ है-

कहावत है भैंस के सामने बीन बजाने से क्या होता है? सांप के सामने बजाएं तो वह डोलने लग जाए, प्रभावित हो जाए और भैंस के सामने बीन तो जानते हो क्या होगा? वह लौट करके तुम्हें मारेगी। जो जिसका मूल्य समझता हो उसके समक्ष उस बात को कहना अच्छा लगता है। इसलिए आचार्यों ने कहा है कि सज्जनों से बोला जाए क्योंकि वह उसका मूल्य समझेगा, उपयोग करेगा, वह स्वयं अकेला ही नहीं, न जाने और उससे कितने लोग धर्म को ग्रहण करेंगे, मोक्षमार्ग का रास्ता प्रशस्त हो जायेगा। गुरुजन हमेशा सज्जनों से कहते हैं। किसके लिए कहते

हैं? क्या संसार के लिए कहते हैं, अपकार के लिए या किसी की पीड़ा आदि के लिए? नहीं, इन सबके लिए नहीं बल्कि जिससे हित हो, सबका उद्धार हो, सबका कल्याण हो, इस भावना से कहते हैं, वह सत्य धर्म है।

दो बातें हमेशा ध्यान रखना, प्रथम यह कि हम किसी को कोई वस्तु दे रहे हैं तो दूसरे में उसको लेने की पात्रता है कि नहीं इस बात का पहले अनुमान कर उसे जान लें, तभी किसी को कोई वस्तु प्रदान करें। यहाँ बात आध्यात्मिक की चल रही है। हमारे आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि जिस किसी को व्रत नहीं देना चाहिए। यदि वह हाँ भी बोले तो भी नहीं देना चाहिए क्योंकि अभी तक उस व्यक्ति ने क्या पाला है? कितने व्रतों को कैसे पाला है? अतिचार-अनाचार लगे कि नहीं या ऐसे ही व्रतों को पूर्ण किये बिना छोड़ दिया। व्रतों की अवज्ञा तो नहीं की अथवा उसका स्वास्थ्य कैसा है? उसके घर का वातावरण कैसा है? घर के लोग कैसे हैं? उसकी अपनी कितनी भावना है। इन सब बातों को अगर नहीं जानेंगे तो व्रत की अवज्ञा हो सकती है। इसलिए नियम-संयम देने के पहले व्यक्ति को परखा जाता है कि वह इसका उपयोग करेगा, कि दुरुपयोग करेगा इस प्रकार पात्रता को देखा जाता है। यह तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत धर्म है। गुरु तो सिर्फ माध्यम बनते हैं।

धर्म तो आत्मा का होता है। अपनी-अपनी आत्मा का धर्म है। देने की कोई बात नहीं है। यह तो जागृत करने की बात है इसके पालन करने के लिए गुरु आशीर्वाद दे देते हैं कि उसे संकल्प स्मरण में रहे। उन संकल्पों के पालने की योग्यता को प्राप्त करें नहीं तो जिन धर्म की अवज्ञा हो जाती है। देखने में आता है कि कई लोग व्रत नियम संयम तो ले लेते हैं, वे व्रत नियम संयम मात्र नाम भर को रह जाते हैं, पालन कितना और कैसे करते हैं कुछ नहीं कह सकते। इसमें जानते हो धर्म की बदनामी होती है साथ में लोग कहते हैं इतने बड़े गुरु से व्रत ले लिये और कुछ पालन नहीं हो रहा है। केवल नाम के लिए बोला जा रहा है कि मैं व्रती हूँ, ये व्रत धारण किये हुए हूँ, मेरे पास ये नियम संकल्प हैं आदि आदि। इससे क्या होगा कि जो अन्य लोग होते हैं वे सोचेंगे कि जिनधर्म में ऐसा ही होता होगा। बोलने में कुछ होता होगा, करने में कुछ और होता होगा, ऐसा करने से जिनेन्द्र भगवान के मार्ग की अवज्ञा हो जाती है, अप्रभावना होती है। इसीलिए गुरु योग्य व्यक्ति को ही व्रतों को

देते हैं, ताकि व्रत का पालन ठीक से कर सकें और जिन धर्म की प्रभावना बढ़े।

हमारे गुरु महाराज आप जानते हैं कितनी परीक्षा करते हैं? बहुत परीक्षा करते हैं। पहले हम लोगों की कठोर परीक्षा ली थी, ऐसे ही मुनि नहीं बन गये पहले ब्रह्मचारी बने। ब्रह्मचर्य व्रत लेने में भी बहुत परीक्षायें हुई। तब कहीं ब्रह्मचर्य व्रत हुआ फिर धीरे-धीरे प्रतिमाधारी बने। जब तक गुरु महाराज ने योग्यता को जाना नहीं तब तक रुको-रुको बोलते थे और जब जाना तो स्वयं बुलवाया। जब हम ब्रह्मचारी थे, आहार जी तीर्थक्षेत्र की बात है। गुरु महाराज जी को यह योग्य स्थान लगा। मंदिर जी में हम बैठे थे, गुरु महाराज जी भी वहाँ आये उनको भी यहाँ प्रशस्त सा, अच्छा लगा। उन्हें हमने आदर पूर्वक आसन दिया फिर महाराज जी बोले जो अन्य लोग साथ में थे उनमें से कुछ को बुलवाया और हम सब को सात-सात प्रतिमायें दीं। एक दिन आहार जी में ही शांतिनाथ भगवान जी की पूजा चल रही थी। हम सभी को गुरु महाराज जी ने याद किया है ऐसा किसी ने आकर कहा। पूजन पूर्ण करने के उपरांत गुरु महाराज जी के पास गये। नमोस्तु कर चरण वंदना की। महाराज जी ने तुरंत पूछा स्वास्थ्य ठीक है ना । ऐसा मौका बहुत कम आता है कि गुरु महाराज ऐसा पूछें। थोड़ा आश्चर्य सा हुआ। हमने कहा-ठीक है महाराज जी। बहुत अच्छा। जबकि गुरु महाराज जी के पास ही रहते थे, तीनों समय की सामायिक करते थे। महाराज जी पूछ रहे हैं तो कुछ न कुछ विशेष कारण होना चाहिए। थोड़ी देर बाद कहा कि अच्छे से आहार करके आना। अब तो ऐसा लगा कि क्या बात है, कुछ विशेष बात है, प्रसन्नता से हमने कहा ठीक है महाराज जी अच्छे से करके आयेंगे। अच्छे से करके आना का मतलब निश्चिंतता से करके आना, एकदम जल्दी-जल्दी करके मत आना।

आहार करने गये और उसी दिन बाल आ गया अन्तराय हो गया सात प्रतिमायें थीं। हमने दूसरे महाराजों से गुरु महाराज जी की बात के बारे में पूछा तो उन्होंने बताया हाँ संकेत हो गया, कल केशलोंच करना है। कल दीक्षाएँ हैं ऐसा लग रहा है। दूसरे दिन क्षुल्लक दीक्षाएँ होना थीं उसमें हमें भी दीक्षा दी गयी। गुरुओं का उपकार देखो जब समझ लेते हैं कि योग्यता है तो उसके बाद स्वत: ही उपकार करते हैं, जब तक योग्यता नहीं जान लेते तब तक बोलना बड़ा कठिन है, क्योंकि इसका उपयोग क्या होगा? नहीं मालूम । उत्तम सत्य धर्म की परिभाषा समझ रहे हैं

- जो सज्जनों के हित के लिये कहा जाए वह सत्य धर्म है। दुर्जनों से क्यों नहीं बोलते क्योंकि उसका दुरुपयोग हो जाएगा। हित की बात कहते हैं। आप जानते ही हैं साधु तो मुनि हैं। मुनि की परिभाषा क्या है 'मौनं धारतीति मुनि' अर्थात् जो मौन को धारण करते वो मुनि कहलाते हैं। मौन भी कई प्रकार का होता है। एक मौन वह होता है जिसमें किसी से बात नहीं करना, हाथ पर हाथ रख करके बैठ जाना, अन्न जल का भी त्याग कर देना। दूसरा मौन है जिसमें मन में, अपने मुख के अन्दर तो बातें करते रहते हैं, अर्हन्त सिद्ध भगवान के गुणों का स्मरण तो करते रहते हैं, पर बाह्य में मौन धारण करते हैं, बोलते नहीं हैं। एक मौन यह भी है जिसमें देव, शास्त्र, गुरु की स्तुति करते हैं, शास्त्र पढ़ते हैं, गुरु के चरणों में प्रायश्चित्त भी लेते हैं लेकिन अपने साधर्मी लोगों से बोलते नहीं है और न श्रावकों से बोलते हैं। एक मौन यह भी है जिसमें सबसे बोलते हैं। सबसे मतलब सब सज्जनों से बोलते हैं। ऐसा नहीं है कि जितना जैसा चाहें तो बोलें, अति आवश्यक हो तो ही बोलते हैं। अपने सभी आवश्यकों का पालन करते हैं, उसके उपरांत कभी कोई हित के बारे में, कल्याण के विषय में, व्रत, नियम, संयम की चर्चा आए तो बोलते हैं। इसमें भी श्रावक पूछें तो साधु-मुनि बोलते हैं, समय का बन्धन रखते हैं। बोलते हुए भी मौन रहते हैं आप कहेंगे ये कौन सा मौन है। भइया जीवन भर के लिए पंच पापों का त्याग किया है। ये संकल्प है कि अपने मुख से पाप वचन नहीं बोलेंगे। किसी से आरम्भ-सारम्भ के विषय में नहीं कहेंगे कि तुम बिल्डिंग बनाओ, घास को काटो, पानी को बहाओ, अग्नि को जलाओ, भूमि को खोदो, भोजन बनाओ इत्यादि वचन अपने मुख से नहीं बोलेंगे। जो कुछ भी बोलेंगे तो धर्म के लिए बोलेंगे। यह भी एक तरह का मौन है जो मुनियों के जीवन भर रहता है अत: वे मुनि कहलाते हैं।

मौन की शांति अलग ही तरह की है। सब प्रकार के विकल्प शान्त हो जाते हैं। नहीं तो जितना बोलो उतने विचार और उतने ज्यादा विकल्प आते हैं। समाधान के लिए भी बहुत विकल्प आते हैं। इसलिए कुछ नहीं बोलना। अच्छा हो कि सुनना भी नहीं, तो और भी शांति मिले। यह थोड़ा कठिन सा लगता है कि सुनो ही मत तो बोलने की इच्छा भी नहीं होगी। एकान्त में चले जाओ, तीर्थ क्षेत्र पर चले जाओ, मंदिर में चले जाओ एक कोने में बैठ जाओ या आंखों को बंद करके बैठ जाओ जहाँ न सुनना, न बोलना और न देखना फिर देखो कितनी शांति मिलती है,

कितने भाव उज्ज्वल होते हैं, बहुत ज्यादा शांति मिलेगी। शास्त्र पढ़ो, स्वाध्याय करो, माला फेरो, भगवान का स्मरण करो, साधना करो, बहुत शांति मिलेगी ऐसी जीवन में कभी नहीं मिली होगी। तीर्थ क्षेत्र हो तो ऐसा लगेगा बस यहीं जीवन बिता दें। वास्तव में सत्य की रक्षा तभी हो सकती है। कहा भी है ***मौनिनः कलहो नास्ति*** मौनी व्यक्ति को कलह की बाधा नहीं होती। शान्त मन में ही अपनी आत्मा का अवलोकन करने का भाव, अपनी सत्यार्थ स्थिति में लीन होने का भाव आता है तथा आत्मा में दृढ़ता उत्पन्न होती है।

आप सभी को मालूम है कि तीर्थंकर जो होते हैं दीक्षा लेने के बाद कभी बोलते ही नहीं हैं। आप कहेंगे कि समवसरण में बोलते हैं; तो भइया ऐसा है कि लोगों के पुण्य से तीर्थंकर की दिव्य ध्वनि खिरती है, वे अपनी इच्छा पूर्वक नहीं बोलते हैं। अपने-आप सर्वांग से दिव्य ध्वनि खिरती है, ओंठ चलाकर नहीं बोलते हैं। बड़ी विशेषताएँ हैं, विचार करो । ऐसी भी महान आत्मायें हैं। मान लीजिए तीर्थंकर भगवान की एक पूर्व कोटि वर्ष की आयु है और आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो जाय तो आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त्त कम एक पूर्व कोटि वर्ष तक वे नहीं बोलेंगे। क्यों नहीं बोलते हैं इसका कारण यह है कि तीर्थंकर वर्धमान चारित्र के धारक होते हैं उन्हें कोई दोष नहीं लगता। दोष लगेगा तो फिर उनका चारित्र मलिन हो जायेगा और फिर उन्हें प्रायश्चित्त आदि करना पड़ेगा । इसलिए उनका चारित्र वर्धमान अर्थात् बढ़ता ही रहता है घटता नहीं है। तीर्थंकर की दिव्य ध्वनि अनुभय वचन में होती है। हम लोगों का चारित्र घटता-बढ़ता, बढ़ता-घटता ही रहता है, दोष लगते हैं प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त से शुद्ध होते हैं फिर आगे बढ़ते हैं ऐसा है। ध्यान रखें प्रत्येक जीव को सदैव ही स्व-पर हितकारक, परिमित तथा अमृत के समान सत्य वचन बोलने चाहिए। यदि कदाचित् बोलने में कठिनाई प्रतीत होती है तो मौन रहना चाहिए। ***मौनं सर्वार्थ साधनम्*** मौन रहने से समस्त कार्यों की सिद्धि होती है। धर्मभावना शतक में लिखा है-

अप्रिय कटुक कठोर शब्द जो, निश-दिन हैं बोला करते।
पर निंदा अरु चुगली से भी, सत्य धर्म भूला करते ।।
आतम ऐसा सत्य न बोलो, जिससे हिंसा होती है।
मौन रहें तो सबसे अच्छा, जिनवर-सम यह वृत्ति है ।। 40।।

आचार्यों ने सत्य धर्म की परिभाषा अनेक रूप में की है। वारसाणुवेक्खा में कहा गया है कि -

परसंतावय कारण वयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं ।। 74।।

अर्थात् जो मुनि दूसरे को क्लेश पहुँचाने वाले वचनों को छोड़कर अपने और दूसरे के हित करने वाले वचन कहता उसके सत्य धर्म होता है। सत्य धर्म के बारे में कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में आचार्य कहते हैं -

जिण-वयणमेव भासदि तं पालेदुं असक्कमाणो वि ।
ववहारेण वि अलियं ण वददि जो सच्चवाई सो ।। 398।।

जो जिन आचारों को पालने में असमर्थ होता हुआ भी जिन वचन का ही कथन करता है उससे विपरीत कथन नहीं करता है तथा व्यवहार में भी झूठ नहीं बोलता वह सत्यवादी है।

सत्यवाचि प्रतिष्ठितः सर्वा गुणसंपदः। अनृतभाषिणं बन्धवोऽपि अवमन्यते मित्राणि च परित्यजन्ति,जिह्वाच्छेदन सर्वस्वहरणादि व्यसन भागपि भवति।(त.वा. 9/6)

सभी गुण सम्पदाएँ सत्य वक्ता में प्रतिष्ठित होती है। झूठ का बन्धुजन भी तिरस्कार करते हैं, उसका कोई मित्र नहीं रहता। जिह्वा छेदन, सर्वधन हरण आदि दण्ड उसे भुगतने पड़ते हैं। ***तेषामसौ विरजो ब्रह्म लोको, न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति*** । जिन व्यक्तियों में कुटिलता, असत्यता और कपट विद्यमान नहीं हैं, वे ही विकार रहित (मुक्ति) को प्राप्त करने के अधिकारी हैं। सत्य का संबंध मन-वचन-काय इन तीनों योगों से है। मुनिवर्य अपनी वचन गुप्ति का सत्य द्वारा पालन करते हैं इससे वे संसार की अर्ति-पीड़ा का क्षय करते हैं। सत्य आत्म साक्षात्कार का साधन है, आत्मानुभूति की वस्तु है। पूर्ण सत्य आत्मा का अनुभव है। व्यक्ति के ज्ञान और आचरण में जब समानता हो तभी उसका प्रभाव पड़ता है। सत्य का प्रभाव बिना बोले ही पड़ जाता है। जबकि असत्य की अनेक दलीलें बेकार हो जाती है। जो व्यक्ति एक बार भी सत्य को छोड़ता है उस असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए अनेकों बार असत्य का प्रयोग करना पड़ता है, इसी तरह एक बार भी असत्य बोलने

के उपरांत कई बार सत्य बोलने पर भी उस सत्य को भी असत्य की कोटि में मान लिया जाता है। सत्य तो एक प्रतीति है, अनुभूति है, जो कि शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती। जो शब्दों के द्वारा व्यक्त होगी वह सत्य नहीं सत्यांश है, उसी सत्यांश के माध्यम से शाश्वत् सत्य को प्राप्त करना है।

उत्तम सत्य धर्म तो श्रमण धर्म है। जैनाचार्यों ने सत्य को स्थूल रूप में अणुव्रत एवं सूक्ष्म रूप में महाव्रत के भेद से दो प्रकार का बताया है। स्थूल रूप से हिंसा पूर्ण वचन नहीं कहना, कठोर और निष्ठुर वचन नहीं बोलना, ऐसे वचन भी नहीं कहना जिससे दूसरों की गुप्त बात प्रकट होती हो, हित-मित-प्रिय वचन बोलना, सब जीवों से संतोषजनक वचन बोलना, धर्म का प्रकाशन करने वाले वचन बोलना सत्याणुव्रत है। जब तक अणुव्रत रूप में सत्य का परिपालन नहीं करेंगे, तब तक अपना गृहस्थ जीवन भी पवित्र एवं श्रेष्ठ नहीं बना सकते। सत्याणुव्रत के ठीक से पालन करने के पश्चात् सत्य महाव्रत को अंगीकार करना चाहिए। राग, द्वेष, मोह, पैशुन्य (चुगल खोरी), ईर्ष्या आदि के वश होकर असत्य नहीं बोलना,जिससे दूसरे को सन्ताप हो, ऐसे सत्य वचन भी नहीं बोलना, सर्वथा अस्ति या नास्ति रूप एकान्त वाक्य का त्याग करना, सूत्रार्थ अर्थात् द्वादशांग वाणी का अन्यथा प्रतिपादन नहीं करना सत्य महाव्रत है। उत्तम सत्य धर्म को तो वीतरागी ही परिपूर्णत: प्राप्त कर सकते हैं। निर्ग्रन्थ मुनिवर ही ऐसे श्रेष्ठ उत्तम सत्य का परिपालन कर सकते हैं। इसके बाद वचन गुप्ति है, बोलना ही नहीं क्योंकि सत्य तो अनुभव की चीज है। इसके बाद सत्य धर्म की जो अनुभूति होती है, वह अनुभूति किसी को बतला नहीं सकते उत्तम सत्य धर्म तो गूंगे के गुड़ के समान है, जिसे वचनों से नहीं कह सकते वही धर्म कहलाता है। जो सत्य का आलम्बन लेता है, वह शरीर में छिपी हुई अनन्त शक्ति, अव्याबाध सुख, अनन्त ज्ञान की ज्योति को पा लेता है।

सत्यव्रत की रक्षा के लिए आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र के अध्याय सातवे में कहा है कि-

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ।।5।।

क्रोध, लोभ, भीरुत्व (भय) और हास्य का त्याग अनुवीची भाषणं ये पांच सत्यव्रत की रक्षा के लिए भावनाएँ हैं। सत्य की रक्षा करना है तो क्रोध का

त्याग, लोभ का त्याग, भय का त्याग, और हास्य का त्याग करना तथा अनुवीची भाषण-शास्त्र के अनुकूल बोलना। क्रोध के कारण व्यक्ति असत्य बोल देता है। कभी व्यक्ति लोभ की भावना से भी असत्य बोल देता है। बहुत तीव्र लोभ रहता है। और कभी-कभी भय के वश भी असत्य बोल देते हैं कि मुझे सतायेंगे मारेंगे कुछ कहेंगे तो इसलिए असत्य बोल देते हैं। कभी-कभी हंसी मजाक में भी असत्य बोल जाते हैं। हंसी मजाक में न जाने कौन-कौन से शब्द निकल जाते हैं जो असत्य रूप होते हैं। प्रसन्नता अलग बात है। लेकिन हँसी-हँसी में लोग खूब हँसते हैं, गपशप करते बैठते हैं, वे फालतू बैठकर खूब चर्चाएँ करते हैं, उसमें ऐसी कितनी ही बातें निकल जाती हैं कि बुराई हो जाती है, आपस में बैर भावनाएं धारण कर लेते हैं और बड़े ही सहज में कह देते हैं कि हमने तो हँसी में, मजाक में कहा था उन्होंने सही सत्य मान लिया तो क्या करें। देखों तुमने तो हँसी में कहा था पर उसको तो बात चुभ गयी, उसने तो सही में मान लिया। सामने वाला ये थोड़े ही समझेगा कि तुमने हँसी में कहा था तो बुराई हो जाती है। हँसी-मजाक में भी असत्य का समर्थन हो जाता है। इसी तरह अगर आगम के अनुकूल वचन नहीं बोलते हैं तो वो भी असत्य का ही रूप है। इसलिए आगम के अनुकूल वचन बोलना चाहिए।

क्रोध के कारण भी लोग असत्य बोल देते हैं। व्यक्ति को जब कभी क्रोध आता है तो वह न जाने क्या क्या बोल जाता है। उसे ही ध्यान नहीं रहता कि हमने क्या बोल दिया फिर बार में पश्चात्ताप करते हैं कि मुझे क्षमा करना अपने आप मुख से ऐसा निकल गया, ध्यान नहीं रहा, क्रोध में कहाँ ध्यान रहता है। क्रोध एक ऐसी अवस्था है, उसमें ऐसी अग्नि है कि धर्म के सारे गुण जल जाते हैं और उस समय उस उत्तेजना में न जाने मुँह से क्या-क्या शब्द निकल जाते हैं सोच भी नहीं पाते। व्यक्ति बिल्कुल अंधा हो जाता है, बहरा हो जाता है, इसलिए क्रोध का त्याग करना चाहिए। क्रोध दूर हो जाता है तो असत्य वचन नहीं निकलेंगे। मौन रखने से क्रोध शान्त हो जाता है। मौन क्रोध से बचने का सबसे बड़ा उपाय है। मौन बहुत से अनर्थों से व्यक्ति को बचा देता है। क्रोध एक भड़कने वाली कषाय है। जब व्यक्ति की इच्छा पूर्ति में बाधा होती है तो क्रोध आता है। मनचाहा नहीं हो तो भी क्रोध आता है। मानसिक अस्त-व्यस्तता की अवस्था में भी क्रोध की स्थिति निर्मित होती है। अस्वस्थता की अवस्था में भी व्यक्ति क्रोध करता है। व्यक्ति जब किसी काम में

उलझा हो, समाधान नहीं मिल रहा हो, परेशान हो तो भी क्रोध आ जाता है। क्रोध में व्यक्ति अंधा हो जाता है उसे कुछ भी सुझायी नहीं देता है। विवेक शून्य, चेतना शून्य हो जाता है। क्रोध धर्म को नष्ट कर देता है। एक क्षण का क्रोध अनेक भवों के संचित पुण्य, व्रत, तप, नियम, उपवास आदि को नष्ट कर देता है। क्रोधी जीव अधोगति को प्राप्त होता है।

क्रोध के कारण भी जो असत्य बोल देते हैं, इसका दृष्टांत बड़ा ही मार्मिक हृदय स्पर्शी है -

एक स्वस्तिकावती नामक नगरी थी उसके विश्वावसु राजा थे। उसका वसु नाम का पुत्र था। उसी नगरी में क्षीरकदम्ब नाम के उपाध्याय रहते थे। वे सरल स्वभावी, चारित्रवान, प्रकाण्ड विद्वान थे, जिनदेव के परमभक्त थे। शांतिविधान, हवन, अनुष्ठान आदि के द्वारा गृहस्थों के लिए शांति सुख हेतु अनुष्ठान कराते रहते थे। उनका भी पर्वत नाम का पुत्र था। उपाध्याय के समीप अनेक विद्यार्थी विद्याध्ययन किया करते थे। जिनमें उनका पुत्र पर्वत, सेठ का पुत्र नारद और राजपुत्र वसु प्रमुख थे। इन तीनों में परस्पर अत्यन्त स्नेह था। गुरु उपाध्याय ने शिक्षा सबको समान दी। समान शिक्षा देने पर भी सबको समान रूप से विद्या याद रहती है ऐसा नहीं कह सकते। गुरु सबको समान पढ़ाते हैं पर सबका अपना-अपना उपादान है। क्लास में सौ विद्यार्थी पढ़ते हैं, सौ के सौ ही उत्तीर्ण हो जावें ऐसा नहीं, कुछ अनुत्तीर्ण भी हो जाते हैं, यह अपनी-अपनी योग्यता है।

कालांतर में गुरु के दीक्षित हो जाने पर उनके पुत्र पर्वत ने उपाध्याय का पद संभाला और वह बालकों को धर्माध्ययन कराने लगा। राजकुमार वसु भी राजा बनकर न्यायपूर्वक राज्य संचालन करने लगे। राजा वसु के सिंहासन के पाये स्फटिक मणि से बने हुए थे, जिसे देख कर यही लगता था कि राजा का सिंहासन अधर है। उनके पुण्य के प्रभाव से प्रजा में यही प्रसिद्धि हो गयी थी कि राजा बहुत सत्यवादी है इसलिए सत्य के बल से राजा का सिंहासन आकाश में अधर टिका हुआ है। राजा वसु उस सिंहासन पर बैठते थे।

सेठ का पुत्र नारद कुशाग्र बुद्धि का था। एक दिन वह अपने सहपाठी गुरुपुत्र पर्वत से मिलने आया। संयोग से पर्वत उस समय अपने विद्यार्थियों को पढ़ा

रहा था। एक सूत्र वाक्य का अर्थ उसने समझाया ***'अजैर्यष्टव्यम्'*** बकरों से यज्ञ करना चाहिए। यह सुनकर नारद ने उसे टोकते हुए कहा कि इस श्रुति वाक्य का ऐसा अर्थ नहीं है। हे मित्र! परम ज्ञानी गुरु ने इसका अर्थ ऐसा बतलाया था कि ***'अजैस्त्रिवार्षिकैर्धान्यैर्यष्टव्यम्'*** अज का अर्थ है, ऐसा धान जिसमें अंकुर उत्पन्न होने की शक्ति न हो; इस प्रकार इसका अर्थ तीन वर्ष पुराने धान्य से शांति अथवा पुष्टि कार्य के हेतु यज्ञ-हवन करना चाहिए। अपने पिता द्वारा बतलाये अर्थ का अनर्थ करना तुम्हें शोभा नहीं देता। ऐसा लगता है तुम्हारी बुद्धि विपरीत हो गयी है जो अज का अर्थ बकरा बतला रहे हो। पर्वत ने नारद की एक भी बात नहीं मानी। विवाद अधिक बढ़ गया दोनों वचन बद्ध हो गये कि इसका निर्णय राजा वसु से सभा में करायेंगे।

घर जाकर पर्वत ने अपनी माँ को सारा वृतांत कह सुनाया। गुरु माता शास्त्र की ज्ञाता थी वह अपने बेटे पर्वत के झूठ को समझ गयी उसने पर्वत को समझाते हुए कहा बेटा! तुमने इस श्रुति का विपरीत अर्थ कर दिया है। नारद सही कह रहा है, तुम्हारे पिता ने वैसा ही अर्थ समझाया था उसे ही स्वीकारना चाहिए परन्तु पर्वत अपने दुराग्रह से नहीं हटा, वह अपनी हठ पर अड़ा रहा अपनी माँ का कहना नहीं माना। कहते हैं न; विपत्ति काल उपस्थित हो जाने पर मनुष्य की बुद्धि विपरीत अर्थात् मलिन हो जाती है। पर्वत की माँ भी जानती थी उसका पुत्र झूठ बोल रहा है फिर भी पुत्र के व्यामोह में आकर वह राजा वसु के पास पहुँची और राजा वसु को सारी बात बता दी तथा अपने अनुग्रह के बदले में पर्वत का पक्ष लेने को कहा।

राजा वसु का हृदय यह सुनकर काँप उठा। वह बड़ी दुविधा में था कि क्या करूँ? कुछ समझ में नहीं आ रहा है इस निर्णायक दौर में, सिद्धांत प्रतिपादन के क्षणों में जबकि अहिंसा या हिंसा की परम्परा चलने का प्रश्न था। राजसभा में राजा वसु अपने स्फटिक सिंहासन पर आरूढ़ थे। नारद व पर्वत और साथ में पर्वत की माँ राजसभा में न्याय कराने के लिए आये। राजा का निर्णय देखने के लिये बहुत से लोग एकत्रित थे। दोनों ने 'अजैर्यष्टव्यम्' का अपना अपना अर्थ राजा को सुना दिया और कहा कि आप भी हम दोनों के सहपाठी थे गुरु ने इसका क्या अर्थ किया है आप बतलाइये? राजा के निर्णय की प्रतीक्षा करने लगे। राजा ने कहा इस विषय को क्यों बढ़ाना। यद्यपि राजा वसु के स्मरण में था कि सही अर्थ तीन वर्ष पुराना धान है

जिससे हवन करना चाहिए ऐसा गुरु ने अर्थ किया था। दोनों को समझाया। नारद को पूरा विश्वास था कि राजा वसु न्यायनिष्ठ है निर्णय अवश्य मेरे पक्ष में देंगे वहीं पर्वत का हृदय कुछ-कुछ आशंकित था परन्तु गुरु माता को राजा वसु ने वचन दिया था पर्वत के पक्ष में निर्णय सुनाने का। राजा को इतना क्रोध आ गया कि उसने कह दिया कि अज का अर्थ पर्वत के कथनानुसार है। बस फिर क्या? असत्य के पक्ष में जैसे ही निर्णय सुनाया उसी क्षण राजा वसु का सिंहासन पृथ्वी पर गिर पड़ा और वह पृथ्वी में धँसने लगा। यह देखकर नारद ने कहा - हे राजन् देख लो क्रोध और महाझूठ का फल अभी भी संभल जाओ किन्तु राजा ने नारद की बात पर ध्यान नहीं दिया अन्त में मरकर नरक गति को प्राप्त हुआ। क्रोध के वशीभूत होकर के असत्य का जो भाषण किया नरक में पहुंच गया। पूजा में यह पंक्ति पढ़ते हैं -

वसु झूठ सेती नरक पहुँचा, स्वर्ग में नारद गया।

दृष्टांत से स्पष्ट ज्ञात होता है कि असत्य न कभी बोलना चाहिए और कदापि असत्य का पक्ष नहीं लेना चाहिए। क्रोध असत्य के गर्त में डाल देता है। सत्य और क्रोध परस्पर विरोधी तत्व हैं। क्रोध विवेक का हरण कर लेता है और जहाँ अविवेक होता है वहाँ सत्य नहीं होता। राजा वसु ने क्रोध वश मिथ्या निर्णय दिया इसलिए उसका तत्काल पतन हो गया, वह दुर्गति का पात्र बना ।

लोभ के कारण भी लोग असत्य बोल जाते हैं। जहाँ लोभ है वहाँ नियम से असत्य है। लोभ में आकर लोग अपना स्वार्थ कर सिद्ध करने के लिए असत्य बोला करते हैं। रूपये पैसे धन के लोभ में पढ़कर व्यक्ति न्याय नीति को छोड़ देता है और किसी भी प्रकार से समृद्ध वैभवशाली होने के लिए असत्य का सहारा लेता रहता है। एक बड़ा व्यापारी था जो गिरवी रखने का कार्य करता था। जिसे आज आप फायनेंस बोलते हैं ऐसा काम करता था। कई लोग सामान रखने आते थे, अपना माल रख कर जाते थे। रत्न, मोती, जेवरात आदि जो भी होते थे रख जाते थे। वह व्यापारी अपने आपको सत्यवादी घोषित करता था। इसीलिए लोग उसे सत्यघोष कहने लगे। जो भी सामान रखते थे उन्हें समय पर दे देता था। लोगों का विश्वास बढ़ता गया। वह कहता था कि असत्य कभी नहीं बोलूंगा। अगर में किसी का धन रखके असत्य बोलूं तो मेरे पास यह जनेऊ में छुरी है इससे अपनी जिह्वा काट लूँगा। सभी लोग व्यापारी पर बड़ा विश्वास करते थे, लेकिन एक दिन परीक्षा हो ही गयी।

एक दिन समुद्रदत्त नामक व्यापारी ने श्रीभूति पुरोहित अपर नाम सत्यघोष के व्यवहार से प्रसन्न होकर अपने कीमती पाँच रत्न उसके पास रखने के लिए आया। उसने आकर सत्यघोष से कहा कि मैं विदेश व्यापार यात्रा के लिए जा रहा हूँ, मेरे ये रत्न रख लीजिए, वापिस आऊँगा तो इनको ले लूँगा। सत्यघोष ने कहा ठीक है रख दो और वह व्यक्ति अपने रत्न रखकर चला गया। विदेश में उसने बहुत सा धन कमाया, पुण्य का योग था। लेकिन धन लेकर वह जैसे ही अपने देश की ओर आने की सोचने लगा तभी उसे अचानक ही बहुत बड़ा व्यापार में घाटा हो गया। कर्म की गति बड़ी ही विचित्र होती है, कहाँ इतनी धन सम्पत्ति और कहाँ दिवालिया हो गया उसके पास कुछ भी नहीं बचा। अपने देश आने के लिए भी पैसे नहीं थे। जैसे-तैसे लोगों से व्यवस्था कर थोड़े बहुत पैसे मिल गये तो वह अपने देश आ गया। लेकिन उसके पास कुछ भी नहीं था। घर पर भी कुछ नहीं था, वह भी खाली था।

सत्यघोष को मालूम पड़ा कि जो व्यक्ति पाँच रत्न रख के गया था वह बर्बाद हो गया। उसका सब कुछ चला गया। उसके मन में उन कीमती रत्नों के प्रति लोभ आ गया। उसने सोचा अब वह रत्न लेने आयेगा। इसलिए उसने पहले से ही माहौल बना दिया आस-पास में कि देखा भइया! एक व्यक्ति अपने आस-पास पागल-सा रहता है, आप लोग उसकी बातों पर ध्यान नहीं देना, उस पर कोई विश्वास भी नहीं करना, वह तो ऐसे ही बोलता रहता है बड़ा पागल है। फटे पुराने वस्त्र पहने हुए होगा और बोलेगा मेरे रत्न दे दो, मेरे रूपये पैसे दे दो, ये दे दो, वो दे दो आदि-आदि। ऐसे व्यक्ति के पास कहीं रत्न-रूपये-पैसे होते हैं। आप लोग देख लेना वह व्यक्ति ऐसे ही बोलेगा। मेरी बात सत्य निकलेगी, मेरा नाम सत्यघोष है जो बोलता हूँ, सत्य बोलता हूँ। इधर वह व्यक्ति जो रत्न रख के गया था इस माहौल से अनभिज्ञ था। बहुत परेशान तो था ही उसने सोचा सत्यघोष के पास अपने रत्न रख गया था उन्हें लाकर अपना काम चलाता हूँ और वह सत्यघोष के पास आया।

उस व्यक्ति ने आकर सत्यघोष को प्रणाम किया और बोला कि सेठ जी आप महान है, मेरी सहायता कीजिए, मैंने अपने रत्न आपके पास रखे थे वो वापिस दे दीजिए। सत्यघोष उसकी बात सुनकर जोर-जोर से बोलने लगा - देखो भइया मैंने पहले ही कहा था कि एक पागल-सा व्यक्ति आयेगा और क्या कहेगा, देखो

यह वही व्यक्ति आ गया और वही कह रहा है जो हमने आप सबको पहले ही कहा था। आप सब देखो क्या ऐसे पागल व्यक्ति के पास रत्न हो सकते हैं? यह सब सुनकर वह व्यक्ति बहुत दु:खी हुआ, रोने लगा और सोचने लगा कि अब क्या होने वाला है? उसने सत्यघोष और लोगों से बहुत विनती की, मिन्नतें की पर किसी ने कुछ नहीं सुना उसे पागल कहकर निकाल दिया। वह व्यक्ति न्याय के लिए राजा सिंहसेन के पास गया। राजा ने भी कुछ नहीं सुना उसने रानी रामदत्ता से भी अपने बात कही; उसने भी पागल ही समझ कर महल से बाहर करवा दिया। अब वह क्या करे दर-दर भटकने लगा। साथ ही राजा के महल के समीप में एक वृक्ष था उस पर चढ़कर एक ही वाक्य बोलता, सत्यघोष झूठ बोल रहा है उसने मेरे रत्न रख लिये हैं अब वह रत्न नहीं दे रहा है वे मेरे रत्न थे। यही वाक्य बार-बार बोलता रहता। छ: महीने तक वह यही कहता रहा यह सब सुनकर एक दिन रानी को शंका हुई कि यह व्यक्ति पागल नहीं लगता; क्योंकि एक ही वाक्य इतने समय से बोल रहा है इसमें कोई अन्तर नहीं है, कोई गलत काम भी नहीं करता है, इसकी सुनवायी जरूर होनी चाहिए।

रानी ने एक युक्ति सोची और जानकारी देकर पहले सत्यघोष को महल में बुलवाया और उससे कहा तुम्हारे साथ राजा के सामने चौपड़ खेलना चाहते हैं, सत्यघोष ने अपनी स्वीकृति दे दी। खेल प्रारम्भ हुआ। खेल-खेल में रानी ने एक-एक वस्तु जीतना प्रारम्भ की उसने सत्यघोष के हाथ में पहनी हुई अंगूठी (मुद्रिका) जीतकर धीरे से अपनी दासी को बुलाकर दी और बोला - जाओ सत्यघोष की पत्नी को देकर के आओ और उससे कहना - जो व्यक्ति ने पाँच वेशकीमती रत्न रखे थे वो रत्न मँगायें हैं। दासी सत्यघोष के घर पहुँचकर रानी का संदेशा कह देती है, अंगूठी दिखाती है। अंगूठी देखकर सत्यघोष की पत्नी कहती है मैं जब तक ब्रह्मसूत्र में बंधी कैंची नहीं देख लेती तब तक कुछ भी नहीं देती। दासी ने आकर रानी को सारी बात बतलायी, रानी ने खेल में ब्रह्मसूत्र सह कैंची जीत ली और फिर दासी को पुन: रत्न लेने भेज दिया जनेऊ छुरी को देखकर सत्यघोष की पत्नी ने पाँचों रत्न दे दिये, जब रत्न लेकर दासी रानीके पास आयी तो रानी ने थोड़ी देर बाद खेल बंद कर दिया क्योंकि अब रहस्य रानी के सामने खुल गया था। रानी ने अपनी युक्ति से सत्यघोष की असत्यता को पकड़ लिया और उसके घर से रत्न प्रमाणरूप में मँगवा लिये। पहरेदार से उस पागल व्यक्ति को बुलवाया और सभी के

सामने उसे बैठा दिया। बहुत सारे रत्न एक थाली में मँगवाये और उसके पाँच रत्न उन रत्नों में मिलवा दिये। रत्नों से भरी थाली उस पागल समान व्यक्ति के सामने रखकर उससे कहा अपने रत्न ले लो। राजा ने कहा तेरे जो रत्न हों उन्हें लेलो। उस व्यक्ति ने रत्नों को देखा और जो रत्न वास्तव में उसके थे उन्हें ही उठाया, बांकी के छोड़ दिये। रत्न देखकर राजा-रानी सभी को समझ में आ गया कि यह पागल नहीं हैं, बड़ा बुद्धिमान है। सत्यघोष की ठगाई समझ में आ गयी।

राजा ने मंत्रियों से परामर्श कर तीन दण्डों में से कोई एक दण्ड स्वीकारने-सहने के लिए सत्यघोष से कहा। पहला पहलवान से तीन घूँसे (मुक्के) सहो, दूसरा तीन थाली गोबर खाओ, तीसरा सब धन दे दो राज्य के लिए। सत्यघोष ने अपनी गलती मानी और अपराध स्वीकार करते हुए दण्ड के लिए उसने पहलवान से घूँसे खाने के लिए कहा। पहलवान का एक ही घूँसा पड़ा तो आंखे बाहर निकलने लगीं, वह अधमरा हो गया। राजा से बोला हम यह दण्ड स्वीकार नहीं कर सकते आप दूसरा दण्ड दे दें। थाली में गोबर मँगवाया गया। गोबर खाया पर वह उतना था कि खाया गया नहीं उल्टियाँ होने लगी लाचार होकर उसे अपना सारा धन राजा को देना पड़ा। इस प्रकार अपने आप को सत्यवादी घोषित करने वाले सत्यघोष ने अपने झूठे व्यवहार से अपनी असत्यता को दर्शा दिया उसका प्रतिफल तीनों दण्ड उसे भोगने पड़े, अपमान व अनादर मिला सो अलग। लोभ के वशीभूत होकर उसने असत्य बोला तो कारागृह और नरक पाकर ऐसी महादुर्गति हुई।

भय के कारण भी असत्य (अनृत) बोला जाता है। जीवन में कई ऐसे अवसर आते हैं जब भयभीत होकर डरकर के मनुष्य असत्य का सहारा ले लेता है। उस परिस्थिति, आपत्ति या संकट में वह असत्य से अपनी सुरक्षा मानता है। असत्य बोलकर उस विपत्ति या हानि से बचने का प्रयत्न करता है। इसके विषय में एक दृष्टांत ग्रंथों में आता है-

कनकपुर का राजा धनदत्त जिनधर्मी था उसकी दिगम्बर मुनियों में बहुत आस्था थी। राजा का श्री वंदक नाम का बौद्ध मंत्री था जो दूसरे धर्म का अनुयायी था, परन्तु राजा और मंत्री दोनों आपस में मित्र भी थे। एक दिन राजा और मंत्री दोनों राजमहल की छत पर बैठे थे और प्रकृति का मनोरम दृश्य देख रहे थे। मौसम अच्छा सुहावना था उसी समय वे दोनों देखते हैं कि आकाश मार्ग से दो चारण

ऋद्धि मुनि आ रहे हैं। राजा ने उन्हें देखकर जोर से हे स्वामी! नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु कहा। देखो राजा का कितना ऊँचा महल होगा। ग्रंथों में वर्णन आता है कि पहले बत्तीस-बत्तीस खण्ड के भी महल होते थे। आकाश में गमन करते हुए चारण ऋद्धि मुनिराज को इतने ऊँचे महल से नमोस्तु किया तो मुनिराज थोड़े से रुके। मुनिराज ने देखा कि कोई भक्त है दर्शन कर रहा है, कर लेने दो। राजा ने विनय से मुनिराज का आह्वान किया जिससे वे उनकी छत पर उतरे। राजा ने उन्हें उच्च आसन पर विराजमान करके चरण वंदना की और अपने को धन्य माना। राजा ने मुनिराज से उपदेश के लिए प्रार्थना की प्रभु कुछ कहिए, जिससे हमारे जीवन का उद्धार हो।

मुनिराज ने उपदेश दिया। उपदेश से प्रभावित होकर मंत्री श्रीवंदक ने सम्यक्त्व सहित श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये। मुनिराज आशीर्वाद देकर विहार कर गये। राजा और मंत्री ने परस्पर विचार किया कि इस बात को सारी प्रजा के बीच राज्य सभा में बतालायें। दूसरे दिन श्री वंदक अपने धर्मगुरु की वंदना करने नहीं गया, तब उसके गुरु ने उसे बुलवाया। श्रीवंदक गुरु के समीप गया लेकिन वहाँ जाकर उसने गुरु को नमस्कार न करके अपने व्रत ग्रहण करने की बात सुनायी तो गुरु ने उससे कहा ऐ सावधान! इस आकाश में गमन वाली बात को बिल्कुल मत कह देना। नहीं तो दिगम्बर जैन धर्म की प्रभावना अधिक हो जायेगी, उसका नाम बढ़ जाएगा। ऐसे होते हैं क्या साधु? अपने यहाँ तो ऐसे होते नहीं और तुम उनके बारे में कहोगे तो उनका प्रभाव अधिक हो जाएगा इसलिए तुम इस बात को नहीं कहना। गुरु ने पुनः श्रीवंदक से कहा कि ये लोग इन्द्रजालिया हैं, कहीं कोई साधु आकाश में चल सकते हैं? गुरु की बात श्रीवंदक को मानना पड़ी क्योंकि गुरु की बात नहीं मानेंगे तो समाज से निकाल देंगे, फिर समाज में जाने को नहीं मिलेगा, लोग नहीं पूछेंगे कैसे क्या होगा? समाज में बदनामी होगी, जीवन कैसे चलेगा? इसलिए ठीक है गुरु की बात मान लेते हैं। श्रीवंदक अपने घर आ गया।

राज्यसभा में राजा ने सभी की उपस्थिति में आकाशगामी चारण ऋद्धि धारक मुनियों का सारा वृत्तान्त सुनाया और साक्षी में राजा ने श्रीवंदक से कहा कि तुमने भी जो कल अपनी आँखों से दिगम्बर मुनियों का प्रभाव देखा है सो राज्यसभा में कहो। श्रीवंदक ने राज्यसभा में कहा - मैंने देखा ही नहीं, ऐसा कैसे हो सकता,

मैंने कुछ भी नहीं देखा है। इतना श्रीवंदक का कहना था उसने असत्य बोला तुरन्त उसकी दोनों आँखों से दिखाई देना बंद हो गया। देखो भय के कारण उसने असत्य बोला उसकी आँखों से दिखाई देना बंद हो गया, वह अन्धा हो गया। यहाँ-वहाँ हाथ कर टटोलने का प्रयास करने लगा, रोते हुए कहने लगा ये क्या हो गया मुझे कुछ दिखाई नहीं दे रहा है? तब राजा और विद्वान लोगों ने कहा-तुमने असत्य भाषण किया है, जो तुमने देखा था उसके विपरीत बोल दिया है इसलिए यह सब हो गया है। उस समय सभी ने मंत्री श्रीवंदक के असत्य भाषण की निन्दा करके जैन धर्म की खूब प्रशंसा की। श्रीवंदक ने भयाक्रान्त अवस्था में असत्य का सहारा लिया जो कि उचित नहीं था। भयभीत व्यक्ति सत्य को प्रकाश में नहीं ला सकता है क्योंकि सत्य अभय की भूमि पर खड़ा होता है।

हास्य यानि हँसी-हँसी मजाक के कारण भी असत्य बोला जाता है। बहुत से लोग हँसी-मजाक में कौतूहल के लिए भी असत्य बोल देते हैं। किसी व्यक्ति को हैरान परेशान करने व्याकुल करने के लिए असत्य बोल देते हैं। इसी में उनका मनोरंजन होता है। व्यर्थ की बातों से मनोरंजन करते हैं इससे मनोरंजन तो हो सकता है परन्तु सत्य नहीं मिल सकता है मात्र समय ही बर्बाद होता है। हमारे संघ में एक महाराज जी ने दृष्टांत सुनाया था, वही कह रहा हूँ। हास्य मतलब हँसी-हँसी में कभी असत्य बोल दिया जाता है।

एक नगर में दो मित्र थे। दोनों एक शाम टहलते हुए घूमने गये और जाकर के एक जगह खेत के किनारे बैठ गये। एक मित्र ने दूसरे से कहा - भैया मेरी तो इच्छा यह हो रही है कि ये खेत खरीद लूँ। दूसरा मित्र बोला-अच्छा आप खेत खरीदेंगे, खरीदो-खरीदो अच्छा है खरीदो। मैं भी कुछ खरीदना चाहता हूँ? पहला मित्र बोला-क्या खरीदोगे तुम, तुममें क्या शक्ति है, तुम्हारे पास तो कुछ है ही नहीं; बोलते रहते हो केवल; करते-धरते कुछ हो नहीं, ऐसे मजाक में मत बोला करो। दूसरा मित्र बोला-नहीं-नहीं भैया मैं खरीदने वाला हूँ। क्या खरीदने वाले हो जरा बतलाना तो सही। मैं तो भैंस खरीदूँगा। भैंस; अच्छा है खरीद लो पर ध्यान रखना देखो। पहले मित्र ने एक पास में पड़ा पत्थर का टुकड़ा उठाया और रेखा खींचकर कहा देखो यह मैंने खेत खरीद लिया, मेरा खेत है यह। दूसरे मित्र ने भी पत्थर का टुकड़ा उठाया और कहा ये है मेरी भैंस ध्यान रखना तुम। पहले मित्र ने कहा-देखो

ध्यान तुम्हें रखना है कि मेरे खेत में अगर भैंस आ गयी तो फिर मैं नहीं जानता कुछ भी हो जायेगा। देखो भइया दोनों मित्रों में केवल हँसी-मजाक में ही बात चल रही थी, अब यह बात कहाँ मोड़ ले रही है। कैसे बात आगे बढ़ रही है।

दूसरा मित्र बोला - क्या हो जायेगा? पहले मित्र ने कहा - पहले भैंस हमारे खेत में आये तो सही फिर मैं देखता हूँ क्या करता हूँ? दूसरे ने वह पत्थर का टुकड़ा उठाकर उसकी रेखा के अंदर फेंका और कहा- ये लो भैंस तुम्हारे खेत में आ गयी क्या करोगे बताओ। पहले मित्र ने एकदम हाथ उठाया और मारा एक जोर से, मेरे खेत में तुम्हारी भैंस क्यों आयी। दूसरे मित्र ने भी हाथ उठा दिया। दोनों एक-दूसरे को मारने लगे, झगड़ा होने लगा, सम्भलना मुश्किल हो गया अब। लोगों ने आकर पकड़ा कि क्या हो गया और फिर पुलिस के हवाले कर दिया अब मामला कोर्ट में पहुँच गया। मजिस्ट्रेट के सामने दोनों मित्रों ने अपनी-अपनी बात बयान की।

पहले मित्र ने कहा - ये मेरा खेत है, इस खेत में हमने इससे कहा था कि तुम्हारी भैंस नहीं आनी चाहिए, लेकिन इसने अपनी भैंस को मेरे खेत में पहुँचा दिया। मजिस्ट्रेट ने बात सुनकर कहा - अच्छा बुलवाओ पटवारी को उससे यह पता कर बताओ कि तुम्हारा खेत कहाँ है? कौन-सी भूमि पर है? कितना लम्बा-चौड़ा है? कहाँ से रास्ता है? उसमें क्या है? बाड़ लगी है कि नहीं लगी, उसमें कुछ बोया कि नहीं या केवल घास है। यह प्रश्न सुनकर उसके होश उड़ गये, उसको ऐसा लगने लगा कि अब तो मेरा क्या होगा; गये काम से। मजिस्ट्रेट ने दूसरे मित्र से भी पूछा तुम्हारी भैंस कहाँ से आयी? किसके पास से खरीदी, कब ली थी, कितनी पुरानी थी, कहाँ से खरीदी थी, कितने में खरीदी थी? यह सब सुनकर इसकी भी आँखे खुल गयी। दोनों मित्रों ने एक-दूसरे को देखा, अरे भैया! अब तो बहुत बुरे फँस गये, दोनों आँसू बहाने लगे और मजिस्ट्रेट से बोले- हे जजसाहब न तो हमारा कोई खेत है और न कोई इसकी भैंस है, हम लोगों को क्षमा कीजिए और हम लोगों को यहाँ से जाने दीजिए। मजिस्ट्रेट ने कहा-अरे अभी कहीं नहीं जा सकते? तुमने सबको परेशान किया है, यहीं रुको। पहले यह बतालाओ कि क्या हुआ?

पहले मित्र ने कहा-ऐसा हुआ था कि हम घूमने गये थे और वहाँ खेत के किनारे बैठे थे कि सोचा एक खेत खरीदेंगे, तो हमने पत्थर की लकीर से ऐसा ही खेत बना लिया और इसने भी कहा कि हम भैंस खरीदेंगे तो एक पत्थर उठाकर उसे

भैंस मान लिया तब हमने अपने इस मित्र से कहा-मेरे खेत में तुम्हारी भैंस नहीं आना चाहिए, तो भी इसने भैंस को मेरे खेत में डाल दिया। इसलिए झगड़ा हो गया। बस साहब यही बात है। मजिस्ट्रेट ने सारी बात सुनकर कहा अरे न तुम्हारा खेत है और न तुम्हारी भैंस है फिर भी झगड़ा किया दोनों को डाल दो जेल में क्योंकि इन्होंने सबको फालतू में परेशान किया है। हँसी मजाक में ऐसे खेल कहीं कई दुविधाओं के कारण बन जाते हैं। भैया देखो हँसी-हँसी में खेत और भैंस, फिर झगड़ा, कोर्ट कच्हरी हुई, जेल हुई। हँसी-हँसी में बहुत असत्य होता है, झूठ असत्य झूठा खेल दूसरों को परेशान होने का कारण बन जाता है। इसी प्रकार हँसी-हँसी मनोरंजन में कितने सारे विवाद और लड़ाई झगड़े होते हैं अतएवं हँसी को समय नहीं देना चाहिए धर्म को समय देना अच्छा है। अच्छे से जीवन जिओ। कहते हैं जैसे हमारे यहाँ लोग हँसी-मजाक में समय लगाते हैं वैसे विदेशी लोगों को हँसी-मजाक के लिए टाइम नहीं रहता। वे लोग अपनी ड्यूटी करते हैं सुबह से शाम तक बिजी रहते हैं, उसी में उनका सब कुछ है और वहाँ के हर एक क्षेत्र में बहुत विकास है, बस एक धर्म के क्षेत्र को छोड़कर के वहाँ बहुत कुछ है। आपको सहज रूप से धर्म मिला है फिर भी लोग इन पापों से अपने आप को नहीं बचा पा रहे हैं। महापुरुषों-संतो-मनीषियों के संदेश और उनकी वाणी मिली फिर भी इन सबसे नहीं बच पा रहे हैं।

शास्त्र-आगम के अनुसार निर्दोष वचन नहीं कहने के कारण भी असत्य का समर्थन हो जाता है। आगम, धर्म के अनुरूप कथन न कहकर उन्हें तोड़-मरोड़ कर कहना, जैसा प्रतिपादन किया गया वैसा नहीं कहना। एकान्त का सहारा लेना, एक नय से कथन कर जीवन की नाव को खेना आदि बातों से असत्य बोल देते हैं। यह बात ध्यान सदा रखना कि असत्य थोड़ी देर के लिए तो काम बना सकता है किन्तु हमेशा वह प्रतिष्ठा नहीं दिला सकता उसका दुष्परिणाम जो होता है उसे भोगना ही पड़ता है। एक शिक्षाप्रद प्रसंग है -

एक राजा था । वह बड़ा व्यसनी तथा माँस का लोलुपी था परन्तु एक बात जरूर अच्छी थी कि उसके परिवार में कोई धर्मात्मा व्यक्ति हुए होंगे जो माँस आदि जैसी चीजों के त्यागी रहे और शास्त्र स्वाध्याय जैसी परम्परा का निर्वाह करते थे। स्वाध्याय के लिए एक पण्डित निश्चित था जो राज्यसभा में शास्त्र वाचन करता था। यही परम्परा राजा ने भी अपनायी। एक पण्डित जो था वह शास्त्र वाचन प्रतिदिन

करता था, उसने अपने घर में भी बेटों को पण्डिताई करना सिखाई थी। जिससे शास्त्र वाचन नियमित चलता रहे।

पण्डित शास्त्र सभा में शास्त्र वाचन करता है जिसे राजा मंत्री आदि सभासद सुन रहे थे। एक दिन पण्डित को किसी कारण से बाहर जाना था तो उसने राजा से कहा कि कल शास्त्र वाचन मेरा पुत्र कर देगा। आगे इस परम्परा का निर्वाहन तो उसे ही करना है, हमारा उत्तरदायित्व सम्भालने वाला वही है, उसको इस योग्य बना दिया है। राजा ने कहा ठीक है भेज देना। घर जाकर पण्डित ने पुत्र से कहा-बेटा कल शास्त्र सभा के लिए राज्यभवन में तुझे जाना है, वहाँ राजा आदि के सामने अच्छे से शास्त्र वाचन करना। बेटे ने कहा - अच्छा पिताजी, अच्छे से पढ़ूँगा, अपने ढंग से आगम के अनुकूल जैसा है वैसा ही पढूंगा।

पण्डित का बेटा दूसरे दिन राज्यभवन पहुँचा। समयानुसार शास्त्र सभा प्रारम्भ की। शास्त्र वाचन करते हुए एक जगह एक वाक्य आया कि -

तिलभर मछली खाए के, कोटि गो दे दान।
काशी करवट ले मरे तो भी नरक निदान ।।

इसका अर्थ बतलाते हुए कहा - जो व्यक्ति तिल भर मछली खाता है, अथवा तिल भर अगर कोई माँस का सेवन करता है और करोड़ों गायों का भी दान दे, इसके साथ गंगा में स्नान कर आएं, काशी घूम आएं तो भी उसे नरक में जाना ही पड़ता है। यह बात जो आयी है ब्राह्मण ग्रंथ की बात है उनके ग्रंथ में इस प्रकार लिखा है। पण्डित के बेटे ने जब इस प्रकार का कथन किया जिसे सुनकर तुरन्त राजा के ह्रदय में आग लग गयी। राजा ने गुस्से में भरकर कहा-अरे! कौन है तू? चुप हो जा, बन्द कर यह सब। क्या बोलता है तेरे बाप-दादा ने यह आज तक बोला नहीं है और तू यह क्या बोल रहा है। इतनी जोर से पण्डित के बेटे को डाँटा कि वह कँपने लगा पसीना-पसीना हो गया। वह सोचने लगा ये क्या हो गया। जो लिखा है वही तो पढ़ा है मैंने। राजा ने कहा-तुझे अभी पढ़ना नहीं आता, उठ जा यहाँ से और चला जा यहाँ से; इस देश से निकल जा आज अभी निकल जा नहीं तो कल तेरे लिए फांसी पर चढ़ा दिया जाएगा।

यह सब सुनकर उसके पैरों के नीचे से मिट्टी खिसक गयी। वह डरता हुआ जैसे-तैसे घर पहुँचा, मानों उसके अन्दर कोई शक्ति ही नहीं रही हो, मानों

सारा खून ही सूख गया हो। माँ के पास रोने लगा और माँ से बोला माँ हमें बचाओ, अब मेरा क्या होगा? बड़ी मुश्किल से कुछ कह पाया, दूसरे साथी साथ में आये थे उन्होंने सारी बात सुनायी। वह तो बहुत घबराया हुआ था। माँ ने कहा-यह क्या हो गया, देखो तू घबरा मत; मैं देखती हूँ। अब कर भी क्या सकते हैं? वह शीघ्र ही राजा के पास पहुँची। राजा से अनुनय की, पर राजा कुछ भी सुनने को तैयार नहीं था उसने कहा-यहाँ से चली जा यहां से मुझे कुछ नहीं सुनना है। वह हिम्मत कर बोली राजन् आप अपराध क्षमा कीजिए, इतना समय तो दीजिए कि इसके पिताजी बाहर से आ जाएं, फिर हम चले जायेंगे। वे कल ही आ जायेंगे। राजा ने कहा ठीक है ध्यान रखना।

अगले दिन पिताजी वापिस आये, उन्हें सारा वृतान्त सुनाया,सुनकर के उन्होंने कहा-अरे! बड़ी भूल कर दी तूने। पुत्र ने कहा-पिताजी क्या भूल हुई मुझसे, मैंने तो वही पढ़ा जो शास्त्र में लिखा था। पिताजी ने कहा-ऐसा नहीं पढ़ा जाता। तुझे कुछ नहीं आता, कुछ नहीं सीखा तूने, केवल पढ़ने मात्र से सब कुछ नहीं सीख लिया। अर्थ लगाकर बताना नहीं सीखा। चलो राजा के पास हम चलते हैं क्षमा माँग लेंगे। पिता-पुत्र राजा के पास पहुँचे। पिता ने पुत्र से कहा राजन् से क्षमा माँगो। राजा ने देखते ही कहा-नहीं; यहाँ मत आना, चले जाओ यहाँ से। पण्डित ने कहा हजूर, क्षमा करना हम पैर पड़ते हैं आपके हाथ जोड़ते हैं, जो कुछ दण्ड देना है सो दे देना, पर थोड़ी सी हमारी सुन लो। राजा ने कहा-जाओ तुम लोग यहाँ से हमें कुछ भी नहीं सुनना है। पण्डित ने बहुत मिन्नते की तब कहीं बहुत मुश्किल से राजा बात सुनने को तैयार हुआ। राजा ने कहा - बोलो-बोलो क्या बोलना चाहते हो?

पण्डित बोला-राजन् मेरे बेटे को कुछ नहीं आता, इसको मैंने अभी बहुत थोड़ा पढ़ाया है इसलिए इसे ज्यादा कुछ नहीं आता। इसने जो कुछ आपको बतलाया, कहा बिल्कुल ठीक है। राजा बोला-क्या कह रहे हो तुम। पण्डित ने कहा इसने जो कुछ कहा वह बिल्कुल ठीक है लेकिन इसका अर्थ ऐसा नहीं है। राजा ने पूछा फिर कैसा अर्थ है? पण्डित ने कहा-देखो राजन् बात ऐसी है, तिलभर जो मछली खाए उसकी नरक नहीं चूकती है। राजा ने पण्डित को टोकते हुए जोर से कहा-फिर वहीं कह रहे हो शर्म नहीं आती। पण्डित ने शांत स्वर में कहा-थोड़ा सुनिए तो सही। तिल भर जो मछली खाए उसकी नरक नहीं चूकती और जो मनभर

मछली खाए उसका स्वर्ग नहीं चूकता। इस प्रकार इसका यह अर्थ है। राजा जोर से ठहाका लगाकर कहता है आ हा हा ये है सच्चा अर्थ, ऐसा बताना चाहिए था न तेरे बेटे को, ऐसा उसे क्यों नहीं सिखाया। पण्डित ने कहा क्षमा करना राजन् उसे कुछ नहीं आता। आगे से ऐसा ही सिखाऊँगा।

देखो भैया जरा विचार करो–जो तिल भर मछली खाए वो नरक में जाने वाला है, चूकने वाला नहीं है, ये तो आगम शास्त्र कहता है, शास्त्र थोड़े ही बदल जायेगा, वह तो वैसे ही रहने वाला है; लेकिन यह ध्यान रखना कि खाने वाला तो नरक में जायेगा लेकिन जो विपरीत कह रहा है वो कहाँ जाएगा? नरक क्या निगोद में! क्योंकि वह तो कुमार्ग बतला रहा है। शास्त्र के अनुकूल वचन नहीं कहता है तो कितना असत्य बोला जाता है। परिणामतः इस जन्म में तो प्रतिफल मिलता ही है अगले जन्म में भी प्रतिफल भोगना पड़ते हैं। शास्त्र से मायाचार किया; मिलावट की उसे शस्त्र के रूप में प्रयोग किया; वह कितने नीचे जायेगा? उसको तो नरक में भी जगह नहीं मिलेगी, फिर तो निगोद में ही जायेगा। इसका तो कोई प्रायश्चित्त भी नहीं दिखता सिवाय नरक निगोद में जाने के। पण्डित प्रवर दौलतराम जी छहढाला में कहते हैं।

एक श्वाँस में अठ दस बार, जन्मयो–मर्‌यो भर्‌यो दुःखभार।

जो पण्डित शब्दों में जीता है, वह मात्र कहता है, करता नहीं है। इसलिए पण्डित शास्त्र को पढ़कर श्रोता के अनुसार अर्थ बतलाता है। उसने आगम के अनुसार नहीं अर्थ किया परिणामतः दुर्गति का पात्र बना अनेकों कष्ट जीवन में सहना पड़े। पूर्वाचार्यों के कथनानुसार ही सभी बातों को स्वीकार कर चलने वाला व्यक्ति ही सत्य को पाता है। किसी को खुश करने अपने स्वार्थ के लिए किसी की हाँ में हाँ मिलाना, उनके मन के अनुसार कार्य करना, बढ़ा–चढ़ा कर उसकी प्रशंसा करते रहना यह मधुर झूठ है ऐसे असत्य का भी त्याग करना चाहिए।

शास्त्र के विपरीत कभी कथन नहीं कहना। अनेकान्तमय जिनवाणी है उसमें गोल मोल मत करो। आज कहीं कोई व्यवहार को छोड़ रहे हैं तो कहीं निश्चय को छोड़ रहे हैं। कहीं पर्याय को नहीं मानते, तो कहीं निमित्त की अवहेलना करते हैं। कहीं आचार्यों की वाणी को छोड़ रहे हैं तो कहीं गाथायें छोड़ रहे हैं अथवा

श्लोक छोड़ रहे हैं। आगमानुकूल बातों को ग्रहण न कर अपने अनुसार ही लोगों को बता रहे हैं। वीतरागता के बिना ही शुद्धात्मानुभूति का होना। पंचमकाल में मुनि नहीं होते, पूजा–दान की परम्परा मुक्ति के कारण नहीं है आदि कहना असत्य का समर्थन करना है। इसलिए पूर्वाचार्यों के अनुसार कथन करने वाला साधक पण्डित ही सच्चा वक्ता है जो अनुवीचि भाषण करता है।

इस प्रकार सत्य धर्म पालन के लिए क्रोध, लोभ, भय, हास्य का त्याग और शास्त्र आज्ञानुसार कथन करना चाहिए। इनको छोड़े बिना सत्य का ठीक से पालन नहीं कर सकते हैं। धर्मभावना शतक में लिखा है–

सत्य धर्म का पालन करने, क्रोध सदा ही त्याग करें।
लोभ भाव को तजें सत्य में, भय का भी परिहार करें।।
नहीं हास्य में रमते हैं जो, वहीं सत्य पालन होता।
नहीं कषायें जागे तब ही, शुभ ध्यानों में भवि खोता ।।43।।

धर्म एक शाश्वत वस्तु हैं। धर्म की धारा को अविच्छिन्न रूप से अनाहत सभी तीर्थंकरों ने बहाया है। हमें भी तत्त्व का जैसा स्वरूप है उसे जैसा का तैसा रखना चाहिए। यह जरूर ध्यान रखना धर्म की व्याख्या जब कुछ अवसरवादी पण्डित जैसे के हाथ में हो तब सच्चे धर्मात्मा को सत्य को प्रकाशित करके सिद्धांत का प्रतिपादन आगमानुसार करना चाहिए। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में बहुत ही श्रेष्ठ बात कहीं है–

धर्म नाशे क्रिया ध्वंसे सुसिद्धान्तार्थ विप्लवे।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्त्व स्वरूप प्रकाशने ।। (9/15)

धर्म गुरुओं, आचार्यों, भगवन्तों को धर्म का अस्तित्व संकट में देखकर, क्रियाओं का विनाश और सिद्धांतों की उपेक्षा देखते हुए चुप नहीं बैठना चाहिए। बिना बोले बोलना चाहिए और निर्मल तत्त्व ज्ञान की गंगा बहानी चाहिए ताकि लोग धर्म का यथार्थ स्वरूप जान सकें, नहीं तो सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान में परिणत हुए बिना नहीं रहेगा। इसलिए कहा है ***सतां साधूनां हित भाषणं सत्यम्*** मतलब मुनि और उनके भक्त श्रावक के साथ हितकर वचन बोलना सत्य धर्म है। धर्म की वृद्धि के लिए धर्म सहित बोलने को सत्य कहा है। ज्ञान चारित्र आदि सिखाने में धर्म के व्यवहार की

आवश्यकता होती है। अंत में एक श्लोक के द्वारा धर्म की बात कह रहा हूँ। आप श्रावक हैं,मुनि महाराज की बात नहीं है। सत्य के लिए श्लोक कहते हैं-

सत्यं ब्रूयात् प्रिंय ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।। (मनुस्मृति 4/138)

'सत्यं ब्रूयात्' सत्य बोलो, 'प्रिय ब्रूयात्' प्रिय बोलो, 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' अप्रिय सत्य मत बोलो और 'नानृतं च प्रियं ब्रूयात्' प्रिय झूठ भी मत बालो, यही सनातन धर्म है, सत्य धर्म है। मतलब सत्य हित मित प्रिय हो। हित से तात्पर्य अपना और पर का भला करने वाला हो। मित से तात्पर्य परिमित हो, मर्यादित हो, अनावश्यक न हो और प्रिय अर्थात् कठोर कर्कश मर्म भेदी न हो, श्रुति सुखद हो। अप्रिय और कटु सत्य भी असत्य जैसी श्रेणी में आ जाता है। ऐसा सत्य भी असत्य के सामान है जिससे किसी पर विपत्ति आ जाये। किसी की नौकरी चले जाये,किसी के प्राण चले जायें, किसी को सजा हो जाये, किसी का जीवन बर्बाद हो जाये, किसी के जीवन का अपवाद फैल जाये। एक दृष्टांत है -

मान लीजिए किसी रास्ते से गाय जा रही है और आगे एक चौराहा है। गाय बड़ी तेजी से चौराहे पर भागती हुई आती है और पीछे से कसाई खंजर लिए दौड़ कर आ रहा है उस गाय को पकड़ने के लिए, मारने के लिए आ रहा है। आप चौराहे पर खड़े है, आपने अपनी आँखों से देखा है कि गाय दौड़कर आयी और एक चौराहे के घुमावदार रास्ते से चली गयी। पीछे से जो हाथ में खंजर लिये था उसने आकर पूछा कि यहाँ से गाय निकली है? आप समझ जाते हैं कि यह कसाई है, गाय को बूचड़खाने में ले जाएगा। उस समय आप सत्यवादी बनकर के क्या करेंगे? आपको ये ध्यान नहीं है कि उसकी गर्दन कट जायेगी, कोई भी अपराधी नहीं है, वह गाय तो निरपराधी है, ये तो मारने को आ रहा है। आप कोई महाव्रती तो है नहीं महाव्रती मुनिमहाराज जी की बात ही अलग होती है। उनसे हर प्रकार कोई पूंछता भी नहीं है क्योंकि उनकी अवस्था अलग होती है और अगर ऐसी परिस्थिति आ भी जाय तो मुनि महाराज जी विवाद में पड़ते ही नहीं है वे उस समय कुछ कहेंगे ही नहीं। परन्तु आपकी बात और है आप श्रावक हैं उस समय आप क्या करेंगे? कह देंगे कि हमने देखी है जिस तरफ से गाय आयी और जहाँ चली गयी वहाँ बता देंगे?

या दूसरी तरफ बतायेंगे क्योंकि जिससे उसकी प्राण रक्षा हो जायेगी। इस स्थिति में यह झूठ होते हुए भी सत्य ही है। यहाँ पर प्राणों की रक्षा होगी। जहाँ अहिंसा करुणा का भाव जुड़ा हो, धर्म जुड़ा हो वहाँ भी सत्य होता है। आचार्यों ने कहा है कि जहाँ सत्य बोलना कठिन है, सत्य बोलेंगे तो मामला बिगड़ जाएगा, कुछ भी हो सकता है तो ऐसी स्थिति में मौन हो जाओ, चुप रहो, पर यदि बोलो तो हित-मित-प्रिय सत्य ही बोलो।

सत्य जिसके पास होता है, उसके पास सब कुछ होता है। सत्य प्राणों का भी प्राण है। यदि सत्य को जो अपना लेता है तो संसार के सभी गुण उस सत्यवान व्यक्ति को अपना लेते हैं। सत्यार्थी, सत्यभाषी, सत्य अन्वेषक, सत्य में जीने वाला व्यक्ति कभी जीवन में दु:खी नहीं होता, वह जब सत्य को प्राप्त कर लेता है तो सब कुछ पा लेता है कहा भी है-

साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदय साँच है, ताके हिरदय आप ।।

जिसके हृदय में सत्य का वास है, उसके हृदय में परमात्मा का वास है अर्थात् उसकी आत्मा परमात्मा बन सकती है। सत्य बोलने वाला आपत्ति विपत्ति में भी अपने को स्थिर रखता है। अपने जीवन को प्रामाणिक बनाता है। सत्य संघर्ष में प्रकट होता है। संघर्ष में जब जीते हैं तो सत्य निखरता जाता है। जहाँ सुख और सुविधाओं के बीच में आते जाते हैं तो सुख और सुविधाओं के मध्य में आते जाते सत्य दबता जाता है। सत्य के वृक्ष को जीवन भर पोषण किया जाये तब कहीं फलीभूत होता है। सत्य का फल बड़ा मीठा होता है। आपसी व्यवहार में समीचीनता आती है, शत्रु से आत्म विश्वास, अपनापन और वात्सल्य वृद्धिगत होता है।

सत्य की महत्ता को आचार्यों ने बतलाते हुए कहा है कि हृदय से निकली हुई मधुरवाणी और अमृतमयी सौम्य रूप सह धर्म का निवास स्थान है। नम्रता और प्रिय सम्भाषण ये ही मनुष्य के आभूषण हैं अन्य नहीं। सत्यव्रत श्रुत, व्रत व योग का स्थान है, विद्या और विनय का भूषण है तथा रत्नत्रयमय मोक्षमार्ग और मोक्ष का कारण सत्य वचन ही है। सत्यवादी को अग्नि जलाती नहीं, पानी उसे डुबोने में असमर्थ होता है। सत्य निष्ठ व्यक्ति की यह सही है कि कदम-कदम पर परीक्षा होती है। सत्य को सहन करना बहुत कठिन है। सत्य की रक्षा भी कठिन है। सत्य

बोलने वालों को कष्ट भी सहना पड़ता है। संघर्ष भी करना पड़ता है, अग्नि परीक्षा भी हो सकती है। कहते हैं स्वर्ण की जितनी अग्नि परीक्षा होती है उसमें उतना ही निखार आता है। इसी प्रकार सत्य से जीवन आभावान बनता है। सती सीता के शील के प्रभाव से अग्निकुंड में जल व कमल खिला, सेठ सुदर्शन को शूली का सिंहासन बना आदि ऐसे सत्य धर्म से हुए अतिशय के महान उदाहरण है- जो हर एक व्यक्ति को सत्यवादिता का साहस उत्पन्न करते हैं। कहा ही है - 'सत्यमेव जयते'। राजा दशरथ ने कहा था कि-

रघुकुल रीति सदा चली आई, प्राण जाएं पर वचन न जाई।

सत्य वचन का पालन हर एक स्थिति में करना चाहिए। सत्य का पालन जिन्होंने किया वे इस संसार से मुक्त हो गए। सत्य हर आत्मा में विद्यमान है, वह शाश्वत है, सत्य की परिपूर्णता परमात्मा में हैं। सत्य पंच दोषों से रहित है, निर्मल निराकार है। सत्य शिव अर्थात् मोक्ष का कारण है और यह आत्मा को सुन्दर श्रेष्ठ बनाता है। धर्म भावना शतक में लिखा है -

सत्य मार्ग की सदा जीत हो, सुखी बने, जग विश्वासी।
सर्व लोक में होय प्रशंसित, और स्वर्ग का हो वासी ।।
सभी तरह के व्रत, संयम में, जब उत्साहित होता है।
नर हो काटे सभी कर्म वह, शिव का भागी होता है।। 48।।

उत्तम संयम धर्म

संयम से आत्मा की सम्हाल

मङ्गलाचरण

धम्मोमंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो।
देवावितस्स पणमंति जस्सधम्मे सया मणो ।।

सद्धर्म बन्धुओं।

आज हम पयूर्षण पर्व के षष्ठम् दिन उत्तम संयम धर्म पर चिन्तन करेंगे। चार कषायों का शमन हुआ और चार धर्मों का मिलन हुआ फिर सत्य मार्ग से चलना हुआ, सत्य पर अटल विश्वास रखा क्योंकि सत्य की भूमि पर संयम के बीज अंकुरित होते हैं तदुपरांत तप के जल से पल्लवित और पुष्पित होते हैं। इसलिए संयम के उपरांत तप का क्रम आता है। सत्य मार्ग से अपने जीवन में संयम की उपलब्धि हुई। संयम को अंगीकार करने के बाद ही कदम तप की ओर बढ़ सकते हैं। संयम बड़ा अनमोल रत्न है। संयम का जीवन में बहुत श्रेष्ठ स्थान है। कहा भी है **संयम खलु जीवनम्।** संयम आत्मा का एक विशेष गुण है जो अपने मन-वचन-काय मात्र को ही नहीं अपनी आत्मा को अपने से जोड़ता है। अपनी विभाव अवस्था समाप्त होकर के स्वभाव अवस्था प्राप्त होती है। यह एक संयम धर्म का ही अपने जीवन में प्रभाव है।

अपने जीवन को व्यवस्थित करने के लिए अपनी मन-वचन-काय की क्रियाओं को संयमित करना आवश्यक है, तभी हमारा जीवन अति संतुलित जीवन हो सकता है। अपनी हर एक क्रिया के बारे में अपने भावों को तौलते रहना चाहिए कि कहीं हमारी कोई क्रिया अनावश्यक तो नहीं हो रही है। हमारी मन-वचन-काय की प्रवृत्ति कहीं अपने मार्ग से च्युत करते हुए ऐसे विपरीत स्थान पर ले जाने को तो नहीं है क्योंकि ऐसी क्रिया अपने जीवन में जानकर तो करना ही नहीं है, कहीं अनजाने में भी ऐसी क्रिया न हो जाये इस बात का ध्यान हर एक ज्ञानी आत्मा को रखना चाहिए। अगर मन को वश में नहीं किया तो वह बंदर की तरह पापों की ओर भाग कर हमारी आध्यात्मिक सम्पदा को नष्ट कर देता है और वचनों को अपने काबू में नहीं रखा तो अनावश्यक वचनों से अपना गौरव समाप्त होकर अपने वचनों

का अनादर होने लग जाता है। इसी तरह अपनी काया को अनावश्यक कार्यों से नहीं सम्हाला तो अपनी गम्भीरता नष्ट होकर शारीरिक इनर्जी (शक्ति) खो जाती है और व्यक्ति धार्मिक कार्यों में आलस्य करने लग जाता है। सारा जीवन मन-वचन-काय के असंयम में बीत जाता है। पंचेन्द्रिय विषयों की पुष्टि और मन बहलाने में ही गृहस्थ का जीवन बीतता रहता है। मन-वचन-काय की प्रवृत्ति पर नियंत्रण करना इन पर लगाम लगाना ही संयम धर्म का सार है। यह दशलक्षण पर्व और उसमें भी उत्तम संयम धर्म का पावन दिन जीवन को संयमित बनाने की प्रेरणा देता है।

संयम इति संयमा: विषय कषाय इन्द्रिय लम्पटता का शमन हो जाता तो इसे संयम धर्म कहते हैं। धवला ग्रंथ में संयम की परिभाषा देते हुए आचार्य कहते हैं - **सम्यक् यमो वा संयमः।**

सम्यक् रूप से यम अर्थात् जो नियंत्रण है, वह नियंत्रण ही संयम है। सम्यक् रूप से नियंत्रण कहा है। नियंत्रण तो बहुत जगह होता है लेकिन समीचीन रूप से नियंत्रण हर एक जगह नहीं होता है, हम कर्मों के आस्रव से बचें और अपनी विभाव परिणति को छोड़कर अपनी जो स्वाभाविक परिणति है उसकी ओर आयें। विभाव अपना स्वभाव नहीं है, पर विभाव परिणति अपने में हो रही है इसलिए कह दिया। हम लोग ऐसे प्रयास में हमेशा सजग रहें। हमारा जो नियंत्रण संयम है, वह समीचीन/सम्यक् कब होगा? जब हम लौकिक चाहनाओं को छोड़कर सम्यग्दर्शन पूर्वक निस्वार्थ भावना से अपनी पंचेन्द्रियों और मन पर कंट्रोल रखेंगे तभी वह समीचीन नियंत्रण कहलायेगा। सम्यक् रूप से आत्मा पर नियंत्रण करना संयम कहलाता है।

इन्द्रिय निरोधः संयमः अर्थात् इन्द्रियों को अपने नियंत्रण में रखने का नाम संयम है। आचार्यों ने यह परिभाषा भी संयम की दी है। परन्तु यह भी कहा है 'सम्यक् यमो वा संयमः' समीचीन रूप से अपने लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए अपने सम्यग्दर्शन को सुरक्षित रखते हुए संसार की कांक्षा, भावना छोड़ते हुए जो नियंत्रण है सो वह संयम कहलाता है। वैसे देखा जाए तो बिना संयम के आप एक क्षण भी नहीं रह सकते। संसार के हर एक क्षेत्र में संयम पाया जाता है लेकिन वह संयम केवल लौकिक संयम है, पारमार्थिक नहीं। प्रायः हम देखें तो गाड़ी चलाने वाला बड़ा संयमित होता है, वह ब्रेक अपने हाथ में रखता है, किस साइड में चलना है तो

ब्रेक उसी प्रकार के दबा देता है, ब्रेक है, तो सुरक्षा है नहीं तो ऐक्सीडेन्ट होने में देर नहीं लगती। कम्प्यूटर चलाने वाला भी बड़ा सतर्क होता है, नहीं तो चिंता से चिता होने में देर नहीं इत्यादि। इस प्रकार हर एक कार्य में संयम रखते हैं, लेकिन यह संयम सम्यक्/समीचीन नियंत्रण नहीं है, यह मात्र संसार की वृद्धि अथवा अपने जीवन में विषयों की उपलब्धि कहो या अपनी स्वार्थ भावना कहो, इन सब भावनाओं से किया जाता है। इन्द्रिय विषयों के उपभोग के लिए जो संयम है, वह सम्यक् संयम नहीं है वैसे तो हर जगह संयम है, बस उस संयम के समय अपना लक्ष्य निर्धारित हो जाये और अपनी भावना प्रशस्त हो जाये तो फिर वही संयम सम्यक् संयम बन जाता है। सम्यक् संयम कैसे बन जाता है? संसार के क्षेत्र में जैसे कार्य कर रहे हैं वैसा ही यह विचार करें कि मेरी जो-जो क्रियायें हो रही हैं, उनमें कौनसा आस्रव होता है हमारा मन प्रशस्त है या अप्रशस्त है? ये क्रिया आवश्यक है या अनावश्यक है? इतना चिन्तन अगर बस होने लग जाये तो धीरे-धीरे वही प्रयास जो संसार की ओर हो रहा था, वह आत्मा की ओर होने लग जाता है। धर्मभावना शतक में लिखा है-

सम्यक्ता से अक्ष विषय का, होय नियंत्रण संयम है।
पाँच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ, धारण करना शुभ यम है।।
सभी कषायें जीतें मुनिवर, रत्नत्रय पालें निर्दोष।
व्रत शुद्धि बढ़ती है नित ही, बने श्रेष्ठ गुणों के कोष ।।50।।

आचार्यों ने आगम ग्रंथों में संयम धर्म के विषय में लिखा है। प्राकृत पंच संग्रह ग्रंथ में संयम का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि -

वद समिदि कसायाणं दंडाणं इंदियाणं पंचण्हं।
धारण पालण णिग्गह चाग जओ संजमो भणिओ ।।127।।

पाँच महाव्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, चार कषायों का निग्रह करना, मन-वचन-काय रूप तीन दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों का जीतना सो संयम कहा गया है। वारसाणुवेक्खा ग्रंथ में संयम धर्म के बारे में आचार्य ने कहा है-

वदसमिदि पालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण।
परिणम माणस्स पुणो संजम धम्मो हवे णियमा।। 76।।

व्रत व समितियों का पालन मन वचन काय की प्रवृत्ति का त्याग, इन्द्रिय जय यह सब जिसको होते हैं, उसको नियम से संयम धर्म होता है। आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी ने प्रवचनसार ग्रंथ की गाथा में संयम का लक्षण बतलाते हुए कहा है-

पंच समिदो तिगुत्तो, पंचेंदिय संबुडो जिदकसाओ।
दंसण णाण समग्गो समणो सो संजदो भणिदो ।। 240 ।।

जो पंचेन्द्रियों पर कन्ट्रोल करके इन्द्रिय संयम का पालन करता है। इन्द्रिय संयम अर्थात् पंचेन्द्रिय विषयों में राग-द्वेष नहीं करता है और मन-वचन-काय तीनों गुप्तियों को रखता है। मन को विषयों में नहीं जाने देता, वचनों से कोई भी पाप वचन नहीं कहता और काया से भी कोई अप्रशस्त क्रिया न हो। अथवा क्रिया भी न हो, बोले ही न और चिन्तन बिल्कुल आत्म विषय में होने लग जाए तो समझो तीन गुप्तियों का उत्कृष्ट रूप से पालन है। पंच समिति-ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापन इनका अवलम्बन लेकर अपनी क्रिया करना समिति है कि कहीं कोई हिंसा न हो जाये, किसी प्राणी को कष्ट न हो जाये इस प्रकार के भावों से क्रिया करना। समिति पालन द्वारा एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों की हिंसा रुक जाती है। साथ-साथ में उस समय हमारी इन्द्रियाँ भी बहुत सजग होती हैं। कछुए के समान अपने जीवन और धर्म को सुरक्षित रखने के लिए यह आत्मा हमेशा सजग बनी रहती है। जैसे कछुए को हल्का-सा भी आभास हो जाता है कि उसके पास कोई बाधक वस्तु आ रही है तो वह अपने चारों पैर और मुख को अन्दर ही सिकोड़ लेता है अर्थात् उन्हें अपने वश में रखता है, स्वतंत्र नहीं रहने देता है, उसी प्रकार संयमी/मुनि महाराज अपनी पंचेन्द्रियों को हमेशा बहुत सावधान रखते हैं क्योंकि अगर वे इन्द्रियों के विषयों में जाकर राग-द्वेष करेंगी तो पाप कर्म के बंध से नहीं बचेंगे इसलिए वे समितियों गुप्तियों का प्रयोग करते हुए पंचेन्द्रिय के विषयों में राग-द्वेष नहीं करते हुए साथ-साथ में कषायों को भी जीतते हैं।

आचार्यों ने कहा भी है कि इन्द्रियों को जीते बिना कोई भी कषाय रूपी अग्नि को बुझाने में समर्थ नहीं हो सकता। '**जिद कसाओ**' अर्थात् कषायें क्रोध, मान, माया, लोभ रूप भेदों सहित होकर के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन रूप से जीवन में तरह-तरह से आस्रव कराती हैं, जिसकी जैसी अवस्था है, लेकिन जब तक ये कषायें हैं तब तक साम्परायिक आस्रव होता

है। साम्परायिक आस्रव के कारण कर्म आकर के रुकते हैं और कुछ काल तक रुक करके वे फल देते हैं इसलिए इन कषायों पर विजय प्राप्त करना चाहिए। इन दशलक्षण धर्मों की उत्पत्ति कषायों के शमन हुए बिना नहीं होती है। इसी कारण से कहा है कि चार कषायों का पहले शमन हो तभी पहले क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच ये धर्म आत्मा में प्रकट होते हैं।

संयम धर्म का लक्षण बतलाते हुए कहा है- **दंसण णाण समग्गो समणो** अर्थात् दर्शन-ज्ञान को सम्पूर्ण रूप से धारण करता है, पालन करता है, वह श्रमण ही संयम धर्म से सम्पन्न होता है। इस प्रकार गाथा में कहा है कि जो आत्मा पंचेन्द्रिय के विषयों को छोड़कर, पंच समितियों का आधार लेकर के अपनी क्रिया करता है, कषायों को जीत लेता है, तीन गुप्तियों को धारण करता है और दर्शन-ज्ञान के साथ अपनी आत्मा को जो पापों से धोने में संलग्न है ऐसी आत्मा संयम धर्म को धारण या पालन कर पाती है। **शुद्ध स्वात्मोपलब्धि स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च** निष्क्रिय आत्मा के स्व शुद्धात्मा की उपलब्धि ही संयम कहलाता है।

'**सं**' यानि समीचीन, '**यम**' यानि जीवन पर्यन्त के लिए लिये गये व्रत। जो समीचीन व्रतों को आपने ग्रहण किया जो यथार्थ व्रत हैं, जिनसे आपका जीवन पवित्र हो सकता है, शुद्ध हो सकता है, ऐसे व्रतों को अंगीकार कर लिया तो वह वास्तव में संयम कहलाता है। संयम का अर्थ है जो चार कषायें क्रोध, मान, माया, लोभ हैं वे हमें बाहर ले जाती हैं, उनसे हम बचें। संयम का अर्थ है संतुलन। क्रोध में संतुलन नहीं रहता, हम बह जाते हैं जो नहीं करना चाहिए वह कर लेते हैं। क्षमा में क्रोध का संयम किया जाता है। मान में भी संतुलन खो देते हैं तथा मार्दव में कठोर परिणामों का संयम किया जाता है, मायाचार करते हुए भी संतुलन खो देते हैं इसलिए आर्जव में भी मायाचार का संयम निहित है, लोभ में भी संतुलन छूट जाता है, शुचिता अर्थात् शुद्धता में संयम किया जाता है तो सत्य में मिथ्या वचनों का नियमन आवश्यक है। इस प्रकार संयम का अर्थ है होश, संतुलित हो जाना, अपने में खड़े हो जाना, मन को एकाग्र कर लेना, नियंत्रण करना। संयम में जीने की कला का होना आवश्यक है। हम न इन्द्रिय के आधीन हों और न इन्द्रियों को नष्ट करें बल्कि विषयों से बचें, त्याग में प्रवेश करें यही संयम है।

सामान्यतया संयम के दो भेद आचार्यों ने कहे हैं- इन्द्रिय संयम व प्राणी संयम। इन्द्रिय संयम का अर्थ है पाँचों इन्द्रियों के विषयों में मन को नहीं जाने देना। जो अपनी स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत इन्द्रियों के विषय कोमल, ठण्डे, गरम आदि, स्पर्शों से, खट्टे-मीठे, चरपरे आदि रसों से सुगंधादि से, मनोहर दृश्यों से तथा मधुर संगीत के निमित्त से मन को राग-द्वेष से बचाने रूप पुरुषार्थ है वह इन्द्रिय संयम कहलाता है। अर्थात् पंचेन्द्रिय के विषयों से विरत तथा मन की आकांक्षाओं पर नियंत्रण होना ही इन्द्रिय संयम है। प्राणी संयम का अर्थ है हिंसात्मक प्रवृत्ति से दूर रहना। इस संयम में प्राणियों की रक्षा मुख्य है। पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु और वनस्पति कायिक एकेन्द्रिय तथा द्वीन्द्रिय लट-केचुआ आदि, त्रीन्द्रिय चींटी, खटमल आदि, चतुरेन्द्रिय मक्खी, भ्रमर आदि एवं पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्यादि जीवों के घात से विलग होना प्राणी संयम कहलाता है। इस तरह त्रस और पंचस्थावर ऐसे षट् जीव निकाय की रक्षा करना प्राणी संयम है।

आगम ग्रंथ में संयम के दो भेद सकल संयम और देश संयम भी कहे गये हैं। गृह त्यागी मुनि जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों को धारण करते हैं तथा धन, पैसा, गाड़ी, मोटर, व्यापार आदि कार्यों से बहुत दूर रहते हैं उनके जीवन में सकल संयम होता है। मतलब निरागार परिग्रह से रहित मुनि के सकल संयम होता है। गृह निवासी गृहस्थों के जो अहिंसादि व्रतों का अणु रूप से पालन करते हुए न्याय, नीति से अपनी आजीविका चलाना देशसंयम कहलाता है। मतलब परिग्रह सहित श्रावकों के देश संयम होता है। धर्म भावना शतक में इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम के विषय में लिखा था-

इन्द्रिय वा प्राणी संयम का, पालन जब मुनिजन करते।
मन-वानर को वश में रखकर, सब हिंसा से वे बचते ।।52।।

निश्चय और व्यवहार संयम के विषय में लिखा था कि -

निश्चय संयम पालन में मुनि, क्रिया रहित ध्यानों में रत।
व्यवहारी संयमी जब साधु, पाँच समिति धर, पाप विरत।।
अपहृत संयम में वे मुनिवर, उपकरणों को साथ रखें।
करें उपेक्षा संयम पालन, नहीं उपकरण साथ रखें ।। 51।।

निश्चय संयम तो यथाख्यात संयम है। यथा+अख्यात=यथाख्यात जैसा कहा गया है आत्मा का स्वरूप उसको प्राप्त करना। यथाख्यात संयम तो दसवें गुणस्थान से ऊपर प्राप्त होता है। व्यवहार संयम का अर्थ होता है कि पंचव्रतों का पालन-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन व्रतों का पालन करते हैं। कोई सकल रूप से इनका पालन करते हैं तो सकल संयम होता है और कोई विकल रूप से पालन करते हैं तो देशसंयम होता है। एक और भी उत्कृष्ट संयम की बात कहते हैं जो हमें यथाख्यात संयम की ओर ले जाता है। अपहृत संयम और उपेक्षा संयम ये दो प्रकार के संयम आगम ग्रंथों में बतलाये गये हैं। अपहृत संयम पिच्छी-कमण्डल, शास्त्र से सहित समिति में जो लीन मुनि महाराज हैं उनके जीवन में होता है। जिनके ज्ञान और चारित्र कर्णधार हैं, ऐसे साधु का उत्कृष्ट अपहृत संयम है। मृदु उपकरण से जन्तुओं को बचाने वाले मुनि मध्यम और अन्य उपकरणों की इच्छा रखने वाले मुनि के जघन्य अपहृत संयम होता है। उत्कृष्ट-अपहृत संयम और उपेक्षा संयम शुद्धोपयोगी मुनियों को ही होते हैं।

देश और काल के विधान को समझने वाले, स्वाभाविक रूप से शरीर से विरक्त और तीन गुप्तियों के धारक मुनि के राग-द्वेष रूप चित्तवृत्ति का न होना उपेक्षा संयम है। उत्तम संहनन से युक्त तीन गुप्ति के धारक ज्ञानी जीव का जो राग-द्वेष आदि का अभाव है वह उपेक्षा संयम कहलाता है। जिस संयम में राग-द्वेष सह उपकरणों का त्याग या उनसे दूर हो जाना है और तीन गुप्तियों में लीनता है, यहाँ तक कि वे शरीर से भी निष्पृही, कितना भी उपसर्ग हो कुछ भी हो सब कुछ सहन कर लेते हैं समता के साथ; उस संयम का नाम उपेक्षा संयम है। ऐसा उपेक्षा संयम विरले ही जीव धारण कर पाते हैं। मुनियों की यह ध्यान अवस्था है और इस ध्यान अवस्था में ये उपकरण शरीरादि सभी बातें भुला दी जाती हैं केवल समता अपने जीवन में अपनी आत्मा में रहती है। वह समता इस प्रकार की एक अवस्था उत्पन्न करती है कि जो हमें सब तरह से होने वाले आस्रव को रोक देती है। अपहृत संयम को सराग संयम और उपेक्षा संयम को वीतराग संयम भी कहते हैं। इस पंचम काल में हम देखते हैं कि देश संयम और सकल संयम अपने जीवन में बड़े उपकारी हैं और हमें अपनी आत्मा पर अपना जो अधिकार है उसे दिलाते हैं। कुछ लोग अपनी इन्द्रियों के वश में होकर के इन्द्रियों की पूर्ति के लिए सब कुछ करते रहते हैं। हमें जो अधिकार मिला है उस अधिकार का लाभ हम नहीं उठा पाते हैं।

यद्यपि हमारी आत्मा अनन्त शक्ति से सम्पन्न है लेकिन हमने उस शक्ति को छुपा दिया है। अगर पुरुषार्थ करें तो वह शक्ति प्रकट हो सकती है और उस शक्ति के माध्यम से हम लोग अनन्त काल से अर्जित हुए कर्मों को समाप्त कर सकते हैं। उन कर्मों से विराम पाते हुए मुक्ति का लाभ प्राप्त कर सकते हैं। पंचम काल में साक्षात् मोक्ष जरूर नहीं है, परन्तु परम्परा से मोक्ष आज भी है। मोक्ष का अर्थ होता है- कर्मों से छुटकारा पाना; तो हम आज भी बहुत कर्मों से छुटकारा पाकर के अगले जीवन में बस; बहुत अल्प समय में जैसे तीर्थंकर मल्लिनाथ भगवान ने मात्र छः दिन के ध्यान में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था वैसे हम भी प्राप्त कर सकते हैं। उन्होंने उस समय ही समस्त कर्मों का नाश कर लिया था ऐसा नहीं है उनकी कई जन्मों की साधना थी। भगवान आदिनाथ जी को एक हजार वर्ष लग गए थे। भगवान महावीर स्वामी को बारह वर्ष लगे और वहीं मल्लिनाथ भगवान ने देखो छः दिन में ही कार्य कर लिया। सोचो भइया, पंचमकाल में अपने लिए ज्ञान मिला, शरीर है, निरोगता मिली, बुद्धि मिली, देव-शास्त्र-गुरु हमारे सामने हैं, बस; हमें अपनी अन्तर की शक्ति को प्रकट करना है। आप लोग हर समय संयम धारण करते हैं लेकिन वह संयम केवल संसार में ही उपयोगी रह जाता है। खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते आदि में हर समय संयम का पालन करते हैं। खाने में संयम, जितना आवश्यक है उतना ही खाते हैं नहीं तो अधिक खा लेने से रोग ग्रस्त हो जायेंगे, उठते-बैठते हैं तो संयम से; नहीं तो फिसल कर गिर जायेंगे। सब जगह सजगता है। इन्हीं बातों के विषय में धर्म भावना शतक में लिखा है-

खाते-पीते, उठते बैठें, बोलें चलते इन सब में।
नहीं असंयम रखते ज्ञानी, जागृत रहते इन सब में।।
मन में ना विषयों का चिंतन, न कहते वे पाप वचन।
तन से सीमित करें प्रवृत्ति, जिनवर के हैं यही वचन ।।55।।

सब जगह सजगता है। बस! एक जगह और सजगता हो जाए कि आत्मा में कहीं कर्मों का बंध तो नहीं हो रहा है, किन-किन कारणों से बंध होता है? हमें किन से बचना है? इतना संयम आ गया तो बस; संसार से मुक्त होने में देर नहीं है, ये प्रयास हम लोगों को करना है।

मुख्यतः से देखें तो मन, वचन और काय इन तीनों में कंट्रोल करना है।

मन का संयम, वचन का संयम और काया का संयम आवश्यक है। कोई भी सत्कार्य त्रियोग सँभाले बिना नहीं होता। त्रियोग पर ही कार्य की सुचारूता तथा पूर्णता निर्भर है और त्रियोग का किसी पवित्र लक्ष्य पर एकीभाव ही संयम है। हमारा मन बहुत स्वच्छन्द है, जहाँ कहीं भागता है। हम उसे रोकते भी नहीं। रोकते नहीं हैं तो वह जहाँ कहीं भागता है। एक मिनिट क्या एक सैकेण्ड में कहाँ से कहाँ जाता है। एक सैकेण्ड में अमेरिका, इंग्लैंड क्या वह सारे विश्व की यात्रा कर ले। मन को कंट्रोल करना बहुत मुश्किल है। बहुत जल्दी भागता है इसलिए लोगों को ध्यान करने में बहुत कठिनाई आती है। लोग कहते हैं महाराज जी! मुनियों जैसा ध्यान करने की इच्छा तो बहुत होती है। ध्यान के लिए मुनियों जैसा हम बैठ जाते हैं, आसन लगा करके, हाथ पर हाथ रखके लेकिन मन को एक जगह नहीं बिठा पाते हैं। मन तो बहुत दूर भाग जाता है। हमने उन लोगों से कहा-भइया! ऐसा है, मुनियों जैसा ध्यान करने के लिए बहुत प्रयास करना पड़ेगा। बहुत पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है, मात्र बैठने से कुछ नहीं होगा। जिस स्टेज तक निर्ग्रन्थ मुनि पहुँचे हैं, वहाँ तक आना पड़ेगा। जैसा उन्होंने त्याग किया है, वैसा त्याग करना पड़ेगा। घर-परिवार से मोह, ममता छोड़ना पड़ेगी, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पड़ेगा। क्रम-क्रम से प्रतिमा बढ़ाना पड़ेगी, सब संबंध तोड़कर के साधु बनना पड़ेगा, अन्तरायों को सहना पड़ेगा, परीषहों को सहना पड़ेगा और साधु की जो चर्या है उसे पालना पड़ेगी। जब आपका शरीर इसमें ढ़ल जायेगा, समता जीवन में आने लगेगी तब कहीं यह मन आपका अपनी ओर आयेगा, नहीं तो वह बाहर की ओर भागता है।

मन को अपनी ओर लाने के ये सब प्रयास है। जितना भी परिग्रह छोड़ा जाता है वह ध्यान की प्रसिद्धि के लिये छोड़ा जाता है क्योंकि परिग्रह ध्यान में बाधक है। मात्र बाहरी वस्तुएं ही परिग्रह हैं ऐसा नहीं है, यह शरीर भी परिग्रह है। उपकरण भी परिग्रह हैं इसलिए ध्यान के समय बाहरी वस्तुएं तो पहले ही छूट गयीं, ये उपकरण भी छूट जाते हैं, ये सब बाधक चीजें हैं। शरीर तक हमारा नहीं है, इस प्रकार विचार करना पड़ता है। इतना ही नहीं, ये कर्म भी मेरे नहीं। मेरे कर्म हैं ऐसा माने तो ध्यान नहीं हो सकता बस मैं तो एकमात्र ज्ञान-दर्शन स्वभावी शुद्ध आत्मा हूँ और दूसरा मेरा कुछ भी नहीं है, परमाणु मात्र भी मेरा कुछ नहीं है ऐसा विचार करते हैं तभी ध्यान कर सकते हैं आप लोग मुनियों जैसा ध्यान नहीं कर

पाते, पहले मुनि बनकर तैयार तो हो जाओ, मुनि जैसा बनो और गुरु ने जो व्रत दिये हैं, कण्ठ में प्राण रहने तक उनका पालन करना है, एक बहुमूल्य चीज मिली है। आप लोग मुनियों जैसा ध्यान नहीं कर सकें तो कोई न कोई आलम्बन अवश्य ले लो। बारह भावनाओं का चिन्तन करो, वैराग्य भावना का चिन्तन करो, कोई तीर्थ क्षेत्रों का चिन्तन करो, मूर्ति का ध्यान करो। मुनि महाराज कैसे पृथ्वी धारणा, अग्नि धारणा, वायु धारणा, जल धारणा करते हैं, ऐसा ध्यान करो क्योंकि संस्थान विचय धर्म ध्यान तो मुनि महाराजों को ही होता है, अपने अन्दर गृहस्थ डायरेक्ट नहीं कर सकता तो मुनियों का ध्यान करके तो कर ही सकता है।

पंच परमेष्ठियों के गुणों का चिन्तन कर सकते हैं। द्रव्य संग्रह, इष्टोपदेश, रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि में ध्यान की विधि वर्णित है। उनका चिन्तन कर सकते हैं। वारसाणुवेक्खा ग्रंथ में ध्यान का वर्णन है, जो शुभ भावनाएं हैं, उन शुभ भावनाओं के अंतर्गत दश धर्म हैं तो अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन में बारह भावनाएं आ जाती हैं, धर्म भावना में दशलक्षण धर्मों का चिन्तन भी आ जाता है। दशधर्मों में तप आदि की भावना भाते हैं। सभी धर्म एक दूसरे से संबंध रखते हैं। आप लोग ऐसे चिन्तन को करते हुए बहुत समय तक नये-नये रूप में ध्यान को कर सकते हैं। संयम धर्म की बात है मन पर कंट्रोल करना है चाहें तो ऐसे ध्यान के माध्यम से मन पर कंट्रोल कर सकते हैं परन्तु मुनि महाराज जी जैसा ध्यान करने के लिए उतना त्याग करना पड़ेगा, आप सोचें कि इसी अवस्था में मुनि महाराज जी जैसा ध्यान कर ले तो यह संभव नहीं है, क्योंकि अवस्था का प्रभाव होता है। जितने लोग जिससे जुड़े हुए हैं, वे पदार्थ अपना प्रभाव डालेंगे, वैसा चिन्तन लोगों को आयेगा।

लोगों से कहें कि जाप-माला करो तो माथा ठनक जाता है। लोग कहते हैं, महाराज जी कोई शास्त्र पढ़ना बता दें, भावना भाना बता दें, पर ज्यों ही माला हाथ में आती है अतिशय सा होता है, एक चमत्कार सा होता है। जानते हो क्या होता है? जो बातें कभी याद नहीं आती हैं जहाँ मन खाली देखा तो याद आ जाती है। निषेध में आकर्षण वाली बात है। जिनसे कहो दूर हटो दूर हटो वे ही पास आते हैं, वे ही याद आते हैं, और जब हम याद करते हैं तो याद नहीं आते हैं। जिन-जिनसे संबंध है, वे ही चीजें याद आयेंगी, जिनसे संबंध नहीं है वे याद नहीं आती उनका स्मरण आने वाला नहीं है। जो लोग उससे संबंध जोड़े हुए हैं, उन्हें उसकी बार-बार याद

सताती है। यह अतिशय ही तो है। भइया अपन को संबंध तोड़ना पड़ेगा। संबंध तोड़ने के बाद भी यदि अचानक किसी कर्मोदय से कोई पूर्व की याद आ भी जाए और अपना आत्म ध्यान छूट जाए तो ऐसे समय में वैराग्य से उसे दूर कर लेते हैं। इसलिए जितना-जितना संबंध तोड़ोगे उतना-उतना ही अपनी आत्मा का अनुभव होगा। इष्टोपदेश में कहा है कि-

यथा-यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।
तथा-तथा समायाति संवित्तौ तत्त्व मुत्तमम् ।।38।।

जैसे-जैसे हमें सुलभ रूप से प्राप्त विषय भी अच्छे नहीं लगते हैं, वैसे-वैसे हमारी आत्मा में उत्तम तत्त्व का अनुभव होता है। हम उत्तम तत्त्व में उतर जाते हैं और हमारा ध्यान प्रशस्त होता है। जैसे-जैसे हम ध्यान में लीन होते जाते हैं।

यथा-यथा समायाति संवितौ तत्त्व मुत्तमम्।
तथा-तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।।37।।

जैसे-जैसे अपनी आत्मा का अनुभव अपने जीवन में आता है। हम जितने अन्तस् में उतरते जाते हैं। वैसे-वैसे ये पंचेन्द्रिय के विषय बिल्कुल फीके या निस्सार लगते चले जाते हैं। इनमें कुछ भी सार नहीं है। ये सब निस्सार वस्तुएँ हैं। इसलिए पहले हम विषयों को छोड़े, तभी हम अन्तस् की ओर जा सकते हैं।

संयम की आराधना ही जीवन की श्रेष्ठ साधना है। मनुष्य के जीवन की धुरी मन है। हमारी समस्त वृत्तियों और प्रवृत्तियों का उत्प्रेरक मन ही है। मन ही मनुष्य के जीवन में बन्धन और मुक्ति का कारण है। विषयासक्त मन से कर्म बन्ध होता है तथा विषय रहित मन मुक्ति का साधन है। हमने अभी कहा मन को कंट्रोल करना चाहिए। मन को कंट्रोल नहीं किया तो यह बहुत उछल-कूँद मचाता है। मन से ही सबसे ज्यादा पाप होते हैं। हम वचन से कर पायें या नहीं कर पायें, काया से कर पायें या नहीं कर पायें, किन्तु मन तो हमेशा चाहे कहीं भी हो, वो तो अपना काम करता ही रहता है, चाहे और कुछ कर सकें या न कर सकें, बोल सकें या न बोल सकें, पर मन तो अपना कार्य कर ही लेता है और आस्रव हो ही जाता है। हम कोई काम नहीं कर पाये, वैसा नहीं बोल पाये, पर मन में तो विकल्प आ गया और बन्ध हो गया। पाप का हो या पुण्य का । आस्रव भी मन के अनुसार ही होता है।

हमारे जैसे विचार, जैसे परिणाम हैं, वैसा ही आस्रव होता है। हम वह कार्य करें ऐसा नियम नहीं है।

हाँ कार्यानुसार उसमें तीव्रता आयेगी और विशेषता आयेगी, लेकिन मन में चिन्तन आ गया किसी को बाधा देने का भाव आ गया चाहे हम काया या वचनों के द्वारा कर पायें या न कर पायें किन्तु मन में विकल्प/भाव आ गया तो कर्मबंध हो गया। भोग करने का भाव आया उस संबंधी आस्रव हो गया, भले तुमने किसी से बोला या नहीं बोला अथवा भोगा या नहीं भोगा पर मन में तो आ गया। अत: भइया बचो इन अशुभ विचारों से और मन पर कंट्रोल करो, मन पर संयम करो। इसके लिए हम कुछ ऐसा करें जिससे मन संयमित रहे। अपने मन की धारा को बदल दें, सही दिशा-दर्शन दें। ज्यादा-से-ज्यादा अपना समय धर्म में लगायें। स्वाध्याय में लगायें, भावनाओं के चिंतन में लगायें। इसी तरह से और भी जो धर्म का लेखन है, वाचन है या जो हम पढ़ते हैं, उसे चर्या में लायें। पूजा का पढ़ा तो पूजा करें, दान देने का पढ़ा तो दान भी दें। जो-जो आपने पढ़ा उसे क्रिया में लायें। चिन्तन करते रहेंगे, ठीक है, पर चिन्तन कितनी देर तक चलेगा। लेकिन फिर क्रिया में उतरना चाहिए क्योंकि आत्मा में ऐसे तो लोग जा नहीं सकते, आपके पास अभी सभी प्रकार का परिग्रह है। मुनियों जैसा ध्यान अभी कर नहीं सकते, इतना समय दे नहीं सकते। इसलिए जो अप्रशस्त क्रियाएं हैं, उन्हें छोड़कर प्रशस्त क्रिया में लग जाना, ये भी एक प्रकार का संयम है।

अपने मन को विषयों से हटा करके पुण्य (धर्म) के कार्यों में लगाना सो वह भी एक संयम है। जितने-जितने हम आगे बढ़ते जायेंगे, जितना त्याग करते जायेंगे, उतना-उतना मन का संयम प्राप्त होगा। जिसका मन अपने वश में है, वह सारे जगत को वश में कर सकता है। मन का यदि संयम नहीं रहा तो कितना अनर्थ घट जाता है, यह हम इस दृष्टांत से जानेंगे।

स्वयंभूरमण समुद्र में तिमितिमिंगिलादिक महामत्स्य रहते हैं। ये संज्ञी पंचेन्द्रिय है लेकिन संमूर्छन। उनका शरीर बहुत बड़ा होता है। उनके शरीर की लम्बाई एक हजार योजन की कही है। जिस समय इस मच्छ का पेट भर जाता है, वह मुँह फाड़ लेता है और वहीं समुद्र में मस्ती से पड़ा रहता है। मुँह खोले छहमास तक सोता रहता है। उसके खुले हुए मुख में बड़ी-बड़ी मछलियाँ,जल जीव क्रीड़ा

करते रहते हैं। जीव अन्दर बाहर जाते-आते रहते हैं। नींद खुलने के बाद क्षुधा पूर्ति हेतु ये अपना मुँह बंद करता है, तब उसके मुँह में जो मत्स्य आदि प्राणी आते हैं उनको वह निगल जाता है। इसी स्वयंभूरमण समुद्र में एक और मत्स्य रहता है तंदुल मत्स्य। तंदुल का अर्थ तो होता है चावल। चावल जितना छोटा होता है इनका शरीर इसलिए इन्हें सालिसिक्थ तंदुल मत्स्य कहते हैं। चूंकि वहाँ चावल तो नहीं होता है लेकिन मत्स्य के कान में एक चावल के बराबर मत्स्य होता है और वहाँ एक हजार योजन का जो बड़ा मत्स्य है तो उसके कान में अर्थात् तिमितिमिंगिलादिक मत्स्य के कान में यह तंदुल मत्स्य रहता है और उसके कान का मैल खाता है।

तंदुल मत्स्य महामत्स्य के कान में बैठा हुआ विचार करता है कि इसके नाक, कान, मुँह में से इतने सारे जीव जा रहे हैं, आ रहे हैं, आ रहे हैं ,जा रहे हैं। देखो भाई कान, नाक, मुँह इन सबका संबंध है। अन्दर सब जुड़ जाते हैं, कोई भी पदार्थ एक दूसरी जगह से आ-जा सकता है। तो बहुत सारे जीव-जन्तु मुँह में आ-जा रहे हैं। आचार्य श्री कहते हैं कि जैसे कोई इण्डिया गेट हो। कितने वाहन आते जाते हैं सभी भागते हुए बहुत बड़े गेट से आ-जा रहे हैं। ऐसे महामत्स्य के मुख से जीव जन्तु आ-जा रहे हैं । तंदुल मत्स्य सोचता है कि यह इतने जीव-जन्तु आने-जाने पर कुछ भी नहीं कर रहा है। इसके स्थान पर यदि मेरा शरीर ऐसा होता और मेरे मुख में से ऐसे प्राणी आते-जाते तो एक भी प्राणी जिन्दा बचकर नहीं जा सकता था। मैं एक को भी नहीं छोड़ता, सबको खा जाता। देखा भइया केवल भाव किया है, न हिंसा की, न कुछ किया, लेकिन भावों में ही लाया कि इसकी जगह अगर मैं होता तो एक को भी नहीं छोड़ता, इतने भाव मात्र से वह नीचे चला जाता है वह तंदुल मत्स्य आहार के संकल्प से लाखों-करोड़ों जीवों की मानसिक हिंसा करके सप्तम पृथ्वी (नरक) में जाता है। वह मात्र मन में हिंसा की भावना करके सप्तम नरक में जाता है और महामत्स्य आहार के कारण हुई हिंसा से सप्तम नरक में जाता है। देखो भइया मन को कंट्रोल में लाओ। मन का संयम रखो। धर्मभावना शतक में लिखा था कि -

धर्मी मानव मन का संयम, प्रथम पूर्ण अपनाता है।
सब पापों की जड़ वह मन है, भव में भ्रमण कराता है।। 53।।

तन्दुल जैसे जहाँ मच्छ ने, हिंसा का था भाव किया।
भाव मात्र के महापाप से,नरकों का दुःख प्राप्त किया ।।५३।।

आप लोग जानते हैं जब फालतू बैठते हैं तभी सब कुछ गड़बड़ होता है। महाराज! क्या करें कोई काम-धाम नहीं सो बैठे रहते हैं। हम कहें कि मत बैठो फालतू कोई। तो लोग कहते हैं अब करें क्या? दुकान में ऐसे बैठना ही पड़ेगा। वहाँ क्या करेंगे? पूजादि करेंगे नहीं। पूजा तो मंदिर में करेंगे। पूजा हो गयी, स्वाध्याय हो गया, जाप हो गयी सब कुछ हो गया, इसके बाद अब दुकान पर बैठेंगे। ग्राहक तो हमेशा आते नहीं। बहुत देर की प्रतीक्षा के बाद यदि कोई ग्राहक आ गया, माल देना हो जाता है, पैसा लेना हो जाता है। फिर क्या करते, बैठे रहते हैं, दूसरा और कोई काम भी नहीं। कई लोग पुस्तक, पेपर बगैरह रख लेते हैं थोड़ा बहुत पढ़ते रहते हैं। धर्म की पुस्तक पढ़ें तो धर्म ध्यान हो। किन्तु वहाँ का वातावरण इतना शुद्ध नहीं रहता, अशुद्धता रहती है। वहाँ सभी प्रकार के लोग आते हैं, वस्तुओं को छूते हैं। चमड़े आदि भी पहने होते हैं। व्यसन भी किये हुए रहते हैं, इसीलिए वहाँ बड़े-बड़े शास्त्र, सिद्धांत ग्रंथ अथवा परमागम तो नहीं रख सकते। छोटी-मोटी पुस्तक रख लेते हैं, मेगजीन टाइप या पत्रिका आदि धार्मिक चिन्तन के लिए ठीक है। फिर भी हम यही कहेंगे कि शुद्धता हो, विनय हो सके तभी ये रखें नहीं तो कोई मतलब नहीं होगा।

शास्त्र स्वाध्याय करने का भी एक क्रम है, विधि है। तभी फल मिलता है नहीं तो उसका फल नहीं मिलता। जहाँ कहीं भी, कुछ भी खोल कर बैठ गये। मंगलाचरण करना, आसन में बैठना, शुद्ध स्थान होना, बीच में बोलना नहीं, मौन धारण करना, आद्य मंगल है, अन्त मंगल है, ये सब पालन करना, कायोत्सर्ग करना तभी स्वाध्याय होता है। स्वाध्याय ऐसा नहीं कि जब कभी भी कुछ भी पढ़ने लगें। हमने कई लोगों को देखा है, सुना भी है, इसलिए बतला रहे हैं, वे दुकान में भी समयसार लेकर बैठ जाते हैं। बिस्तर पर भी समयसार लेकर बैठे हैं। लेटे-लेटे भी पढ़ रहे हैं। एक व्यक्ति अग्नि ताप रहा था और अग्नि तापते समय समयसार खुला था। ग्रंथों को तो ऐसा समझ लेते हैं जैसे कोई पत्र-पत्रिकाएँ, न्यूज पेपर आदि हों। फिर बताओ शास्त्रों का ज्ञान बढ़े तो कैसे? ऐसे हम पढ़ तो लेंगे किन्तु उससे आत्मा में कोई परिणाम होने वाला नहीं है, क्योंकि विनय पूर्वक जो पढ़ा हुआ शास्त्र है, वही अपने जीवन में कार्यकारी होता है,नहीं तो ये ज्ञान ऐसे ही (भोग छूटे बिना ही) समाप्त हो जाता है।

आज हम संयम धर्म के बारे में चर्चा कर रहे हैं। मन का संयम धारण करो, नहीं तो उस तंदुल मत्स्य के समान हमारे जीवन का क्या होगा नहीं मालूम। हम कोई काम कर नहीं पाते हैं, पर मन में न जाने क्या-क्या सोच लेते हैं? कितनी बातें सोच लेते हैं? अपनी कम, परायीं ज्यादा सोचते हैं। मतलब दूसरे का क्या हो रहा है? ये हमको ज्यादा चिंता है। वह हमसे आगे बढ़ रहा है तो कैसे? भले हमारा कुछ बुरा नहीं कर रहा होगा, लेकिन उसको मेरे से आगे नहीं बढ़ना चाहिए ये चिंता ज्यादा रहती है। जानते हो ऐसी चिंताएं क्यों होती हैं? लोगों को प्रायः ऐसी चिंताएँ अज्ञानता से आती हैं। ऐसा ज्ञान जीवन में कब आयेगा जो ऐसी अज्ञानताऐं दूर करके हमें स्वस्थ बनायेगा। दूसरे पर कुदृष्टि मत डालो, अगर डालते हो तो यह सोचो भैया कि ये बहुत आगे बढ़ जाये। हमसे भी ज्यादा सुखी समृद्ध बन जाए, इसकी हमें कोई चिंता नहीं है। हमारा जब योग आयेगा, तब आयेगा। लेकिन दूसरे व्यक्ति को कष्ट देने की, नीचा दिखाने की, नीचा करने की या ऊपर नहीं उठने देने की जो भावना आती है, यह सबसे बुरी भावना है, इससे बुरी भावना और कोई दूसरी नहीं हो सकती।

एक बार एक राजा ने अपने एक सेवक से कहा कि तुम्हें एक काम करना है और वह काम बहुत जरूरी है। यदि उसे तुमने नहीं किया तो प्राण दण्ड हो सकता है। ऐसा पहले समय के राजा लोग विशेष कार्य करवाने के लिए बोल देते थे। राजा ने सेवक से कहा - वह जरूरी कार्य यह है कि एक प्राणी जो कि बकरी है, तोलकर के दे रहा हूँ। ध्यान रखना उसका वजन नहीं बढ़ना चाहिए और खाने में उसके कोई कमी नहीं रहना चाहिए। खूब खिलाना, पिलाना लेकिन उसका वजन नहीं बढ़ना चाहिए। राजा का सेवक अच्छा बुद्धिमान था, उसने सोचा कोई उपाय कर लेंगे- उसने राजा से कहा ठीक है महाराज। ले गया वह घर बकरी को और ले जा करके सुबह से शाम तक खूब खिलाया, वह मोटी हो जाती खा-खा करके । सेवक ने देखा अच्छा-अच्छा घास फूँस, सब्जी फल सब खिलाये यह मोटी हो गयी पर इसका वजन नहीं बढ़ना भैया तो फिर क्या करें? ऐसा करते हैं कि इसको चिंता करवाते हैं। चिंता से जानते हो भैया; प्राणी को भय हो जाता है वह परेशान हो जाता उसका खून जल जाता है। वह सेवक क्या करता है पास में एक पिंजरे में शेर था। बस शाम के समय उस बकरी के दोनों कान पकड़ करके ले जाता और शेर का मुख

दिखा देता और एक थप्पड़ जोर से बकरी को मार देता बस इतना ही करता तो काफी था। बकरी को चिंता होती मरने की कि अब जाते हैं मेरे प्राण, सो उसका खून सूख जाता। कई दिनों तक ऐसा चलता रहा। एक दिन राजा ने सेवक को राजमहल में बुलवाया और उससे पूछा कि क्या हुआ? मेरा वह जरूरी काम किया कि नहीं? सेवक ने कहा – हाँ महाराज ! जैसा आपने कहा था, वैसा ही करता जा रहा हूँ। देख लीजिएगा,मैं अभी लेकर आया हूँ और वह राजा के समक्ष बकरी को लेकर पहुँचा। महाराज लीजिए यह लाया हूँ, इसको देख लीजिए। राजा ने उस बकरी को तुलवाया, तो बिल्कुल जितना वजन दिया था बस उतना ही था यह देखकर राजा आश्चर्य में पड़ गया और विचारने लगा ऐसा कैसे हो गया?

राजा ने सेवक से जिज्ञासा वश पूछ ही लिया – यह कैसे किया तुमने? सेवक बोला– हमने क्या किया महाराज, ऐसे ही हो गया। राजा ने कहा – वाह तुम बड़े विवेकी हो कुछ तो उपाय किया ही होगा। सेवक बोला कुछ नहीं महाराज थोड़ी–सी चिंता उत्पन्न करवा दी उसी का यह परिणाम है। तो भैया! इससे क्या शिक्षा मिलती है कि व्यक्ति सब कुछ करता है, अच्छे सुख भोगता है लेकिन पर की चिंता में हमेशा अपने जीवन को बर्बाद करता है। अपनी चिंता कम रहती है दूसरों की ज्यादा रहती है। ये मात्सर्य भाव है कि दूसरा आगे न बढ़ जाए, जिन लोगों को ये चिंता ज्यादा सताती रहती है, वे दूसरे की चिंता में सूख जाते हैं । सामने वाला व्यक्ति अगर आगे बढ़ रहा है तो हम क्यों पीछे रहें उसको नीचा गिराने में; नीचा करने या नीचा दिखाने की यह जो भावना होती है वह बाधक बनती रहती है, और व्यक्ति; चिंताओं में, पंचेन्द्रिय विषयों की चिंताओं में, पर की चिंताओं में उलझा ही रहता है। इसलिए परमानन्द स्तोत्र में आचार्य ने कितनी सुन्दर बात कही है–

उत्तमा स्वात्म चिंता स्यात् देह चिंता च मध्यमा।
अधमा काम चिंता स्यात् पर चिंताधमाऽधमा।। 4।।

उत्तमा स्वात्म चिंता स्यात् अपने आत्मा की चिंता करना उत्तम चिंता है। **देह चिंता च मध्यमा** अपने शरीर की चिंता करना मध्यम चिंता है। क्योंकि शरीर धर्म के लिए साधन है। **अधमा काम चिंता स्यात्** काम वासना की चिंता करना अधम चिंता है और सबसे बुरी चिंता क्या है? अधम यानि पाप होता है **पर चिंता धमाधमा** यहाँ धमाधमा कहा है अर्थात् महापाप की चिंता है दूसरे की चिंता

करना। सब लोगों के मन में प्रश्न उठ सकता है कि क्या हम दूसरे की चिंता नहीं करें, दूसरे की चिंता करना छोड़ दें? नहीं, ऐसा है भइया; हमें अपेक्षा समझना चाहिए। यदि दूसरे को धर्म पर लाने की चिंता करते हैं तो वह बुरी नहीं है, इसको हम चिंता नहीं; भावना बोलते हैं। अगर कोई धर्म से विचलित हो गया, अस्वस्थ हो गया तो उसकी थोड़ी चिंता हो जाती है। यह तो उसको धर्म के मार्ग पर लाने की चिंता है, उसके धर्म ध्यान में सहयोगी बनने की चिंता है। यह भावना का रूप लेती है, जो अपने जीवन में पाप का कारण नहीं होती। लेकिन जो सांसारिक चिंतायें अपने जीवन में पाप आस्रव का कारण हैं, ऐसी चिंतायें पाप की अथवा महापाप की चिंतायें हैं, इन्हें छोड़ देना चाहिए। पर चिंताओं में नहीं उलझना है, किसी को भी आगे बढ़ते हुए, उन्नत होते हुए देख करके अपने मन में जो द्वेषपूर्वक विकल्प आते हैं वे सबसे बुरे हैं उनसे बुरे विकल्प इस जगत में दूसरे नहीं हैं। आप तो सदैव एक ही भावना भाएं–

सुखी रहें सब जीव जगत के, कोई कभी न घबरावे।
बैर, पाप, अभिमान छोड़ जग, नित्य नए मंगल गावे।।

अथवा

सर्वे भवन्तु सुखिना सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणु पश्यन्तु माँ कश्चिद् दुःख भाक् भवेत् ।।

ये भावना हमेशा भाओ, इसी में सार है। कहीं और सार नहीं है। अपना काम करो, अपना काम करने के बाद दूसरे के लिए समय मिलता है तो उसके जीवन की उन्नति के बारे में, धार्मिक जीवन की उन्नति के बारे में चिन्तन करें और अगर किसी का पुण्य से वैभव बढ़ रहा है तो कभी मात्सर्य विचार न करें कि ये वैभव क्यों बढ़ रहा है? तुम्हारा पुण्य होगा सो बढ़ेगा, तुम दूसरे का घटाने का सोचोगे सो उसका घटने–बढ़ने वाला नहीं है। पुण्य–पाप से सब कुछ होता है। पुण्य–पाप के बिना कुछ नहीं होता। तुम सोचो कि हम धर्म न करें और पुण्य मिल जाए हमारा जीवन सुखमय हो जाए तो होता नहीं है। कमाई हमको ही करना पड़ेगी। जैसे धन की कमाई आप करते हैं, वैसे ही धर्म की कमाई भी आपको ही करनी है। आप सोचें कि मुझे कोई विघ्न–बाधाएँ आ रहीं हैं तो किसी ग्रह का चक्कर लग गया, कोई ग्रह सता रहा है। विचार करो ग्रह क्यों सतायेगा भइया, वो अपने सुख में लीन है, तुम्हें सताने क्यों आयेगा? तुम्हारे से उसका क्या संबंध है?

पुण्य-पाप के बिना कुछ नहीं होता। कोई ग्रह आदि किसी को लगता नहीं, जो आप उनके पीछे भागते हैं। ग्रह तो सुमेरू पर्वत के चक्कर लगाते हैं, भगवान के चक्कर लगाते हैं। कुछ लोग बोलते हैं कि ग्रह के चक्कर में आ गये हैं तो फिर ग्रह तुम्हारे चक्कर लगाने लगते और तुम डर करके उनके चक्कर लगाने लग जाते हो।

नव ग्रह बोलते हैं और नौ ग्रह लग जाते हैं। कैसे लग जाते हैं? हमारे पुण्य-पाप से ही सब कुछ होता है। वे तो देव हैं, सुख में लीन हैं, वे अब क्या आपके पास में आयेंगे? लोग कहते हैं, नवग्रह विधान कर लो, सो सब ठीक हो जायेगा। एक दिन चिंतन आया कि यह नवग्रह विधान आया कैसे? ऐसा लगता है कि हिन्दुओं में नौ ग्रह वगैरह पूजते हैं, हो सकता है जैन लोग भी आकृष्ट होने लगे हों, तो किसी ने नवग्रह विधान नाम रख दिया हो और नव ग्रह विधान में तीर्थंकरों की पूजा लिख दी। तीर्थंकरों की पूजन की जाती है लेकिन नवग्रह विधान बोलने मात्र से ऐसा लगता है कि नव ग्रह के लिए आदर-सम्मान दिया जा रहा है या उनसे भयभीत हैं कोई व्यक्ति; ये नजर आता है। नवग्रह पूजन में नौ तीर्थंकरों को लिया गया है। कौन-कौन से तीर्थंकर है, आप जानते हैं? विचार करो नौ तीर्थंकर ही क्यों लिये गये, उन चौबीस तीर्थंकरों में से, नौ को लिया, बाकी को छोड़ दिया। ऐसा क्यों? क्या नौ तीर्थंकरों में ज्यादा शक्ति है, और तीर्थंकरों में शक्ति नहीं है?

कई जगह एक-एक ग्रह के लिए एक-एक मूर्ति विराजमान की है। अपने यहाँ जब चौबीस तीर्थंकर विधान है तो उसे करो, उसमें चौबीस तीर्थंकरों के विषय में सब आता है, हाँ उसमें ग्रह का नाम नहीं है। शांति विधान आप करते हैं, उसमें तो नौ ग्रह मात्र क्या भवनत्रिक में पूरा ज्योतिष लोक, भवनवासी, व्यंतर और कल्पवासी देव ये सारे के सारे इस तीनलोक में जितने देव हैं सबको बुलाया जाता है कि सब आयें और हमारे साथ भगवान की पूजा रचायें। अब कौन से देव रह गये? ऐसा विधान क्यों नहीं करते? करते हैं, ये भी सब करते हैं, उसकी अपेक्षा ये ही करना चाहिए। मात्र भवनत्रिक क्रिया क्यों करनी? वहाँ तो मिथ्यात्व के साथ पैदा होते हैं। हमारे यहाँ सम्यग्दृष्टि उनमें कभी नहीं जाता, मतलब भवनत्रिक में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते, वो तो वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं। जितने भी देवों के निवास हैं, उनके भवन हैं, या ज्योतिष मण्डल हैं, सब जगह हमारे भगवान के मनोहर मंदिर हैं। जिनालय हैं। ऊपर स्वर्गों में सब जगह जिनालय हैं, तो हम

जिनालय और उनमें प्रतिष्ठित भगवान की पूजा कर रहे हैं या इनकी पूजा कर रहे हैं पंचमंत्र बोलते हैं उनमें सब आ गये हैं णमोकार मंत्र में सबको नमस्कार हो गया। जब लोग पूजन करते हैं तो उसमें कृत्रिमाकृत्रिम जिनालयों का अर्घ आता है, सभी जिनालय उसमें आ ही गये। लोग अलग से ग्रहों का नाम क्यों लेते हैं ? हाँ उनमें जो जिनालय हैं, उन्हें पूजे जाने से सारे देव प्रसन्न हो ही जाते होंगे हमें यह बात समझना चाहिए।

जिन लोगों ने किन्हीं एक-एक तीर्थंकर में एक-एक ग्रह को फिट किया है या एक-एक ग्रह के लिए एक तीर्थंकर फिट किये हैं, उनको मैं पूछ रहा हूँ कि आपने जो तीर्थंकर फिट किये हैं क्या वे ही तीर्थंकर इन ग्रह के लिए हैं? विचार कर देखो अच्छा; ग्रह तो जो सूर्य-चाँद आदि हैं ये तो अकृत्रिम व्यवस्था है, यह बदलते नहीं हैं,लेकिन तीर्थंकर के नाम तो बदलते हैं फिर इन ग्रहों के लिए तीर्थंकर। जब ये तीर्थंकर ही नहीं हुए थे,तब कौन से तीर्थंकर थे, ये कौन बतायेगा? भइया देखो ऐसा है ये तो आज की कल्पना है यह शाश्वत कल्पना नहीं है, इसलिए यह भी एक प्रकार से मिथ्या है। इस प्रकार ऐसे ग्रहों की मूर्ति वगैरह लोगों ने निर्मित कर दी हैं, कहीं उसी प्रकार आप लोगों के दिमाग में न आये और आप लोग ऐसा करने का सोचो तो बतला रहा हूँ यह सब ठीक नहीं है। आप तो चौबीस तीर्थंकरों का विधान करें, शांति विधान करें और भी अनेक विधान हैं उन्हें करें। नवग्रह नाम लेते ही ऐसा लगता है कि आपको कुछ भय है। आप उनके चक्कर में आ गये हैं और उनके चक्कर लगाने की सोच रहे हैं ऐसा समझ में आता है। आप कर्म सिद्धांत से दूर हो गये हैं सीधी बात ये है और कुछ नहीं।

कर्म सिद्धांत पर जो श्रद्धा नहीं करता वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। आप लोग सम्यग्दृष्टि हैं तो ऐसे पूजन विधान करें जो वीतराग प्रभु से संबंद्ध रखते हैं। हमें नाम लेने की आवश्यकता नहीं है। शांति विधान में तो कहा है वे सब आयें और पूजा रचायें, इसमें कोई बाधा नहीं है। पंचकल्याणक में बुलाते हैं; लेकिन नौ ग्रह विधान यह शब्द ही बता रहा है कि नौ ग्रह पूजा। उस पर तीर्थंकर पूजा क्यों नहीं लिख दिया? ये नाम ही गड़बड़ है इसलिए गलत चीज का समर्थन होता है। लोगों की इस प्रकार की शंकायें आती हैं इसलिए थोड़ा-सा यह विषय ले लिया। बस ऐसी बात है भइया मन की पवित्रता जानों, ग्रह कोई कुछ नहीं करता, अपने कर्म से सब कुछ होता है। अपन अपनी चिंता करें, पराई चिंता ज्यादा हम लोग करते हैं। पर

में उलझे रहते हैं। पर चिंता महापाप की चिंता है, मन से ही बहुत से पाप हो रहे हैं इसलिए मन को पवित्र बनाने का प्रयास करें। नहीं तो तिमितिमिंगिलादिक मच्छ, तंदुल मच्छ जैसी बात है, हम बुरा सोचते रहेंगे, अपनी हानि होगी, इन चिंताओं से हम लोग सूख करके लकड़ी हो जायेंगे क्योंकि –

चिंता चिता समान है, बिन्दु मात्र का भेद।
एक दहे निर्जीव को, एक जीव समेत ।।

चिंता तो चिता के समान है। एक निर्जीव को जलाती है और एक जीव सहित जलाती है। बतलाओं कौन सी बड़ी है? चिता तो निर्जीव को जलाती है, तो बड़ी; या जो सजीव को जलाये ऐसी चिंता बड़ी? भइया चिंता बड़ी है, बस चिंता को छोड़ो क्योंकि हम लोग हमेशा इन चिंताओं में उलझे रह करके अपने धर्म की हानि कर रहे हैं और लोगों का हमेशा टेंशन चल रहा है, पर का टेंशन ज्यादा है, अपना हित कम है।

वचन का संयम मतलब वचनों पर संयम रखो। वचन का संयम कैसे रखना? वचनों का प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है, हम क्या बोलते हैं? किस प्रकार बोलते हैं? वचनों का प्रभाव कैसे पड़ता है? किसके ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है और उसके माध्यम से क्या घटित होता है? अपनी कितनी हानि है, पर की कितनी हानि है? अपना कितना लाभ है, पर का कितना लाभ है? सब पर विचार किया करो। कभी कुछ भी बोल देते हैं लोग और उसके बाद पछताते रहते हैं। कई लोग तो पछताते भी नहीं, उनको कोई फील नहीं होता, वे सोचते हैं कि सब ठीक है। जगत आज का ऐसा ही है। हमें ऐसा ही जीना पड़ेगा और वे इस प्रकार से जीवन जीते हैं मतलब उन्हें धर्म पर कोई विश्वास नहीं है।

अगर हम वचनों पर संयम नहीं रखेंगे तो एक दिन हमारी हानि हो जाती है, हम लोग बहुत कष्ट के गड्ढे में गिर करके अपने जीवन को बर्बाद कर लेते हैं। किस समय हमें नहीं बोलना चाहिए? किस वक्त हमें मौन रखना चाहिए? मौन के बहुत स्थान बतलाये हैं यथा आहार के समय मौन रखना चाहिए, भगवान की भक्ति के समय दूसरों से नहीं बोलना चाहिए, शयन जब कर रहे हैं उस समय भी नहीं बोलना चाहिए और भी जब निवृत्ति आदि के लिए जाते हैं, उस समय मौन रहना चाहिए। कुछ स्थान ऐसे हैं जिनके इस समय नाम नहीं ले रहे हैं पर उन स्थानों पर

भी मौन रखना चाहिए। इसके साथ–साथ यदि कोई किसी की निंदा कर रहा है तो उस समय आपका समर्थन चाहता है ऐसे निंदा के समय मौन रह जायें तो अच्छा है। लौकिक में तो यह बहुत चलता रहता है। हम किस–किस को क्या कहेगें लेकिन यहाँ तो संयम धर्म का वर्णन चल रहा है। कहीं असंयम का समर्थन न हो जाय इसकी बात यहाँ चल रही है।

आज जीवन में संयम पाल पायें या न पाल पायें कम से कम इस सभा में बैठे हैं उस समय सुन तो रहे हैं, आपके अन्दर इतनी श्रद्धा तो है कि ये धर्म है। इतना ही धर्म हो गया और क्या। फिर सब पालेंगे तो सबका जीवन महान बनेगा। इतने में से यदि कुछ लोग ही पालेंगे तो उनका जीवन उन्नत हो जायेगा, उनको देखकर के और भी कुछ लोग इस मार्ग पर आयेंगे हम सब की चिंता नहीं करते हैं पहले नम्बर अपनी चिंता करते हैं, इसके बाद में जो धर्म को अंगीकार करना चाहते हैं उन्हें बताते हैं और जो अंगीकार नहीं भी करना चाहते हैं तो भी सबको बता ही देते हैं, फिर अपने–अपने भाग्य की बात है। दुकान पर कोई आया है तो माल दिखाना पड़ता है खरीदें या नहीं खरीदें यह गारन्टी नहीं है। अगर खरीद लेता है तो अच्छा है, नहीं तो हमारा माल हमारे पास और उसका उसके पास। एक दृष्टांत है शायद कुछ लोगों ने सुना भी होगा प्रसंग वश बतला रहा हूँ कि –

एक स्थान पर एक तालाब में बहुत अच्छा पानी था। वहाँ पर अन्य स्थान से हंस पक्षी आते थे, अच्छा मीठा पानी पीते थे और चले जाते थे। उसी तालाब में एक और प्राणी था; कछुआ। उससे उनकी अच्छी मित्रता हो गयी। कई दिनों तक उनकी मित्रता रही। देखो भइया जब तक आते रहते हैं तब तक मित्रता बनी रहती है लोकाचार में, फिर बाद में तो सब भूल जाते हैं। एक बार की बात है, तालाब का पानी गर्मी के कारण धीरे–धीरे सूखने लगा तो वे हँस उड़के कहीं दूसरी जगह चले जाते लेकिन वह कछुआ कहाँ जायेगा, वह तो उसमें ही वहीं रहेगा और पानी भी बहुत थोड़ा ही अब रह गया तो वे हँस परेशान हो गये कि इसका क्या होगा? उन को उस पर दया आ गयी, वे विचार करने लगे कि देखो हम तो दूर–दूर जाते हैं उड़–उड़ करके और वहाँ जाकर के खाते–पीते हैं क्यों न हो इस प्राणी को भी हम वहीं ले चलें। इसका जीवन सुरक्षित रहेगा और अपनी मित्रता की मित्रता बनी रहेगी।

देखो भइया बहुत संयम की बात है। संयम से ही हम सुख पाते हैं, नहीं तो

असंयम आ जाय जिससे बीच में ही हम दु:खी हो जाते हैं। तो विचार कर हँसों ने कछुए से कहा - भइया हमारे साथ चलोगे, वहाँ अच्छा पानी है, तुम आराम से रहोगे, यहाँ तो पानी सूख कर समाप्त हो रहा है। कछुए ने कहा -जरूर चलेंगें भइया, मित्रता भी हमारी बनी रहेगी, नहीं तो तुम अब कब आओगे। अब तो शायद नहीं आओगे और मेरा जीवन भी नहीं रहेगा क्योंकि ये पानी ही मेरा जीवन है अब वह भी समाप्त हो रहा है। अच्छा तो चलो भइया हमारे साथ। ऐसा करते हैं हम कहीं से एक लकड़ी ढूंढ लाते हैं दोनों तरफ हम लोग पकड़ लेंगे और बीच में तुम पकड़ लेना फिर ठीक से चलते चलेंगे। कछुए ने कहा ठीक है।

हँसों ने एक लकड़ी लायी उसको उन्होंने एक-एक तरफ पकड़ ली और बीच में उस कछुये ने पकड़ ली और दोनों उसे लेकर उड़ चले। आकाश मार्ग से जा रहे थे बहुत अच्छा लग रहा है। गाँव-गाँव में लोग देख रहे हैं। एक जगह एक गाँव में उसी समय स्कूल के बच्चों की छुट्टी हुई। बहुत से बच्चों ने ऊपर देखा। ऐसा दृश्य बच्चों ने कभी नहीं देखा था, वे आपस में एक-दूसरे से कहने लगे, अरे-अरे! देखो ये क्या है? ये क्या है? ये तो बिल्कुल अद्भुत दृश्य दिख रहा है, ऐसा तो कभी भी देखने में नहीं आता। सब शोर मचाकर जोर-जोर से हो-हो करने लगे। गाँव के और भी लोग एकत्रित हो गये सभी हो-हो खूब जोर-जोर से करने लगे। सबकी हो-हो की आवाजें कछुए को सुनाई पड़ रही थीं, उससे सहन नहीं हो रहा था। वह मन में सोचने लगा, ये कैसे लोग हैं जो इतना हो-हो कर रहे हैं और बिल्कुल भी रुक नहीं रहे हैं, उसे सहन न होने के कारण उसने उस समय संयम नहीं रख पाया और कहा - क्यों चूँ-चूँ करते हो अर्थात् क्यों हल्ला करते हो, अपने मुख से ऐसा बोल ही दिया। मतलब अपना मुँह बोलने के लिए खोल दिया और ज्यों ही उसने मुँह खोला, त्यों ही नीचे आकर के गिर पड़ा, जहाँ पर हल्ला हो रहा था, वहीं गिर पड़ा और सबके पैरों के नीचे कुचला गया। जरा विचार करो कि वचनों का संयम जहाँ रखना चाहिए था, वहाँ नहीं रखा तो क्या हालत हुई।

देखो भइया! कभी भी कुछ भी बोलते चले जाते हैं, कहीं भी बोल देते हैं। पर कौन सी बात कितनी किसके सामने बोलना है,किसके सामने नहीं बोलना है, कितनी बोलना, इसके आगे नहीं बोलना, कौन सज्जन, कौन दुर्जन, इस बात पर हम विचार ही नहीं कर पाते। पंच पाप तो सबके साथ दिख रहे हैं, लेकिन दुर्जन का

अर्थ क्या होता है? जो व्यसनों में लीन है, आसक्त है, धर्म के विपरीत चलता है, अनर्थ के कार्य करता है, ऐसा व्यक्ति दुर्जन माना जाता है। दुर्जन व्यक्ति के सामने क्या बोलना, या नहीं बोलना, कितना बोलना, वह पात्र है कि अपात्र है, किस व्यक्ति से किस प्रकार की बात करना है या बात नहीं करना है, ज्यादा से ज्यादा झंझट झगड़े इसी के कारण हो रहे हैं और वचनों पर कंट्रोल नहीं कर पाते हैं, कुछ भी बोल देते हैं। इस संयम के अभाव में हम दु:ख पाते हैं फिर वर्षों तक हमारा वह बैर भाव बना रहता है।

काया का संयम मतलब काया पर संयम रखना चाहिए। वैसे तो सभी लोग काया पर बहुत संयम रखते हैं। खिलाड़ी लोग विभिन्न गेम्स खेलते हैं वे भी संयम रखते हैं। क्रिकेट के खिलाड़ी कितना संयम रखते हैं। बिल्कुल ध्यान व सतर्क होकर खेलते हैं जरा बाल यहाँ से वहाँ हुई नहीं कि बस; आउट हो गये। ऐसे ही गाड़ी चलाते समय संयम रखते हैं। जरा-सा ध्यान चूका नहीं कि एक्सीडेंट हो सकता है, चोट भी लग सकती है, यहाँ तक कि जान भी जा सकती है। इसी प्रकार घरों में महिलायें रहती हैं वे भोजन बनाती हैं तो संयम कितना रखती हैं, पर थोड़ा-सा ध्यान यहाँ-वहाँ चला गया तो भोजन जल जायेगा। रोटी को पलटेंगे नहीं तो वह जल जायेगी, पान को नहीं पलटा तो वह गल जायेगा, घोड़े को नहीं चलाया तो वह अड़ जायेगा और यदि पानी को कुएं से नहीं निकाला तो वह सड़ जायेगा उसमें से बदबू आने लगेगी। इन सबको पलटना पड़ता है, पलटते रहते हैं तो कुछ नहीं होता है। नहीं पलटा तो सब कुछ खराब हो जाता है। इस प्रकार इन बातों के समान सब जगह संयम है, लेकिन बस इतना है कि यह लौकिक संयम ही है। पारमार्थिक संयम नहीं है। हमारी मन-वचन-काया की प्रवृत्ति अशुभ हो रही है, जो कर्मों का बंध करा रही है। हम शरीर की बाधक चीजों को तो देख लेते हैं, लेकिन आत्मा को जो पर वस्तु बाधक है उसको नहीं देख पाते हैं। इसलिए इस संसार में भटक जाते हैं। परमार्थ से संयम वहीं है जहाँ दया करुणा है। जिसमें दया-करुणा नहीं है, वह असंयमी है, वह संयम का पालन नहीं कर सकता है।

एक शिक्षाप्रद दृष्टांत है। कुछ लोगों ने भी स्कूल की पुस्तकों में पढ़ा या सुना होगा। दृष्टांत बहुत ही दिशा सूचक है कि हम बिना सोचे समझे इस शरीर से क्या-क्या क्रियाएं कर बैठते हैं। फिर बाद में पछताते रहते हैं और दु:खी होते हैं।

एक ग्राम में एक परिवार रहता था। एक दिन सेठ जी किसी काम से गाँव से बाहर चले गये। घर में सिर्फ उसकी पत्नी और उसका लाड़ला बेटा था जो थोड़े दिन पहले ही जन्मा था, अभी अपनी माँ की गोद में ही ज्यादातर रहता था। माँ की गोद में बालक खेल रहा था, मंद-मंद किलकारी के साथ हँस भी रहा था। माँ ने बालक को सुलाया और उसे पालने में लिटा दिया। घर के दरवाजे लगाकर पानी लेने हेतु कुएँ पर गयी। हाथ में तीन घड़े थे। बालक को अन्दर सुला गयी थी। उसके घर के अन्दर बाहर से एक नाली थी, वहाँ से एक नेवला कभी-कभी घर के अन्दर चला जाता था। इसी बीच एक काला सर्प अन्दर घर में गया। नेवले ने सर्प को देख लिया था, वह भी पीछे से घर में चला गया उसने देखा सर्प पालने में सोये बालक के पास जा रहा है, वह सर्प के पास पहुँचा और उस पर आक्रमण कर दिया, दोनों में घमासान लड़ाई हुई और नेवले ने दंत रूपी अस्त्र के प्रहार से सर्पराज के टुकड़े-टुकड़े कर जीवन लीला समाप्त कर दी। लड़ाई के कारण नेवला पसीने-पसीने हो गया सुगंधित वायु को ग्रहण करने हेतु वह घर से बाहर आ रहा था। नेवले के मुख में रक्त लगा हुआ था। बालक की माँ इतने में पानी भरकर आ गयी उसके सिर के ऊपर दो-दो घड़े थे और एक हाथ में भी घड़ा था। जैसे ही वह घर के पास आयी उसी समय उसने नेवले को नाली से बाहर निकलते देखा उसके मुँह में रक्त लगा देखकर वह सोचने लगी अरे! ये क्या हुआ? तभी बालक के रोने की आबाज आयी तो उसने सोचा शायद ये मेरे बालक को काट करके आया है, उसने अनुमान लगा लिया। जबकि बालक को भूख लगने लगी थी वह इसलिए रोने लगा था। माँ को नेवले को देखकर एकदम क्रोध आ गया। कंट्रोल काया पर नहीं रहा और बिना कुछ सोचे समझे ही उसने सिर पर से अपना घड़ा उस नेवले के ऊपर पटक दिया। घड़ा पटकते ही उसने यह भी नहीं देखा कि नेवले का क्या हुआ? वह एकदम अन्दर घर की ओर गयी। दरवाजा खोला और बालक को देखा वह रोये जा रहा था। उसने उसे उठाया और सारे शरीर को देखा बालक के शरीर पर कोई भी निशान नहीं थे। फिर उसने चारों और देखा बालक के पालने के नीचे एक काले सर्प के टुकड़े-टुकड़े पड़े थे, जिसे देखकर वह घबरा गयी। अरे! उस नेवले ने मेरे बालक को सर्प से बचाया और मैंने कितना गलत सोचकर थोड़ा भी संयम अपने ऊपर नहीं रखा। एकदम मैंने काया का दुरूपयोग कर दिया और घड़ा उसके ऊपर पटक दिया। यह

मैंने कितना बड़ा अनर्थ कर दिया, निरपराध प्राणी को जहाँ प्रशंसा मिलनी चाहिए थी उसके स्थान पर सजा दे डाली। वह उस नेवले का उपकार याद कर पश्चाताप करने लगी।

देखो भइया! तो कभी-कभी हम लोग ध्यान नहीं रखते कभी भी किसी को कुछ भी बोल देना, किसी को धक्का दे देना, किसी को भी मार देना इस तरह से काया से बहुत सी क्रियाएं करते रहते हैं। बहुत सारी क्रियाएं तो ऐसी होती रहती हैं जैसे किसी को देखकर हँस देना, बेफालतू किसी भी बात पर हँस देना जिससे सामने वाले लोगों को शंकाएं हो जाती है। जानते हों किसी की तरफ देखकर हँस रहे हो तुम क्या समझता है वह कि देखो! यह मेरे ऊपर हँस रहा है, मेरी क्रिटिसाइज कर रहे हैं; ये कुछ तो कर रहे हैं हमारी इनसल्ट कर रहे हैं, उसके मन में यह देखकर कुछ भी बैर भाव आ जाता है। इसलिए भइया, जहाँ कहीं भी हँसना, बेफालतू हँसना, बेफालतू चर्चा करना, जहाँ कहीं बैठ जाना गप्पें करना आदि ये सब क्रियाएँ हैं, सब आश्रव को कराती रहती हैं और हम भवभ्रमण करते रहते हैं। इनसे बचने के लिए हमें संयम को धारण करना चाहिए। अपनी मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को जितना कम करेंगे, उतने संयम की ओर हम आगे बढ़ेंगे।

मुनि; जीवन में गुप्तियों का पालन करते हैं। वे यहाँ-वहाँ हर कहीं जाते नहीं, जहाँ कहीं किसी जगह रुकते नहीं, निरुद्देश्य कहीं भी चलते नहीं, जहाँ कहीं बैठते नहीं, जहाँ कहीं हँसते नहीं, वे तो अपनी समस्त क्रियाएं सीमित रखते हैं। कहीं बाहर जहाँ कहीं खड़े होते नहीं,बहुत संयम रखते हैं क्योंकि कब पापों का बंध हो जाए, किस समय किसको क्या बैर भावना उत्पन्न हो जाए, कैसी गलत फहमी हो जाए पता नहीं इसलिए वे इन सब बातों का ध्यान रखते हैं, हमेशा सजग रहते हैं सब बातों से। लेकिन सामान्य लोग तो बिल्कुल स्वच्छंदता में जीवन जीते हैं, वे अपनी कोई भी प्रवृत्ति सीमित नहीं रखते हैं इस कारण से पापों का बंध तो होता ही है साथ-साथ में बुराईयाँ, वैमनस्यतायें, बैर-विरोध, ईर्ष्याएं बहुत बढ़ जाती हैं। व्यक्ति यहाँ-वहाँ जितना कम जाता है, जितनी कम प्रवृत्ति करता है, सीमित रहता है उतना ज्यादा इन सब चीजों से दूर रहता है। कुछ भी लड़ाई-झगड़े नहीं, इन सब से दूर, ऐसे कषायें नहीं जागती, तभी बैर भावनायें भी उत्पन्न नहीं होती हैं। अत: सभी लोग अपने जीवन में इस संयम धर्म को धारण करने का प्रयास

करें। जो मुनि महाराज लोग जब कोई भी क्रिया कर रहे हैं उनकी क्रियायें ऐसी रहती हैं जैसा कि इष्टोपदेश में आचार्य पूज्यपाद स्वामि ने लिखा है-

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति ।।41।।

अर्थात् - जिसने आत्म स्वरूप के विषय में स्थिरता प्राप्त कर ली है, ऐसा मुनि बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता और देखते हुए भी नहीं देखता है। कारण कि दृष्टि तो मात्र निज आत्मा के ऊपर है। उन्हें पर वस्तुएं प्रभावित नहीं कर पाती। निज चैतन्य ज्योति पर जिसके नेत्र युगल लगे हुए हैं ऐसा निर्मल संयम आराधक मुनि ही निज आत्मा के दर्शन कर परम शुद्ध भावों से शुद्ध संयम भावों को प्राप्त होता है जिस भाव का कभी भी अभाव नहीं होगा, भव्यों को उसी भाव की प्राप्ति का पुरुषार्थ करना चाहिए। अधिक स्पष्ट क्या कहें, मुनिराज जी अपनी आत्मा के चिन्तन में हमेशा लीन रहते हैं चाहे कोई भी क्रिया कर रहे हों, उनका मन तो अपनी आत्मा की ओर टिका रहता है, मेरी आत्मा कहीं अशुभ कर्म का आस्रव न कर ले इस प्रकार वे हमेशा सजग रहते हैं। एक-एक चीज में क्या; यहाँ तक कि बोलने, उठने, देखने आदि सभी में संयम पालन करते हैं।

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते वे बोलते हुए भी नहीं बोलते हैं, क्योंकि वे जब भी बोलते हैं धर्म की बात ही बोलते हैं। बहुत आवश्यक हो तो ही बोलते हैं, बहुत सोच समझ के शब्द निकालते हैं और **गच्छन्नपि न गच्छति** जाते हुए भी नहीं जाते हैं क्योंकि वे धर्म कार्य के लिए ही जाते हैं,अनावश्यक यहाँ-वहाँ फिरते नहीं है और **पश्यन्नपि न पश्यति** देखते हुए भी नहीं देखते हैं क्योंकि उन्हें कोई राग नहीं है। मात्र आँख मींचकर उपदेश देंगे तो कोई सुनेगा क्या? महाराज जी ने यदि नीचे दृष्टि करके देखा तो लोग भी आगे-पीछे, दाँये-बाँये देखने लगते हैं। कई लोग तो ऐसा सोचते हैं कि अभी महाराज जी देख नहीं रहे हैं कि हम प्रवचन सुन रहे हैं कि, नहीं सुन रहे हैं अथवा महाराज जी को थोड़े ही मालूम है कि हम बैठे हैं कि नहीं बैठे हैं। इसलिए महाराज जी को लोगों के लिये देखना पड़ता है कि ये भव्य ठीक से सुन रहे हैं कि नहीं, मन लग रहा है कि नहीं, कोई जबरदस्ती में सुन रहा है या अच्छे मन से सुन रहा है, प्रवचन के वचनों का प्रभाव कुछ पड़ रहा है कि नहीं, आत्म कल्याण की भावना है कि कोई दूसरी भावना है यह सब आपके चेहरे से

मालूम पड़ जाता है क्योंकि चेहरा हृदय की अनुक्रमणिका है। फेस इज द इन्डेक्स ऑफ द हार्ट (कण्टेण्ट्स) बोलते हैं। चेहरे से कुछ बातें मालूम पड़ जाती हैं। आप क्या कर रहे हैं? संयम धारण कर रहे हैं कि नहीं। क्या पालन कर रहे हैं। कैसे व्यक्ति हैं? कुछ नियम संयम लिया था या अभी नये आये हैं। थोड़ा सा जानने के लिए देखना पड़ता है, बाकी मुनिराजों को कोई राग-द्वेष नहीं है इस चीज में। मुनि महाराज जी का जीवन कैसा होता है? ऐसे महान एक अपहृत संयम धारण करने के बाद उपेक्षा संयम में लीन हुए मुनिराज के बारे में प्रसंग वश कहता हूँ-

एक बार भगवान नेमिनाथ जी का समवशरण द्वारिकापुरी में आया है। तीर्थंकर प्रभु समवशरण में विराजमान हो अपनी आत्मा में लीन हैं। उन्हें समवशरण से कोई प्रयोजन नहीं है फिर भी भव्यों के भाग्य से दिव्य ध्वनि खिरती है। समवशरण सहित विराजित प्रभु के दर्शन हेतु बहुत से लोग आये। यादव वंशी भी पधारे; जिसमें श्रीकृष्ण के भाई भी उपदेश सुनने के लिए पधारे। श्रीकृष्ण के अनुज गजकुमार अत्यंत तेजस्वी, सुदर्शन और सौम्य थे, उनका विवाह सोमशर्मा की पुत्री सोमा के साथ तय हुआ था। अभी विवाह सम्पन्न नहीं हुआ था कि प्रभु का समवशरण आया है सभी के साथ वे भी प्रभु के दर्शनों के लिए गये। भगवान को नमस्कार करके मनुष्यों के कोठे में बैठ गये और भगवान की दिव्यध्वनि के माध्यम से उपदेश सुना। उपदेश सुनकर उन्हें भोगों से वैराग्य हो गया। उनके मन में विचार आने लगा कि ये संसार तो असार है इसमें क्या रखा है? यह तो हमें अनन्तों बार मिला है और हमने इसे भोग करके छोड़ दिया है। ऐसा कौन-सा विषय सुख है जिसे हमने नहीं भोगा है। कितनी ही बार देव पर्याय पायी है, वहाँ पर कोटि कोटि देवियाँ पायीं, तरह-तरह के भोग पाये, कई बार राजा हुए, सेठ हुए, हमने सब कुछ पाया, ये कोई नया नहीं है यह सब तो जूठन के समान है। इन विषयों में राग करने से तो कर्मों का बंध होता है, असंयम अवस्था रहती है तो दु:ख पाते हैं इसलिए हमें संयम धर्म को धारण करना चाहिए, जिससे हम कर्मों के बंध से बच सकें।

राजकुमार के मन में त्याग की भावना आयी तो माता-पिता, बन्धु-बान्धवों से क्षमा याचना करके भगवान के चरणों में मुनि दीक्षा लेने के लिए सब परिग्रह छोड़ दिया। वस्त्र अलंकार उतार दिये और केशलौंच किये। मुनि बनकर के जंगल में ही ध्यान करने लगे। अब तो वे अपनी आत्मा में लीन हैं। उपेक्षा संयम

प्राप्त हो गया, कर्मों का क्षय कर रहे हैं। यहाँ-ज्यों ही विवाह तय हुआ था सभी विवाह की तैयारियाँ भी थीं, कुछ ही समय बाद उन्हें मालूम पड़ गया कि राजकुमार ने मुनि दीक्षा ले ली है। सोमशर्मा को यह सुनकर बहुत क्रोध आया। अरे! ऐसा ही करना था तो काहे को मेरी बेटी के साथ विवाह करने को तैयार हुए थे, क्यों संबंध तय किया था, ऐसा ही करना था तो मेरी पुत्री से निश्चय क्यों किया उसका जीवन तो बर्बाद हो गया अब उसका क्या होगा? देखो भइया ये तो अपना-अपना कर्म है इसमें कौन क्या कर सकता है? कर्मों के बिना कुछ नहीं होता है। मुनि गजकुमार जी की बड़ी परीक्षा हुई।

एक दिन मुनि गजकुमार एकान्त में प्रतिमा योग से विराजमान थे। जंगल में तभी सोमशर्मा उधर आया उसने जैसे ही मुनि गजकुमार को देखा क्रोध से विवेकहीन हो गया। अज्ञानता में ही उसने एक अंगीठी/सिगड़ी ली और उसमें अग्नि जला दी और उस जलती हुई सिगड़ी को मुनिराज के सिर पर रख दी। जलती हुई सिगड़ी जब गरम हो गयी तो आग मुनिराज के बालों में लगने लगी, लेकिन मुनिराज का ध्यान इतना उत्कृष्ट हुआ कि वे सब कुछ भूल गये कि इस जग में मेरा कुछ है। मेरा कुछ भी जग में नहीं है, मैं तो बिल्कुल अकेला हूँ-

एगो मे सास्सदो आदा णाण दंसण लक्खणो।
सेसा में बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा ।।48।।
(स.सा.)

मुनिराज ने साम्यभाव से इस दारुण यंत्रणा को सहा। उनका शरीर जलने लगा पर वे तो आत्मा में ऐसे लीन हो गये कि उनके उस ध्यान के द्वारा उनके अष्ट कर्मों का क्षय हो गया और वे अन्तःकृत् केवली होकर सिद्ध परमात्मा बन गये। विचार करो भइया कि कैसा उन्होंने संयम रखा। अगर उस समय संयम नहीं रखते तो उन्हें ये भगवानपना/सिद्धपद प्राप्त न होता। उन्होंने अपनी काया पर, वचनों पर, मन पर सब प्रकार से संयम रखा और उपसर्ग को साम्यभाव से सहन कर लिया। ऐसे महान आत्मा वे गजकुमार मुनिराज जी गजपंथा से मोक्ष सिधारे। महाराष्ट्र में गजपंथा तीर्थक्षेत्र के पर्वत पर जिनालय हैं जहाँ से उन्होंने मुक्ति पायी थी। हम लोग भी अपने जीवन में ऐसे संयम धर्म को धारण करें। अपने जीवन को महान बनाने के लिए अपना जो सच्चा स्वरूप है उसे हमेशा ध्यान रखें।

संसार में अभी तक परिभ्रमण कर रहे हैं इसका एक ही कारण है कि

अपना वास्तविक परिचय प्राप्त नहीं किया। अगर वास्तविक परिचय प्राप्त हो गया तो इस जगत से तिर जायेंगे परन्तु जिस आत्मा को अपना (अपनी आत्मा का) वास्तविक परिचय नहीं मालूम, वह बाहरी देश, प्रदेश, नगर, ग्राम, गृह और शारीरादिक के परिचय को जानकर भी मूढ़ात्मा की कोटि में आता है, क्योंकि उसने पुद्गल और आत्मा के भेद को नहीं पहचाना है। अतएव अनादिकाल से इस जीव का संसार में ही भ्रमित होकर भ्रमण हो रहा है। अपने इस भव भ्रमण को दूर करना चाहते हो मुक्ति की प्राप्ति चाहते हो तो दिन प्रतिदिन अपने वास्तविक परिचय के बारे में अवश्य चिंतन करना चाहिए। अगर वास्तविक परिचय समझ लिया तो फिर असंयम नहीं आयेगा, बहुत संयमित हो जायेंगे। आगम के ग्रंथ क्षत्रचूड़ामणि में एक श्लोक आत्म परिचय के संबंध में कहा गया है जिसका नित्य चिंतन करना चाहिए। जिससे अपने आत्म परिचय का ज्ञान हो सके साथ में कुमार्ग में भटकना छूटकर सच्चा मार्ग-मोक्षमार्ग प्राप्त हो जाये। आचार्य कहते हैं कि-

कोहं कीदृग्गुणः क्वत्यः किम् प्राप्यः किम् निमित्तकः ।
इत्यूहः प्रत्यहं नो चे-दन्य स्थाने मतिर्भवेत्।।(क्ष.चूड़ा.....)

अर्थात् मैं कौन हूँ? मुझमें कैसे गुण है? मैं कहाँ से आया हूँ? क्या प्राप्त करने योग्य है? और मैं किस निमित्त से हूँ? इस प्रकार का यदि प्रतिदिन चिंतन न किया जावे तो मनुष्यों की बुद्धि विपरीत स्थान में प्रवृत्त हो जाती है। इन सभी प्रश्नों के उत्तर अपनी आत्मा से पूछें और अगर मन आपका धर्म नीर से (गुरूपदेश व शास्त्र स्वाध्याय से) पवित्र होगा तो समीचीन उत्तर अवश्य मिलेगा। आत्मा अवश्य उत्तर देगी कि मैं एक आत्मा (जीव) हूँ। मैं जन्म-मरण, भूख-प्यास आदि के दुःखों से दूर उस मोक्ष अवस्था की प्राप्ति के लिये आया हूँ। उस मोक्ष की प्राप्ति सच्चे वीतरागी देव, शास्त्र और गुरु की साक्षी में रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः के लाभ से शीघ्र प्राप्त हो इस निमित्त से मैं यहाँ इस अवस्था को प्राप्त हूँ। ये ही वास्तविक परिचय है। ऐसा उत्तर मिलते ही विचार आता है कि इस संसार में अरहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिनवाणी का समागम बड़ी दुर्लभता से विशेष पुण्यात्माओं को ही प्राप्त होता है। इस संसार की भटकन से दूर होना है तो अपने वास्तविक परिचय को हमेशा स्मरण में रखिए। ये परिचय ही संसार के सब जंजाल, भ्रमण और दुःख आदि से निकाल कर उत्तम सुख में पहुँचा देगा।

मन-वचन-काय को कंट्रोल में रखें इतना संयम हमारे अंदर होना चाहिए। हमारी आत्मा किन कारणों से पाप कर्मों से बंधती है और किन कर्मों से छूटती है, इतना ध्यान रख लिया तो यही सबसे बड़ा संयम हो गया। पंच पाप हमारे जीवन में बाधक हैं इन्हें छोड़ते चले जाइये। पद्मनन्दी पञ्चविंशतिका में कहा है कि-

देव पूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिने-दिने ।।40।।

इन षट्कर्मों को करते जाइये ये पापों से बचाते हैं और आगे बढ़ेंगे सब परिग्रह छोड़कर ध्यान करेंगे तो सब पापों से मुक्त हो जायेंगे। संयम सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र को पुष्ट करता है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र वर्द्धन हेतु संयम पौष्टिक टॉनिक की भाँति है। भगवान के दर्शन और पूजा आदि, षडावश्यक क्रियायें इत्यादि सम्यग्दर्शन की विशुद्धि में अभिवृद्धि करती हैं। जिस आत्मा के जीवन में संयम होता है वह अपनी शक्ति का प्रयोग ध्यान, योग और जनकल्याण में ठीक प्रकार से कर सकता है।

A Man whose Heart is pure
Has the Strength of Ten

जिस व्यक्ति का हृदय संयमित/शुद्ध/पवित्र है उसके पास दस व्यक्तियों के सदृश शक्ति होती है। सत्पुरुषों का कथन है कि यह हृदय पवित्रता मनुष्य जीवन का एक महत्त्वपूर्ण हार है और विशेष निधि उसका संयम है। जिसने इस धर्म के बाजार में आकर संयम रूपी निधि को नहीं लिया, उसने अक्षम्य भूल की। कविवर द्यानतराय आत्मा को संबोधित करते हुए कहते हैं -

काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्रिय मन वश करो।
संजम रतन सम्हाल, विषय चोर बहु फिरत हैं।।6।।

चारों ओर पंचेन्द्रिय के विषय रूपी लम्पटी चोर निरन्तर घूम रहे हैं इसलिए षट्काय के जीवों की सुरक्षा करो। पांच इन्द्रिय और मन को वश में करो। संयम रूपी बहूमूल्य रत्न को संभाल कर रखो ताकि तुम्हारा जीवन सुरक्षित रह सके। चारों गतियों में मनुष्य गति ही एक ऐसी गति है, जिसमें संयम का पूर्ण पालन किया जा सकता है और उसी भव से मुक्ति श्री का लाभ भी लिया जा सकता है। आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी कहते हैं कि सभी तीर्थंकरों का निर्वाण निश्चित है फिर

भी उन्हें बिना संयम का आश्रय लिए मुक्ति नहीं मिल सकती। क्षायिक सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर प्रभु जो कि अभी गृह में हैं उन्हें भी सिद्धि संयम के बिना नहीं हुई। संयम ही एक मात्र मुक्ति का साधन है। पूजन में पढ़ते हैं -

जिस बिना नहिं जिनराज सीझे, तू रुल्यो जग कीच में।
इक घरी मत विसरो करो नित, आयु जग मुख बीच में ।।6।।

कविवर ने निरन्तर मरण की आशंका से घिरे मानव को प्रेरणा देते हुए लिखा है- जब तक मृत्यु के मुख के बीच में नहीं गये हो, तब तक अपना कल्याण कर लेना चाहिए। जब यम के मुख के बीच में आ जाओगे तब क्या कर पाओगे और संयम के बिना किसी का कल्याण नहीं होता है, चाहे वह तीर्थंकर ही क्यों न हों वह भी संयम के बिना मोक्ष नहीं जा सकते। इसलिए इस संयम को एक घड़ी के लिए भी मत भूलो। कहा भी है - ***संयम विणु घड़ि एक्कु न जाइ ।*** संसार सागर के पार उतारने वाला एकमात्र संयम ही है। संसार से यदि आप स्वतन्त्र होना चाहते हैं तो संयम के बन्धन में बंधना ही होगा। यह बन्धन मानव को स्वच्छन्दता से बचाता है। जो जितेन्द्रिय अपने मन को विजित करके संयम को अंगीकार करता है। स्वर्गों के देवता भी उनकी चरण वन्दना करते हैं। जो व्यक्ति संयम धारण कर लेता है फिर यम भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाता। आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने वाला अन्तर्बाह्य उत्तम संयम धर्म हम सबको शीघ्रातिशीघ्र प्रकट हो, इस पवित्र भावना से अन्त में धर्मभावना शतक में जो लिखा था उसे कहता हूँ-

संयम रूपी नौका भव से, सबको पार कराती है।
बैठें इसमें बड़े भाव से, मोक्ष महल ले जाती है।।
पंचेन्द्रिय के दास बनें जो, कभी न संयम रख पाते।
जब छोड़े उनके विषयों को, तभी साधु सुख को पाते ।।49।।

उत्तम तप धर्म

इच्छाओं का निरोध है तप

मङ्गलाचरण

उपाहिमुत्तं धणधाम वज्जियं, सुसम्मजुत्तं मयमोह हारयं।
वस्सेय पज्जंतमुपवासजुत्तं, तं गोम्मटेशं पणमामि णिच्चं ।।

सद्धर्म बन्धुओं !

आज दशलक्षण पर्व के सप्तम दिन उत्तम तप धर्म के बारे में चिन्तन करेंगे कि उत्तम तप धर्म अपने जीवन में कितना महत्त्व रखता है, उसका कितना मूल्य है, इसके माध्यम से हमारी आत्मा कितनी महान बनती है, आत्मा में कितना निखार आता है इन बातों को जानेंगे। तप का तात्पर्य अपने को तपाना है। तपाने से अशुद्ध वस्तु शुद्ध होती है और शुद्ध वस्तु को और अधिक दीप्ति मिलती है। आचार्यों ने कहा है कि ''**कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः**'' ऐहिक आकांक्षाओं से ऊपर उठकर मात्र कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है वह तप है। जो भी तपस्या करते हैं, वह तप-त्याग-संयम कर्मों के क्षय के निमित्त होना चाहिए क्योंकि अनादि काल से हमारे अन्दर जो कर्म बैठे हैं वे चतुर्गति में भ्रमण करा रहे हैं जिनके माध्यम से हम इस संसार में भ्रमण करते हुए नाना प्रकार के दुःखों को सह रहे हैं, ऐसे कर्म शत्रुओं को नष्ट करना और उनका क्षय करने में हमेशा संलग्न बने रहना यह सच्चा तप है।

राजवार्तिक ग्रंथ में आचार्य अकलंक देव तप के विषय में कहते हैं- ''**कर्मदहनात्तपः**'' कर्मों के दहन अर्थात् भस्म कर देने के कारण ही इसे तप कहते हैं। जिस प्रकार अग्नि संचित तृणादि ईंधन को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार तप भी जन्म-जन्मान्तरों के संचित कर्मों को जला डालते हैं, तथा शरीर और इन्द्रिय विषयों की प्रवृत्ति को रोक कर उन्हें तपा देते हैं। वैसे तो अनादि काल से ऐसी तपस्याएं तो बहुत करते आये हैं जिनमें कई प्रकार के निदान, कांक्षाएँ, संसार की भावनाएँ जुड़ी रहती हैं उनसे उस फल की अनुभूति तो नहीं हुई जो शाश्वत सुख दे, पर ऐसा क्षणिक सुख मिलता रहा है जिसे प्राप्त कर दुःखी होते रहे हैं क्योंकि जो संयोग है उसका वियोग भी निश्चित है। जब भी संयोगी पदार्थ मिले और फिर वे छूटे तो दुःख हुआ इसलिये शाश्वत् सुख मिले जो एक बार मिल गया तो फिर कभी

भी छूटेगा नहीं ऐसा पुरुषार्थ करना है। वैसे वह सुख अपने अन्तर में ही मिलने वाला है, इसके लिये त्याग तपस्या करना पड़ेगी, तभी आत्मा पर जो कर्मों की किट्ट-कालिमा चढ़ी हुई है उसे हटाकर अपने वास्तविक स्वरूप को पा सकेंगे यह कार्य तप के द्वारा ही सम्भव है और किसी अन्य साधनों से सम्भव नहीं है। परमानन्द स्तोत्र में कहते हैं कि-

पाषाणेषु यथा हेमं, दुग्ध मध्ये यथा घृतम्।
तिल मध्ये यथा तैलं, देह मध्ये तथा शिवः॥
काष्ठ मध्ये यथा वह्नि शक्ति रूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु यो जानाति स पण्डितः॥ 24॥

जिस प्रकार स्वर्ण पाषाण में स्वर्ण, दूध में घी, तिल में तेल समाया होता है, तथाहि देह में शिव (सिद्धात्म)शक्ति रूप विराजमान होता है यथाहि काष्ठ में अग्नि शक्ति अनुसार विद्यमान है उसी प्रकार इस देह में आत्मा विद्यमान है, उस आत्मा की अभिव्यक्ति ही परमात्मा की उपलब्धि है, यही धर्म ध्यान, साधना का मूल ध्येय है। स्वर्ण पाषाण को अग्नि में तपाये बिना उसकी किट्ट-कालिमा मैल नहीं जाता है, जब उसे धधकती हुई भट्टी में तपाया जाता है तब कहीं वह स्वर्ण तप करके शुद्ध स्वरूप में निखर उठता है। एक बार नहीं पूरे सोलहबार तपाया जाता है तभी वह सोलावरणी का शुद्ध स्वर्ण कहलाता है, उसमें कोई अशुद्धता नहीं होती वह सौ टंच का शुद्ध सोना होता है उसी प्रकार जो व्यक्ति तपस्या की अग्नि में तप जाते हैं और तपते-तपते अपनी आत्मा के कर्म कल्मष को पूर्ण रूप से निकाल देते हैं तभी आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त करती है, वास्तविक सुख को प्राप्त करती है, वह आत्मा कुन्दन बन जाती है।

दूध में घी समाविष्ट है पर उसकी उपलब्धि सहज रूप में नहीं होती है। घी को प्राप्त करना है तो पूरी प्रक्रिया करना पड़ेगी तभी घी प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे ही जब तपस्या करते हैं तब अन्तरंग में छाई समस्त कलुषताएँ, विकृतियाँ दूर हो जाती हैं, चित्त और चेतना की समस्त अशुद्धियाँ दूर हो जाती हैं। तिल में तेल है, यह जानते हैं परन्तु वह तभी निकलता है जब उसे कोल्हू में पेरा जाता है। काष्ठ में अग्नि है परन्तु जब वह जलती है तो शक्ति रूप में प्रकट होती है उसी प्रकार अपने अन्दर परमात्मा भगवन्ता छिपा हुआ है इसे प्रकट कर सकते हैं उस शक्ति को पहिचान कर

और तदनुकूल प्रयास करें। सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ की टीका में आचार्य पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि में लिखते हैं कि-

अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधि कायक्लेशस्तपः। (अ.6 सू.24)

अपनी शक्ति को न छिपाकर मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर को उपवासादि से क्लेश देना तप है। "**तवो विसयविणिग्गहो जत्थ**" तप वही है जिसमें विषयों का निग्रह हो। आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी तप-धर्म का लक्षण बतलाते हुए वारसाणुवेक्खा ग्रंथ में कहते हैं-

विसय कसाय विणिग्गहभावं काऊण झाण सज्झाए।
जो भावइ अप्पाणं, तस्स तवं होदि णियमेण॥ 77॥

ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा इन्द्रिय विषयों तथा कषायों का निग्रह कर जो आत्मा की भावना करता है उसी के तप धर्म होता है। इन्द्रिय विषयों पर विजय, कषायों का निग्रह और स्वाध्याय ये सभी मन को जीतने के साधन मात्र हैं और मन को जीतना ही सच्ची साधना है। आचार्य श्री ने यहाँ ध्यान और स्वाध्याय की बात कही है। स्वाध्याय एक थ्योरी है परन्तु जब उसका उपयोग बड़ी सतर्कता से, विवेक-सम्पन्न क्रिया-भाव पूर्वक उत्तम मोक्ष प्राप्ति अथवा कर्म निर्जरा की भावना से करते हैं तब वह अपनी आत्मा की शुद्धता के लिए आलम्बन बनता है, नहीं तो वह स्वाध्याय कोई कार्यकारी नहीं होता है, केवल पठन तक सीमित रह जाता है। उससे आत्मा का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है।

आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी कहते हैं कि ऐसे मुनि के पास तप होता है जो ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्त होकर तथा क्रोध,मान,माया, लोभ आदि चारों कषायों से दूर होकर अपनी आत्मा का चिन्तन करता है,उसमें लीन होता है। जब तक ध्यान निर्मल नहीं बनता तब तक स्वाध्याय भी परमार्थ की ओर नहीं ले जा सकता। देखा है लोग आज कल आर्त्त-रौद्र ध्यान छोड़े बिना स्वाध्याय करने लग जाते हैं। जहाँ कहीं स्वाध्याय करने लगते हैं, उसका कोई स्थान नहीं, कोई मंगलाचरण नहीं, कोई विनय नहीं करते हैं, तो भइया उस स्वाध्याय से कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होगा, उसकी विनय आदि करना चाहिए क्योंकि कहा है -

विनय बिना विद्या नहीं, विद्या बिना नहीं ज्ञान।
ज्ञान बिना सुख नहीं मिले, यह निश्चय कर जान॥

आचार्य कुन्द-कुन्द ने श्रेष्ठ क्रम कहा है कि पहले ध्यानों को प्रशस्त बनाओ, आर्त्त-रौद्र ध्यानों को छोड़ो, शुभ ध्यानों को प्राप्त करो तब सच्चा स्वाध्याय होगा। अरे! तब स्वाध्याय होगा, उसके पहले नहीं होगा? भावश्रुत की प्राप्ति कब होती है? देखो उन्हें '**तुषमाष भिन्नं**' भी याद नहीं हुआ था, फिर भी केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गयी। जबकि कहा है '**शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः**' आदि के दो शुक्ल ध्यान पूर्वविद् वालों को होते हैं पृथक्त्व वितर्क वीचार और एकत्ववितर्क अवीचार। मतलब द्वादशांग का ज्ञान होना चाहिए, पर उनको तो कुछ नहीं था, फिर कैसे क्या हुआ? ध्यान में बैठे तो हो गया। आर्त-रौद्र ध्यान छूटे और धर्मध्यान इतना श्रेष्ठ हुआ कि उस समय भेद विज्ञान के द्वारा उन्होंने भावश्रुत की प्राप्ति कर ली। पुस्तक से पढ़ना पृथक बात है। ज्यों ही एकाग्र हुए तो भावश्रुत की प्राप्ति हो गयी जघन्य रूप से अष्ट प्रवचन मातृका (पंच समिति त्रि गुप्ति) रूप ज्ञान मात्र से उसी समय शुक्ल ध्यान हुआ तथा केवलज्ञान भी हो गया। केवल शास्त्र पढ़ने से ही ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है, भावश्रुत की प्राप्ति ध्यान के माध्यम से हो जाया करती है। इस प्रकार ध्यान से सच्चा स्वाध्याय होता है। सच्चा स्वाध्याय कहो या ज्ञान कहो एक ही बात है। स्वाध्याय से ज्ञान होता है। ज्ञान का फल है "**णाणस्य फलं उपेक्खा**" या "**ज्ञानस्य फलं उपेक्षा**" ज्ञान का फल उपेक्षा है। उपेक्षा मतलब मुख मोड़ लिया, उससे संबंध तोड़ लिया ऐसा नहीं; बल्कि ज्ञान के माध्यम से त्याग की भावना आना चाहिए। मूलाचार में कहा गया है कि-

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेए सु रज्जदि।
जेण मित्तींपभावेज्ज तं णाणं जिण सासणे॥ 268॥

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष मार्ग में राग करता है या मोक्षमार्ग में रुचि जगती है या अनुरक्त होता है अर्थात् रत्नत्रय की पवित्र भावना जग जाये और जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है वह जिनशासन में ज्ञान कहा गया है।

ज्ञान के विषय में तीन बातें कही गयी हैं। जिस ज्ञान में राग-स्नेह छूटे, पंचेन्द्रियों के विषयों से, संसार से, काम-क्रोधादि से पराङ्मुख हो, दूसरी बात

कही है जिसके द्वारा मोक्षमार्ग में रुचि जगजाये, रत्नत्रय की प्राप्ति की तीव्र लालसा-भावना उत्पन्न हो जाये, तीसरी बात कही है जिसके द्वारा आपस में मैत्री - भाव, वात्सल्य-भाव उत्पन्न हो, द्वेष का अभाव हो जाय, बैर भावनायें समाप्त हो जायें उसका नाम जिनशासन में ज्ञान है। ये तीन बातें न हों तो ज्ञान नहीं है। आप कितना ही कुछ पढ़ लें, कुछ कर लें, अगर आपके अन्दर बैर भाव है तो कर्म निर्जरा में वह कार्यकारी नहीं होगा।

एक बात प्रसंग वश स्मरण में आ रही है जो किसी ने कही थी सभी को विचारणीय है। सामान्यत: लोग क्रोध करते हैं। क्रोध कर लिया और वह थोड़ी देर बाद समाप्त हो गया तो खटाई सदृश है। क्रोध कषाय है, कर्मों का बंध करता है। लेकिन जब यह क्रोध ज्यादा दिन तक रह जाता है तो वह अचार-मुरब्बा सम बन जाता है, मतलब इतना प्रगाढ़ खट्टा हो जाता है कि उसमें अचार-मुरब्बा की तरह विशेष स्वाद आने लगता है। कषाय ज्यादा दिन तक रह जाती है तो बैर का रूप ले लेती है इसलिए कहते हैं बैर अचार-मुरब्बा के समान है। बहुत ज्यादा गहलता आ जाती है तो उसके माध्यम से उतने ही पापों का अर्जन अधिक होता है और कहीं उसके साथ मरण हो गया तो उसका निदान न जाने कहाँ-कहाँ ले जायेगा। अतएव कषायों का शमन करना चाहिये।

इस प्रकार जिसके द्वारा राग का विरेचन हो जाय, मोक्षमार्ग में रुचि जाग जाये और वात्सल्य-भावना पैदा हो वह ज्ञान है। ऐसे ही ज्ञान के द्वारा अपने जीवन को महान बना सकते हैं। यह ज्ञान ध्यान के लिए भी कारण है और कभी ध्यान ज्ञान वृद्धि में कारण बनाता है। परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है परन्तु इतना याद रखना कि ज्ञान परमार्थ की साधना से जुड़ा हुआ होना चाहिए। अगर वह ज्ञान ख्याति, लाभ, पूजा आदि को लेकर, कोई निदान भावना को लेकर है तो वह ज्ञान आत्मा के लिए कोई कार्यकारी नहीं होगा। ज्ञानी बनने के लिए अशुभ ध्यानों का त्याग कर देना चाहिए नहीं तो उस ज्ञान से संसार से पार नहीं हो सकते। पद्मनन्दी पंचविंशतिका नामक ग्रंथ में लिखा है कि -

कर्ममल विलये हेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्। (98)

सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्र को धारण करने वाले साधु के द्वारा जो कर्मरूपी मैल को दूर करने के लिए तपा जाता है, उसे तप कहा है।

सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र जिनके पास हैं मतलब वे साधु बड़े विवेकी हैं, उनके द्वारा कर्मों के क्षय के लिए अर्थात् कर्मों को धोने के लिए जो तपा जाता है उसे तप कहते हैं। **''तवो विसय विणिग्गहो जत्थ''** (नि.सा.ता. 6/15) तप वही है जिसमें विषयों का निग्रह हो। तप वह है जो व्यक्ति को पतन से बचाये। तप का विलोम शब्द पत होता है। पत अर्थात् गिरना और जो गिरने से बचाये वह तप है। तप के प्रभाव से ही अपनी आत्मा को उत्कृष्ट बना सकते हैं। तप के कारण ही साधुगण पूज्य होते हैं। तप शुद्धि का साधन है। तप से ही आत्मा में परिपक्वता आती है।

तप के मुख्य रूप से दो भेद होते हैं-बहिरंग तप और अन्तरंग तप। बहिरंग तप छ: प्रकार के होते हैं तथा अन्तरंग तप भी छ: प्रकार के होते हैं। आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थ सूत्र के नौवे अध्याय के सूत्र 19-20 में लिखते हैं-

''अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकाय क्लेशाः बाह्यंतपः। प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्''।

बहिरंग तपों के द्वारा शरीर को तपाया जाता है और अन्तरंग तपों के द्वारा आत्मा को तपाया जाता है। तप के जो भेद बहिरंग और अन्तरंग किये गये हैं उसका कारण क्या है? बहिरंग तप बाहर से प्राय: दिखते हैं ये अन्तरंग से संबंध रख भी सकते हैं और नहीं भी रख सकते हैं। इनमें बाह्य द्रव्य की (शरीर की एवं शरीर को आवश्यक पड़ने वाले भोजनादिक के त्याग की) प्रधानता होती है और इन तपों को जैनियों के अतिरिक्त अन्य मतावलम्बी भी कर सकते हैं। अन्य मतावलम्बियों के पास कुछ न कुछ लौकिक चाहनाएँ, भावनाएँ रहती हैं, कर्मों का क्षय करने का उद्देश्य नहीं रहता इसलिए वे अन्तरंग तपों को नहीं तप सकते हैं। अन्तरंग तपों को तपने के लिए परमार्थ से जुड़ना आवश्यक है इनमें निर्मल आत्मद्रव्य की प्रधानता होती है। यथार्थ रूप से सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी साधुजन ही कर सकते हैं। इन अन्तरंग तपों में मान व माया कषाय विजय की प्रमुखता है। बहिरंग तप छ: प्रकार के होते हैं-

अनशन- बहिरंग तपों में अनशन पहला तप है। अन् + अशन अर्थात् अशन से तात्पर्य भोजन है और अन् प्रत्यय लगा है जिसका अर्थ है भोजन का अभाव सो अनशन है। भोजन का त्याग करना अनशन तप कहलाता है। यदि लोक संबंधी चाहना मन में रहती है; उसके लिए भोजन नहीं करना लंघन है, वह अनशन

नहीं है। जैनदर्शन में बहिरंग तप और अन्तरंग तप दोनों के साथ परमार्थ की साधना जुड़ी हो तभी उत्तम तप कहलाता है। अनशन में चारों प्रकार के आहार खाद्य,स्वाद्य,लेह्य,पेय या अशन,पान,स्वाद्य,लेह्य का त्याग किया जाता है। यह कुछ सीमित समय के लिए भी होता है तथा यज्जीवन अर्थात् आजीवन के लिए भी होता है। लोकोत्तर-मुक्तिसुख की प्राप्ति के लिए तथा काम शत्रु को जीतने के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप है। भूख को जीतना और मन का निग्रह करना अनशन तप है। इस तप से शारीरिक शुद्धि भी होती है।

सोलह प्रहर के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देना यह अनशन उपवास कहलाता है। उपवास में आहार का त्याग करना सरल परिभाषा है। विशेष रूप से 'उप' यानि पास 'वास' यानि रहना अर्थात्-''**उपसमीपं वासं करोति इति उपवासः**'' अपनी आत्मा के समीप रहना ही उपवास है। इसमें बाह्य विकल्पों को छोड़कर कषायों को कृश करने हेतु स्वयं के निकट बैठना ही उपवास है। उपवास में न ही भोजन की इच्छा और न जल की आकांक्षा ही होती है, वरन् चिन्तन ही भोजन और आचरण ही जल है। विषय कषाय का त्याग, आरम्भ-सारम्भ जो भी हैं उन्हें छोड़कर मात्र आत्मा का चिन्तन करना, स्वाध्याय, ध्यान और षडावश्यक में लीन रहना वास्तविक उपवास है। इस प्रकार अनशन उपवास में मात्र भोजन का त्याग ही नहीं पंचेन्द्रिय के विषय व चार प्रकार की कषाय का त्याग कर साधु जब ध्यान, समिति और आवश्यकों में रत रहते हैं ऐसे धर्मकार्य में लीन रहने से वे पारमार्थिक उपवास को करते हैं।

गृहस्थ की अपेक्षा से आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने ''उपवास के दिन सभी गार्हस्थिक क्रियाओं का त्याग कर स्वयं के निकट बैठने, ध्यान-साधना, जाप करने की प्रेरणा दी है। शरीर की समस्त अनावश्यक वैषयिक भोगी विलासताओं को त्याग करने का नाम ही उपवास है।'' आचार्यों ने कहा है कि जो प्रतिमाधारी- व्रती हैं वे ब्रह्मचर्य सह उपवास में स्नान आदि क्रिया न करें और वीतरागता के ध्यान जाप में लीन रहें तो बहुत अच्छा है। वे आरम्भ-सारम्भ से जितना दूर रहें, जितना त्याग करें उतना अच्छा है। कई लोगों के मन में यह प्रश्न रहता है कि आहार आदि उपवास के दिन दे सकते हैं या नहीं। वैसे यदि दान दाता श्रावक की व्यवस्था है तो उपवास कर्त्ता को आहार देने की उपवास के दिन कोई आवश्यकता नहीं है। मान

लो आप दो व्यक्ति हैं और दोनों का उपवास है, पड़गाहन को खड़े हो गये मुनिराज जी को किसी कारण से पहले मालूम पड़ गया कि आपका उपवास है तो वे वहाँ नहीं जायेंगे इस बात का वे पूर्ण ध्यान रखेंगे कि आहार के लिए उस चौके में कोई न कोई श्रावक भी भोजन करने वाला होना चाहिए क्योंकि जिसके द्वारा अतिथि संविभाग के निमित्त से आहार बनाया गया है; महाराज जी के निमित्त से तो आहार बनायेंगे नहीं। उपवास के दिन स्नान के विषय में यह भी ध्यान रखें कि दानादि क्रिया दूसरे को सिखाने के लिए अथवा अभिषेक पूजन पाठ आदि कार्य करने के लिए स्नान करना भी आवश्यक हो जाता है। इस निमित्त का अवश्य ध्यान रखें।

ज्ञान पूर्वक की गयी साधना कर्म बन्धन को तोड़ने में कारण है और अज्ञान पूर्वक की गयी तप साधना मात्र भटकन की परम्परा को मजबूत करने में कारण बनती है। मुनिराज जब तप साधना के तल पर उतर पड़ते हैं तो मन-वचन काय की चंचल वृत्तियों को एकदम रोक देते हैं। तप में परम प्रसिद्धि को प्राप्त होने वाले बाहुबली भगवान ने दीक्षा लेने के उपरान्त आहार ही नहीं किया वर्ष भर लम्बे समय तक वे साधना करते रहे और कैवल्य की प्राप्ति कर ली। वर्तमान समय में भी बहुत से मुनिराज अनशन व्रत को करते हैं। आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज चारित्र-चक्रवर्ती हुए जिन्होंने इस कलिकाल में विलुप्त-सी होती हुई मुनि परम्परा को दिशा दी। आचार्य श्री ने अनेकों उपवास किये इनमें सिंहनिष्क्रीड़ित उपवास व्रत भी किया। इस व्रत की उत्कृष्ट विधि में एक आहार एक उपवास, एक आहार दो उपवास इस प्रकार क्रमशः बढ़ते हुए पन्द्रह उपवास तक पहुंच जाते हैं फिर एक आहार पन्द्रह उपवास, एक आहार चौदह उपवास इस प्रकार क्रमशः घटते क्रम में आते हैं। मध्यम विधि में इसी क्रम से आठ उपवास तक बढ़ा कर घटाना पड़ता है और जघन्य विधि में पांच उपवास तक बढ़ाकर घटाना पड़ता है। भइया यदि हम उपवास नहीं कर पाते तो कोई बात नहीं परन्तु ऐसे उपवास करने वाले तपस्वियों के प्रति सदैव विनय भक्तिभाव बनाये रखना चाहिए। उपवास के दिन कई लोग समय पास करने के लिए मनोरंजन के साधन लौकिक टी.वी., कम्प्यूटर, पिक्चर आदि देखते हैं, ताश खेलते हैं, कैरम खेलते हैं, आजकल जो टी.वी. पर मैच आते हैं उन्हें देखते हैं, पेपर पढ़ते हैं, कई प्रकार की उपन्यास पुस्तकें पढ़ते हैं, दिन में भी शयन करते हैं, तो यह सब क्रियायें अनुचित हैं, इनमें वैषयिक लालसा है, इसके छूटे

बिना धर्मानुष्ठान सार्थक नहीं होते इसलिए व्रत के दिन ऐसा नहीं करना चाहिए बल्कि पूरे दिन की चर्या धर्म-कार्य में व्यतीत करनी चाहिए क्योंकि धर्म-साधना की मूल कसौटी विषय विकारों पर विजय प्राप्त करना है।

अवमौदर्य- अवमौदर्य तप बहुत उपयोगी है, यह इच्छाओं को निरोध करने के लिए किया जाता है। संयम की सिद्धि तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए भूख से कम खाना भर पेट नहीं खाना अवमौदर्य तप है। अवमौदर्य तप में कड़ी परीक्षा का समय होता है। विविध प्रकार की स्वादिष्ट सामग्रियाँ-व्यंजन सामने बने हुए हैं थाली सजाकर दिखाई गयी। आग्रह-अनुनय के साथ सभी व्यंजन बतलाये जा रहे हों उनमें से मन करता है कि यह लें या ये लें फिर भी उन सब को स्वीकार नहीं करना अवमौदर्य है। जितनी भावना खाने के लिए हो रही है और उदर में जगह भी है फिर भी इच्छा को रोक देना ही तप कहलाता है। यह तप विशेष रूप से मुनि महाराजों के लिए है। आहार लेने गये सब कुछ है उनमें से केवल एक ग्रास ग्रहण कर चले आना उत्कृष्ट अवमौदर्य है। यह उपवास से भी कठिन है। इसी प्रकार भूख से एक ग्रास कम खाना जघन्य अवमौदर्य कहलाता है। उत्कृष्ट अवमौदर्य में उपवास से भी अधिक निर्जरा होती है। अवमौदर्य से क्या होता है? इससे बहुत बड़ी उपलब्धि होती है। संयम की जागरुकता, दोषों का प्रशमन, सन्तोष, स्वाध्याय, क्षुधा वेदना पर नियंत्रण, इच्छाओं का निरोध, भोजन के प्रति आसक्ति का त्याग कर साधना पथ पर निरन्तर आगे बढ़ते जाते हैं। निद्रा विजय और ध्यान की सिद्धि के लिए अभ्यास के रूप में इसका पालन करते हैं।

वृत्तिपरिसंख्यान- एक नियम ले लेना, एक सीमा बाँध लेना, परिधि जैसी खींच लेना कि मैं इतने स्थान में वृत्ति करूँगा वह वृत्ति परिसंख्यान है। तृष्णा की ज्वाला को शांत करने के लिए, किसी व्यक्ति विशेष के प्रति,दाता के प्रति लगाव, आसक्ति न हो इसलिए यह वृत्ति परिसंख्यान है। यम और नियम के रूप में वृत्ति परिसंख्यान दो प्रकार का होता है। एक ऐसा संकल्प लेकर जाना कि ऐसी विधि लेकर आहार के लिए जा रहा हूँ जब तक नहीं मिलेगी तब तक आहार नहीं करूँगा चाहे वह जीवन भर न मिले यह यम रूप में वृत्ति परिसंख्यान कहलाता है। दूसरा नियम रूप से विधि लेकर जाते हैं कि इस प्रकार की विधि मिलेगी तो आहार करेंगे अन्यथा नहीं करेंगे। ये विधि आज के लिए है कल दूसरी विधि लेंगे। नियम की कोई

सीमा नहीं है, पड़िगाहन संबंधी, दिशा संबंधी, गृह संबंधी या दाता संबंधी आदि कोई भी हो सकती है। यह तप भोजन के प्रति आशा और राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए किया जाता है। कर्मों के क्षय, निर्जरा एवं पुण्य बढ़ाने के लिए विधि लेते हैं।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर मुनिराज जी वर्तमान काल की अपेक्षा से वृत्ति परिसंख्यान तप में प्रसिद्धि को प्राप्त हुए। आचार्य श्री कितनी कठिन-कठिन विधियाँ लेते थे। एक बार उन्होंने चातुर्मास के दौरान नियम लिया कि बैल के सींग पर गुड़ हो तभी मैं आहार करूँगा। उनके कई उपवास हो गए विधि नहीं मिली। एक दिन आचार्य श्री आहार चर्या को निकले और संयोग से उसी समय व्यापारी बैलगाड़ी में गुड़ रख कर आ रहे थे उन्होंने दुकान पर गुड़ रखा और एक सांड दौड़ता हुआ गाय के पीछे आया। गाय तो एक तरफ हो गयी तथा वह सांड गुस्से में इतना था कि उसने गुड़ की पारी में ठोकर मारी तो उसका सिर परिया में लगा और थोड़ा सा गुड़ सींग में लग गया। आचार्य श्री नियम सहित आहार चर्या के लिए निकले थे सामने सांड को देखा गुड़ सींग पर लगा था सामने वाले चौके में पड़िगाये गये। महाराज जी की विधि मिली और उनका आहार हुआ। इसी प्रकार एक बार उन्होंने जमीन पर हीरे-मोती पड़े हो, तब आहार ग्रहण करेंगे इस प्रकार की विधि ली थी। वृत्तिपरिसंख्यान तप में भोजन की वृत्ति, पात्र की वृत्ति, दाता की वृत्ति और गृह की वृत्ति होती है इनमें लाभन्तराय कर्म के क्षयोपशम की परीक्षा होती है। आचार्यों ने कहा है कि-जो वृत्ति परिसंख्यान की विधि सहज भाव से उपलब्ध हो वही ठीक है। जबरजस्ती मिलने या संकेत करने की कोशिश नहीं करना चाहिए बल्कि न मिलने पर अनाहारी रहकर अहोरात्र व्यतीत करना चाहिए। नियम लेकर विद्युत की तरह निकल जायें, दाता को पता ही नहीं चले कि उसके हाथ की वस्तु को महाराज ने उसे कब देखा? यह वृत्तिपरिसंख्यान का तप होता है।

रसपरित्याग- रस का अर्थ है प्रीति बढ़ाने वाला तत्त्व, रस भोजन में भी प्रीति बढ़ाता है, कुछ रसों के संयोग से भोजन स्वादिष्ट होता है और इनके अभाव में भोजन नीरस हो जाता है। जितेन्द्रिय का संयम की बाधा निवृत्ति हेतु अपनी इन्द्रियों की वासनाओं पर विजय प्राप्त करने के लिये नमक, तैल, शक्कर, दूध, दही, घी, छह रसों अथवा इनमें से एक या दो या सभी रसों का त्याग करना रस परित्याग तप है। रसों का त्याग एक दिन के लिए भी हो सकता है, कई दिनों के लिए भी हो

सकता है और आजीवन के लिए भी हो सकता है। जिह्वा की लोलुपता छोड़ना ही तो रस परित्याग है। रस परित्याग की भावना रसना इन्द्रिय पर कंट्रोल करती है, जिससे चारों इन्द्रियाँ भी वश में हो जाती हैं। यह बहुत अच्छा तप है। रस परित्याग तप में जैसा जो कुछ मिल जाय उसकी साधना होती है। सहन शीलता होनी चाहिए ऐसा नहीं है कि किसी ने ये नहीं दिया, वो नहीं दिया ये भाव और राग द्वेषवश क्रोध नहीं आना चाहिए तभी रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त होती है।

विविक्त शय्यासन- ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान आदि की वृद्धि के लिए एकान्त स्थान में शयन करना, बैठना, आसन लगाना आदि विविक्त शय्यासन तप है। एकान्त में वास से मतलब बाह्य परिवेश से द्वेष नहीं अपितु अन्तरंग की एकाग्रता हेतु भीड़ से मुक्ति है। भय संज्ञा को जीतने, जनसम्पर्क कम करने, व्यर्थ के वार्तालाप आदि से बचने हेतु यह तप है। इस तप का इच्छुक साधक एकदम निर्जन एकान्त स्थान में घण्टों अपनी आत्मा में ध्यान मग्न, सब संबंधों से मुक्त, अनासक्त होकर परमात्मा की आराधना करता रहता है, वह अपने परिसर में रहने वालों के साथ भी संबंध नहीं बनाता है। इस तप से वे भय को जीतते हैं, ध्यान में बहुत अच्छी एकाग्रता सुरभि अनुभव में आती है।

कायक्लेश - शारीरिक ममत्व को कम करने हेतु तथा कष्ट बाधाओं को सहने के लिए और धर्म की प्रभावना हेतु अनेक प्रकार के आसनों द्वारा खड़े रहना, बैठना, ध्यान लगाना आदि कायक्लेश तप है। गर्मी, ठण्डी, वर्षा, भूख, प्यास आदि को समता पूर्वक सहन करना, अनेक प्रकार के उपसर्गों का सामना करना, अनुकूल परिस्थितिओं में भी प्रतिकूलता को स्वीकारना, बाईस परिषहों के साथ बाधाओं को सहन करते हुए मानापमान की उपेक्षा करते हुए कष्टों को सहना ताकि साधना से शरीर और आत्मा की भिन्नता का ज्ञान हो सके। आत्मा की गहराई का स्पर्श वीतरागता पूर्ण कायक्लेश तप से होता है। यही तप अनादि कालीन कर्मों के दृढ़तर बन्धन को काटता है। साधक को संक्लेशी नहीं होना चाहिए वरन् कष्ट सहिष्णु होना चाहिए। आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी कहते हैं- अपने भेद विज्ञान को दृढ़ बनाना चाहते हो तो कष्ट सहिष्णु बनो। जो जितना कष्ट सहिष्णु बनता है, वह उतना ही बड़ा साधक होता है। कष्टों से भय करोगे तो कभी भी मार्ग से विचलित हो सकते हो। जितने कष्टों के बीच चलने का प्रयास करोगे उतने ही दृढ़ बनोगे।

आचार्यों ने कहा है अपनी मानसिक शक्ति (विल पावर) को बढ़ाना चाहिए। यदि सहन शक्ति की क्षमता मन में आ गयी तो बड़े से बड़े कष्ट फिर विचलित नहीं कर सकते उन्हें सहजता से सह सकते हैं और यदि सहन शक्ति नहीं है तो हम कितने ही बलशाली क्यों न हों थोड़े से कष्ट से ही विचलित हो सकते हैं, खेद खिन्न हो सकते हैं, परिणामों में विकल्प रूपता आ सकती है। इसलिए इस तप की साधना के माध्यम से परिणामों में विकल्प रूपता नहीं आये, परिणाम रंचमात्र भी खराब न हों, पाप से मुक्त हो सकें और अपने सारे कर्ज को चुका सकें। जब यह साधना गहरी होती है तभी अन्तरंग तप प्रगट होते हैं। समतापूर्वक किया गया अल्प तप भी सार्थक होता है ।

आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी नियमसार ग्रंथ की गाथा 124 में कहते हैं-

किं काहदि वणवासो, कायकिलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयण मोण पहुदि समदा रहियस्स समणस्स॥ 24॥

यदि समता जीवन में नहीं आयी तो यह कायक्लेश, यह वनवास, ये उपवास, ये अध्ययन, मौन साधना किस उपयोग की? अपने परिणामों की निर्मलता, शुद्धि के ध्येय से, कर्मों की निर्जरा के लिए, समता की भावना से किया गया तप ही उत्तम तप है।

अन्तरंग तप- कुन्थुनाथ तीर्थंकरभगवान की स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि -

बाह्यं तपः परम दुश्चरमाचरंस्त्व, माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्॥83॥

हे भगवान! आपने अपने भीतरी तप को बढ़ाने के लिए ही कठिनतर बाह्य तप का अनुष्ठान किया था। परिणामों की निर्मलता और मन के निग्रह के लिए किया जाने वाला तप अन्तरंग तप कहलाता है। बहिरंग तप अन्तरंग तप के साधन हैं। अन्तरंग तप के अभाव में बहिरंग तप कार्यकारी नहीं हैं। इसलिए अन्तरंग तप को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। अन्तरंग तपों को जानना अति-आवश्यक है। अन्तरंग तप छः प्रकार के होते हैं जो इस प्रकार हैं-

प्रायश्चित्त - चित्त की शुद्धि के लिए किये गये अपराधों के शोधन को प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रायः का अर्थ-अपराध है और चित्त का अर्थ शोधन है।

प्रायश्चित्त शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि जिसके द्वारा पाप का छेदन हो वह प्रायश्चित्त है। यह एक ऐसा तप है जिसमें अपने अज्ञान व प्रमादवश हुई भूलों का एहसास होते ही मन पश्चाताप से भर जाता है और भाव से अपने गुरु के समक्ष प्रकट कर देना तथा गुरु द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्त को ग्लानि रहित सहर्ष स्वीकार कर लेना प्रायश्चित्त तप है। जितनी शीघ्र गलती का प्रायश्चित्त ले लिया जाता है, उतनी शीघ्र चेतना की परिशुद्धि हो जाती है और जितनी देर होगी उतना ही कर्म का आस्रव अधिक चलता रहता है।

प्रायश्चित्त तप से दोषों का नाश होता है तथा भावों की विशुद्धि होती है जिसका मन सरल होता है, मान और माया को जीतता है वही प्रायश्चित्त ले सकता है। इसके साथ किसी चीज का लोभ भी नहीं होता है, जो मिलेगा उससे भी प्रयोजन नहीं है, बस; कर्मों की निर्जरा से प्रयोजन है। साधक प्रायश्चित्त से कभी घबराता नहीं है चाहे कितना भी बड़ा या छोटा जो भी प्रायश्चित्त उसे दिया जाये। क्योंकि प्रायश्चित्त तो अपनी आत्मा की विशुद्धि के लिए स्वतः ही आत्म निंदा, आत्मगर्हा आने पर लेते हैं कि मेरे द्वारा कोई गलती, भूल हुई है, आगे न हो। यदि गुरु न हो तो पंचपरमेष्ठी या भगवान के समक्ष सुबह से शाम तक के कार्यों में यदि गलती हुई हो तो आलोचना करना चाहिए इससे जाने-अनजाने में हुई भूल सुधर जाती है और प्रायश्चित्त करके मन हल्का हो जाता है। कल्मष धोने,पापों का प्रक्षालन करके प्रायश्चित्त लेना सहज हो जाता है। मानी और मायाचारी व्यक्ति सोचता है कि मैं प्रायश्चित्त लूँगा तो उनकी नजरों में गिर जाऊंगा फिर मुझे आदर नहीं मिलेगा, यह सोचना उसका उपयुक्त नहीं है, जबकि आत्मा की शुद्धि करने वाला तप प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त आलोचना के दोषों से रहित होकर के लिया जाता है।

विनय - **''विलयं नयति कर्ममलमिति विनयः''** (भ.आ. 302 गा.टी.)मतलब जो कर्ममल को दूर कर दे वह विनय है। इसलिए आचार्यों ने विनय को उत्थान का मार्ग, मोक्ष का द्वार कहा है। पूज्य पुरुषों एवं मोक्ष के साधकों के प्रति हार्दिक आदर भाव विनय है। वास्तविक विनय आन्तरिक होती है, जहाँ गुणानुराग पूर्वक नम्र-वृत्ति और बहुमान होता है, वहीं कषायों का निग्रह संभव है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि की तथा श्रेष्ठ गुरुजनों की प्रशंसा, आदर, स्तुति, वन्दना आदि करना, रत्नत्रय या रत्नत्रय धारकों का देव-शास्त्र-गुरु का आदर करना

सम्मान करना और वन्दना आदि से विनय करना विनय तप है। विनय वही कर सकता है जो मान कषाय पर विजय प्राप्त करता है। विनय करने वाले को दूसरे के सामने नम्र होना पड़ता है, झुकना पड़ता है अपने पूज्य, बड़ों के प्रति अन्तरंग से झुकना पड़ता है। किसी के सामने झुकना सहज नहीं है, जिसका अभिमान गलता है वह झुक पाता है। वैसे तो अभिमान, अहंकार की अज्ञानियों में प्रमुखता है। अहम् को जब तक नहीं छोड़ते हैं तब तक अर्हम् की प्राप्ति भी नहीं होती है। हर एक व्यक्ति विनय भाव को धारण नहीं कर सकता जो सम्यक्दृष्टि होता है वही विनय भाव को धारण कर सकता है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार इन पांच प्रकार की विनय को सम्यक्दृष्टि कर सकता है, इससे कर्मों की निर्जरा होती है।

वैयावृत्य - चारित्रशील आदि गुणों से विभूषित साधुजनों का शरीर व अन्य उपयोगी वस्तुओं से सेवा शुश्रूषा करना वैयावृत्य तप है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी रत्नकरण्डक श्रावकाचार में कहते हैं कि-

व्यापत्ति व्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोन्योपि संयमिनाम्॥112॥

गुणों के अनुराग से संयमी तपस्वी जनों के खेद को दूर करना पैरादि अंग दबाकर शरीर की सेवा करना और गुणानुराग से पूर्ण उपकार करना वैय्यावृत्य है। गृहस्थ तो वैयावृत्य करते ही हैं, मुनिजन भी एक-दूसरे की वैयावृत्य करते हैं। ग्लानि छोड़कर सेवा करने पर वीतराग स्वरूप के लक्ष्य द्वारा अन्तरंग परिणामों की जो शुद्धता होती हैं उसे वैयावृत्य तप कहते हैं। तत्त्वार्थराजवार्तिक में आचार्य अकलंक देव ने वैयावृत्य के लाभ बताते हुए लिखा है-वैयावृत्य करने से समाधि धारण, ग्लानि पर विजय एवं परस्पर वात्सल्य की भावना प्रकट होती है। आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि वैयावृत्य करने वाला व्यक्ति उत्तम वज्रवृषभनाराच संहनन को प्राप्त कर लेता है। वज्रवृषभनाराच संहनन वाला व्यक्ति ही क्षायिकसम्यक्त्व और क्षपकश्रेणी को प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

गृहस्थ वैयावृत्य करके तीव्र पुण्योपार्जन करता है। भविष्य में तीर्थंकर पद का अधिकारी भी हो सकता है। पूजा में आप पढ़ते हैं कि-

'निशदिन वैयावृत्य करैया, सो निश्चय भव नीर तिरैया।'

भइया यह ध्यान रखना जब तक मान कषाय का उपशम या अभाव नहीं होता है, तब तक वैयावृत्य आदि नहीं कर सकते हैं। वैयावृत्य वही कर सकता है जिसके अन्तरंग में विनय,वात्सल्य, श्रद्धा, भक्ति, समर्पण हो। तभी ग्लानि को जीतकर, अहं को तोड़कर सेवा शुश्रूषा कर सकते हैं। समर्थ होते हुए भी जो वैयावृत्य नहीं करता वह धर्मभ्रष्ट है। जिनाज्ञा का भंग, शास्त्र कथित धर्म का नाश अथवा साधुवर्ग व आगम का त्याग आदि महादोष वैयावृत्य की उपेक्षा करने से प्रकट होते हैं। नितप्रति ही बाल वृद्ध, युवा, रोगी साधुजनों की वैयावृत्य करना चाहिए। साधक की साधना में किसी प्रकार से सहयोगी बन जाना भी वैयावृत्य है। चार प्रकार के दान करना भी वैयावृत्य है।

स्वाध्याय- सर्वज्ञ प्रणीत-आर्ष परम्परा की वाणी का चिन्तन कर, उसको पढ़कर, सुनकर, लिखकर, आलस्य से दूर हटकर स्व-आत्मा में अधि अर्थात् बसना स्वाध्याय तप है। स्वाध्याय का वास्तविक अर्थ स्व का अध्ययन है। स्व के अध्ययन का मतलब अपने परिणामों का अन्तर्विश्लेषण करना है। इससे भावों की विशुद्धि और कर्मों की निर्जरा होती है। सच्चा स्वाध्याय वही है जिससे राग छूट जाय, मोक्षमार्ग में रुचि जगे और वात्सल्य भाव हो। परमार्थ और निस्वार्थ भावना से जो किया जाता है वही स्वाध्याय है। स्वाध्याय करते हुए अपने परिणामों की विशुद्धि पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

स्वाध्याय तप तभी बनता है जब वह आचरण की गहराई में उतरता है। कहा भी है- ''**ण वि अत्थि णवि य होहिदि सज्झाय समं तवो कम्मं** (भ.आ. 106)।'' स्वाध्याय से बढ़कर कोई तप नहीं है। गृहस्थों के लिए स्वाध्याय कर्म रूप कर्तव्य है और मुनियों के लिए व आचार्यों के लिये यह स्वाध्याय तप है। कर्त्तव्य मार्ग मात्र है, और तप का फल मोक्ष मंजिल की प्राप्ति है। सम्यग्ज्ञान की भावना में आलस्य न करना, जिन शास्त्रों से स्व अर्थात् आत्मा का ज्ञान हो ऐसे समीचीन पदार्थों के दर्शाने वाले शुद्ध निर्दोष निर्ग्रन्थों-रचित शास्त्रों का अध्ययन करना, कराना एवं उनकी शिक्षाओं पर ध्यान देना। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये पाँच प्रकार स्वाध्याय के हैं।

व्युत्सर्ग - शरीर के प्रति ममत्व, अहंकार, ममकार बुद्धि का त्याग करना व्युत्सर्ग है। क्रोधादि अन्तरंग एवं धन धान्यादि बहिरंग परिग्रहों में 'ये मेरे हैं' इस

प्रकार से संकल्प का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। इसे कायोत्सर्ग भी कहते हैं। काय यानि शरीर, उत्सर्ग यानि छोड़ना। शरीर से कुछ नियत काल के लिए ममत्व छोड़कर पंचपरमेष्ठी का ध्यान करना णमोकार मंत्र का स्मरण करना, पंचपरमेष्ठी के गुणों का स्मरण करना कायोत्सर्ग कहलाता है। यदि शरीर संबंधी कोई विकल्प आ जाये या कोई आर्त-रौद्र ध्यान होने लग जाये तो समझो वह कायोत्सर्ग नहीं है। जब तक शरीर के प्रति मोह नहीं है, चिंता नहीं है, समता है तभी तक वह कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग तप के विषय में कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आचार्य कहते हैं कि-

जल्ल-मल्ल-लित्त-गत्तो दुस्सह वाहीसु णिप्पडियारो।
मुह धोवणादि-विरओ भोयण सेज्जादि णिरवेक्खो॥ 467॥

ससरूव-चिंतण रओ दुज्जण-सुयणाण जो हु मज्झत्थो।
देहे वि णिम्ममत्तो काओसग्गो तओ तस्स॥ 468॥

जिस मुनि का शरीर जल्ल और मल्ल से लिप्त है, जो दुस्सह रोग के हो जाने पर भी उसका प्रतिकार न करता हो, मुख धोना आदि शरीर के संस्कार से उदासीन हो, भोजन, शय्या आदि की अपेक्षा नहीं करता हो तथा अपने स्वरूप के चिन्तन में ही लीन रहता हो। दुर्जन और सज्जन में माध्यस्थ हो और शरीर से भी ममत्व न करता हो, उस मुनि के कायोत्सर्ग नाम का तप होता है।

मुनि महाराज शरीर के प्रति पूर्ण निर्ममत्व होते हैं वे आत्मा या परमात्मा का दर्शन करने हेतु देव, मनुष्य, तिर्यंच, अचेतन कृत उपसर्गों को समता पूर्वक सहते हैं। व्युत्सर्ग तप उपसर्ग को उपहार बनाता है। जैसे भगवान पार्श्वनाथ पर कमठ ने उपसर्ग किया और उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। पांडवों को उपसर्ग के बाद ही मुक्ति मिली थी। मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है, इस प्रकार का आचार-विचार करने वाले साधक को व्युत्सर्ग तप होता है। इससे आशा और तृष्णा पर विजय प्राप्त होती है, निर्ममता और नि:संगता आती है तथा मन भी हल्का होता है।

ध्यान- किसी एक पदार्थ के चिन्तन में चित्त को लगाना, चित्त की चंचलता को रोककर, तत्त्व के चिंतन में लगाना, आत्मस्थ भावों में जितना हो उतना रमण करना ध्यान है। प्राथमिक भूमिका में अशुभ विकल्पों से हटकर शुभ में रमना, लीन होना ध्यान माना गया है इसमें मंत्रों का जाप, भावनाओं का चिन्तन भी

सहायक होता है। राग-द्वेष से ऊपर उठकर आत्मकेन्द्रित होना ही ध्यान का साध्य है, जो विशेष प्रयास, अभ्यास से ही होता है। द्रव्यसंग्रह में ध्यान के विषय में आचार्य कहते हैं कि-

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठ अत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए॥ 48॥

हे भव्य जनों! यदि तुम परम ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में राग, द्वेष और मोह मत करो।

वीतरागता को साध्य मानकर आसक्ति को कम करने का प्रयत्न करेंगे तभी ध्यान की सिद्धि सम्भव होगी। आर्त्त और रौद्र-ध्यानों का त्याग कर चित्त की चंचलता को रोकते हुए बाह्य पदार्थ का विसर्जन कर पुरुषार्थपूर्वक, धर्म और शुक्ल ध्यानों में लीन होना प्रशस्त ध्यान नाम का तप है। सामान्यतः ध्यान के चार प्रकार हैं- आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। जिसमें परिणाम संक्लेषित हों, दुःखी हों वह आर्त्तध्यान कहलाता है। यह इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तन और निदान बंध के भेद से चार प्रकार का होता हैं जिसमें परिणाम रुद्र अर्थात् क्रूर आशययुत हों वह रौद्र ध्यान कहलाता है। हिंसानदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी और परिग्रहसंरक्षणानंदी के भेद से यह चार प्रकार का है। अहिंसा, क्षमा और सत्पात्र दानादि धर्म का सहारा लेकर के उनमें लीन हो जाना धर्मध्यान है। यह भी मुख्य रूप से चार प्रकार का है, आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय। धर्मध्यान के अन्य चार प्रकार पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान हैं। मन की अत्यन्त निर्मलता होने पर जो एकाग्रता होती है, वह शुक्लध्यान है, इसी ध्यान से आत्मानुभूति के द्वार खुलते हैं। यह ध्यान भी चार प्रकार का होता है- पृथकत्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रिया निवृत्ति। इन सोलह ध्यानों में आर्त्त-रौद्र ध्यान हेय, दुर्गति के हेतु तथा संसार के हेतु हैं, इनका त्याग करना प्रशस्त ध्यान है। आर्त्तध्यान तिर्यन्च गति का और रौद्र ध्यान नरक गति का कारण है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण या हेतु हैं और उपादेय हैं। धर्मध्यान स्वर्ग का कारण कथंचित्-मनुष्यगति का भी कारण है। शुक्लध्यान की प्राप्ति आज पंचम काल में नहीं होती है। आचार्यों ने कहा है कि चाहे करोड़ पूजा, करोड़ जप, करोड़ तीर्थ वन्दना कर लो इन सबसे बढ़कर महत्त्वपूर्ण है शुक्लध्यान तप। अड़तालीस मिनट

आत्मा में शुक्लध्यान जग जाये तो कर्मों से मुक्ति हो जायेगी। मनुष्य में अनन्त क्षमताएँ हैं। मोहासक्त प्राणी इनको अभिव्यक्त नहीं कर पाता है परन्तु जैसे ही मोह का शमन होता है आत्मशक्तियाँ अभिव्यक्त होने लगती हैं।

ज्ञानी वही है जो परिग्रह का आश्रय नहीं लेता उसे विषयों की कोई आवश्यकता नहीं होती है, वह तो एकमात्र अपनी आत्मा का ही सहारा लेता है। परिग्रह को जब तक पकड़ कर रखेंगे तब तक मुक्ति होना सम्भव नहीं है, परिग्रह को छोड़े बिना उत्तम ध्यान होना भी संभव नहीं है। ज्ञानार्णव ग्रंथ में आचार्य शुभचन्द्र स्वामी कहते हैं कि-

अनिषिध्याक्ष संदोहं यः साक्षात् मोक्तुमिच्छति।
विदारयति दुर्बुद्धिः शिरसा सम ही धरम्॥ (20/31)

ध्यान के द्वारा ही आत्मानुभूति होती है। यदि कोई व्यक्ति ध्यान को रत्नत्रय का आलम्बन लिए बिना, दिगम्बर हुए बिना ही साधना चाहे तो यह याद रखना कि वह सिर के बल पर पर्वत को तोड़ने का व्यर्थ प्रयास करेगा। ऐसा करने पर पर्वत तो फूटेगा नहीं, परन्तु उसका सिर जरूर फूट जायेगा। इसलिए भइया! जो क्रम साधना है, उसकी जो विधि बतलायी गयी है उसी के अनुरूप करोगे तो ही मुक्ति मिलेगी। दोषों को जब निकालेंगे तभी तो गुण प्रकट होंगे। गुण कोई बाहर से थोड़े ही आयेंगे, वे तो दोषों के हटते ही स्वतः प्रकट हो जायेंगे। गुणों में ही दोष रहते हैं, दोषों का अभाव होते ही गुणों का सद्भाव सहज ही हो जायेगा। प्रवचनसार में आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी कहते हैं कि-

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय-सहस्स कोड़ीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सास मेत्तेण॥ (3/38)

अज्ञानी जिन कर्मों को सहस्र कोटि भवों में खपाता है, उन्हीं कर्मों को ज्ञानी (मन-वचन-काय) तीन गुप्तियों पूर्वक से उच्छ्वास मात्र में खपा देता है। धर्म भावना शतक में लिखा है-

प्रखर सूर्य से ग्रीष्म काल में धरती जितनी तप जाती।
उतनी ही फिर वर्षा होती, सब जीवों को सुख लाती॥
मोक्षमार्ग में रमते योगी, घोर तपश्चर्या करते।

महाशांति की वर्षा पा वे, तृप्ती का अनुभव करते ॥ 60 ॥

जैसे ग्रीष्म की तेज धूप में जितनी अधिक धरती तपती है उतनी ही वर्षा अधिक होती है, वैसे ही योगी आत्मध्यान में जितने अधिक तपते हैं उतनी ही उनके अन्दर महाशांति की वर्षा अधिक होती है। वे अपने अन्दर तृप्ति का अनुभव करते हैं। उत्तम तप को स्वीकार करने वाले पर को नहीं देखते हैं यदि पर की तरफ थोड़ा सा भी विकल्प चला जाता है तो वे मार्ग में ही रह जाते हैं। एक प्रसंग उन महान योगियों के जीवन का है जिससे हम अपने जीवन को दिशा दे सकते हैं। वे ऐसे महान आत्मा थे जिन्होंने अपने धर्म को किसी भी परिस्थिति में नहीं छोड़ा।

प्रसंग पांचों पाण्डवों का है जिन्होंने संसार की असारता को जानकर, संसार को स्वार्थी जानकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की थी और फिर आत्मध्यान में लीन हो गये। साधना की गहराई में प्रवेश करने के लिए एक पर्वत पर पाँचों भाई साधनारत थे। शत्रुओं ने सोचा आज अच्छा मौका मिल गया है, हम इनके शरीर को सजाते हैं। उन्होंने तपाये हुए लोहे के आभूषण दहकते उनके हाथ-पैर गले में पहना दिये। तपते हुए आभरण लाल-लाल जैसे ही उन्हें पहनाये तो उनका शरीर जलने लगा पर वे अपनी तपस्या में समतापूर्वक लीन होकर शरीर और आत्मा की भिन्नता का साक्षात्कार कर रहे थे। आत्मध्यान करते-करते उनके ज्ञानावरणादि अष्टकर्म जलने लगे। तीनों भाई युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन ऐसे आत्मध्यान में लीन हुए कि उन्हें किसी प्रकार का कोई विकल्प नहीं आया भीषण उपसर्ग को समताभाव से सहन कर मुक्त हो गये। पर नकुल और सहदेव के मन में विचार उत्पन्न हो गया कि हे भगवान! उन तीनों मुनिराजों का क्या होता होगा, इस भीषण उपसर्ग को कैसे सहन कर रहे होगें वे? भाई हैं यह मोह तो उनका छूट गया था परन्तु यह विचार-भाव रहा कि उन मुनिराजों का क्या होता होगा? हम तो सहन कर रहे हैं, बस इतना ही था उनकी तपस्या में बट्टा लग गया। अपनी आत्मा की ओर से ध्यान छूट कर पर की ओर चला गया। मुनिराजों की ओर ही गया सेवा की भावना, थोड़ी सी चिन्ता, विकल्प कहो, यह होने मात्र से मिलता हुआ मोक्ष भी देवगति तक सीमित रह गया। भाई की याद आ जाती तो मोह आ जाता फिर वह नवग्रवैयक से ऊपर नहीं जा पाते। परन्तु मुनिराजों का क्या होता होगा? यह भाव अच्छा व सेवा का था लेकिन दृष्टि पर की ओर चली गयी और उसी समय उनकी काया छूट गयी, पर की चिन्ता ने पूर्ण निर्जरा की साधना को नहीं करने दिया इसलिए मुक्ति नहीं हो पायी

सर्वार्थसिद्धि में तैतीस सागर के लिए फंस गये। तप साधना के मार्ग में थोड़ा सा मन बस; पर की ओर गया, चिन्ता-विकल्प जागा और संसार बढ़ गया। सर्वार्थसिद्धि से आकर यह निश्चित है कि एक भव में मोक्ष हो जायेगा।

आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान को जानते हुए जो तप किया जाता है वही तप सार्थक होता है तथा मोक्ष प्राप्ति में सहायक बनता है। जिनको शरीर और आत्मा का भेद-विज्ञान नहीं है उनका तप करना निष्फल है तथा इस भेद-विज्ञान से शून्य व्यक्ति का तप मोक्ष का साधन भी नहीं बन सकता है। आचार्यों ने कहा है- त्रिगुप्ति के अभाव में परिग्रह त्याग पुण्य प्राप्ति के कारण हैं। जहाँ त्रिगुप्ति है वहाँ कर्म निर्जरा है। स्वरूपाचरण क्या है? आचार्य कहते हैं कि जहाँ कर्मों का सांप्रायिक आस्रव रुक गया, वहीं स्वरूपाचरण चारित्र प्रारम्भ हो गया। द्वादस तप पूर्वक दसवें गुणस्थान के ऊपर प्रकट होने वाले दर्शन-ज्ञान-चारित्र को स्वरूपाचरण कहा है।

मानव की इच्छाएँ ध्यानादिक रूपी तप में बाधक मानी गयी हैं और यह भी सत्य है कि संसार में इच्छाओं का कोई अन्त नहीं होता। तप इन इच्छाओं पर कंट्रोल करने में सहायक है। बिना कंट्रोल के यह जीवन ऐसा ही है जैसे बिना ब्रेक के गाड़ी बड़ी खतरनाक होती है। स्वयं के लिए तो खतरा होता ही है, दूसरों के लिए भी ये विकल्प संकट में डाल सकते हैं, दुःख दे सकते हैं, तकलीफ पहुँचा सकते हैं। इसलिए आचार्यों ने कहा है- ''**इच्छाः निरोधो तपः**'' इन्द्रियों का दमन करना और इच्छाओं का निरोध करना तप है। इन बारह तपों में इच्छाओं का निरोध आया है कि नहीं? सभी में इच्छाओं पर कंट्रोल है।

''**तपसा निर्जरा च**'' कहते हैं अर्थात्-तप से निर्जरा भी होती है और कर्मों का संवर भी होता है, अशुभ कर्मों का आना रुकता भी है। यह बहुत बड़ा लाभ है। तप मुनियों और श्रावकों दोनों के लिए हैं। मुनियों के लिए तप के विषय में कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में कहा गया है कि-

इह-पर-लोय सुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि सम-भावो।
विविहं काय-किलेसं तव-धम्मो णिम्मलो तस्स॥ 400॥

जो समभावी इस लोक और पर लोक के सुख की अपेक्षा न करके अनेक प्रकार का कायक्लेश करता है, उसके निर्मल तप धर्म होता है। तप धर्म को प्राप्त करने के लिए

मुनि शीत ऋतु में नदी के किनारे, ग्रीष्म ऋतु में पर्वत की चोटी या पहाड़ी पर, वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे भी तप करते हैं। इसी प्रकार सद्गृहस्थ व श्रावकों के लिये पद्मनंदि पंचविंशतिका ग्रंथ में कहते हैं कि -

पर्वस्वथ यथाशक्ति भुक्ति त्यागादिकं तपः।
वस्त्र पूतं पिवेत्तोयं रात्रि भोजन वर्जनम्॥ 421॥

पर्व के दिनों में श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार भोजन के परित्याग आदि रूप जिसे अनशन कहते हैं तपों को करना चाहिए। इसके साथ ही उन्हें रात्रि भोजन छोड़कर वस्त्र से छना हुआ जल पीना चाहिए। तप वह निर्मल धर्म है जो विषयों की कांक्षा नहीं करता है। तप के विषय में कुरल काव्य में कहा है-

सर्वेषामेव जीवानां हिंसाया विरतिस्तथा।
शान्त्या हि सर्व दुःखानां सहनं तप इष्यते॥ (27/1)

सभी जीवों में अच्छा करुणा का भाव रखना, हिंसा का त्याग करना, और शांति के साथ सभी दुःखों को सहना तप कहा है। धर्मभावना शतक में लिखा है-

तप रूपी भट्टी में ज्यों ही, आत्मरूप सोना डालो।
ध्यान रूप अग्नि से उसका, कर्म मैल वह धो डालो॥
नहीं रहेगा मैल वहाँ पर, शुद्ध पूर्ण बन जायेगा।
उत्तम तप ये तपकर प्राणी, नहीं जगत में आयेगा॥ 67॥
जैसे दूध तपे फिर उसमें, जामन भी डाला जाता।
भिन्न-भिन्न हो दही बने फिर, मथा भी उसको तब जाता।
मथने पर वह दही जहाँ नव-नीत अवस्था पाता है।
जब नवनीत आग में तपता, शुद्ध अवस्था पाता है।
वैसे ही वह योगी देखो, तप से भेदज्ञान पाता।
व्यवहारी से निश्चय में जा, अर्हत् , सिद्ध फिर बन जाता॥66॥

जैसे स्वर्ण अग्नि द्वारा तपाये जाने पर भी अपने स्वर्णपने को नहीं छोड़ता अपितु उसमें और अधिक निखार आ जाता है। धर्मात्मा को ध्यानरूपी अग्नि में स्वर्ण जैसा शुद्ध बनने के लिए राग-द्वेष-कषायों और पाप रूपी किट्टकालिमाओं से विलग होकर आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए दुग्ध से घृत तक की यात्रा सदृश

अपने जीवन में प्रक्रिया करनी पड़ती है।

जैसे दूध को पहिले अग्नि पर तपाया जाता है फिर उसमें जामन डाला जाता है, तब कहीं वह दही बनकर भिन्न-भिन्न नजर आता है, थक्का-थक्का दिखने लगता है। इसके बाद उसे दो रस्सियों की मथानी से मथा जाता है, तब कहीं उससे नवनीत आता है और उस नवनीत को भी अग्नि पर तपाते हैं तब वह घृत बन जाता है, यह इसकी परमशुद्ध अवस्था होती है। फिर वह घृत कभी लौटकर दुग्ध नहीं बनता। बस इसी प्रकार आत्मा को पहिले तप की अग्नि में तपाकर उसमें त्याग का जामन डालते हैं और शरीर तथा आत्मा को भिन्न-भिन्न समझने रूप भेद-विज्ञान प्राप्त कर निश्चय, व्यवहार रूपी रस्सियों से सहित प्रथम दो शुक्ल ध्यानों पृथक्त्ववितर्क वीचार तथा एकत्ववितर्क अवीचार रूपी मथानी से मथकर नवनीत जैसी अर्हन्त अवस्था को प्राप्त किया जाता है। इस अवस्था में पाप कर्म तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु पुण्य कर्म अभी भी शेष रह जाते हैं। परम शुद्ध बनने के लिए अंतिम शुक्ल ध्यानों सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृति रूपी अग्नि में आत्मा को तपाकर अघाती कर्मों को भी नष्ट कर घृत जैसी परम शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर संसारी अवस्था से मुक्ति या मोक्ष अवस्था प्राप्त कर वह आत्मा सिद्ध बन जाती है। यह तप की महिमा है। धर्मभावना शतक में लिखा है-

कर्मों का क्षय करने योगी, तप जीवन में लाते हैं।
दर्शन ज्ञान तपों से निर्मल, बनते सुखद सुहाते हैं॥
नहीं रखें जो भव सुख वाञ्छा, पद की आशा नहीं जहाँ।
जगत् प्रशंसित तप है जिसका, शिव मिलता है शीघ्र जहाँ॥ 59॥

उत्तम त्याग धर्म

राग से दुःख; त्याग में सुख

मङ्गलाचरण

जिसने राग-द्वेष कामादिक, जीते सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया ।।
बुद्ध वीर जिन हरि हर ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति भाव से प्रेरित हो यह, चित्त उसी में लीन रहो ।।

सद्धर्म बन्धुओं,

पर्वराज पर्यूषण पर्व की पावन बेला में अभी तक आत्मा को परमात्मा बनाने के उद्देश्य से, सुख और शांति को प्राप्त करने के उद्देश्य से धर्म के दश लक्षणों में से क्षमा से लेकर उत्तम तप तक के सोपानों को क्रम-क्रम से जाना। चारों कषायों की शमित करने के बाद सत्य का प्रकाश जीवन में आता है। सत्य के प्रभाव से संयम की प्राप्ति होती है। इच्छाओं के निरोध के लिए तप किया जाता है। तप की भावना से ही त्याग धर्म की जाग्रति होती है। त्याग के बल से अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है। अपनी आत्मा का ध्यान करना सहज हो जाता है। बिना किसी विकल्प, बिना किसी चिन्ता के सुलभ रूप से अपनी आत्मा का ध्यान कर सकते हैं। आत्मा के ध्यान में बाधक परिग्रह होता है। सांसारिक वस्तुओं से मुक्त होना या पर पदार्थों से मोह छोड़ना त्याग धर्म कहलाता है। इसलिए साधु परिग्रह से मुक्त होते हैं, वे चिन्ताओं विकल्पों से दूर होना चाहते हैं। राजवार्तिक में आचार्य अकलंक देव कहते हैं कि -

परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते 9/6

जो परिग्रह चेतन अचेतन रूप है इनका त्याग करना ही उत्तम त्याग धर्म है। चेतन-अचेतन सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करके वे अपनी आत्मा की ओर आ जाते हैं। पाप और संसार को बढ़ाने वाली समस्त वस्तुओं को छोड़ने के उपरान्त भी साधु लोग जो अन्य संयमीजनों को जो ज्ञानादिक का दान देते हैं वह उनका त्याग धर्म है। अप्राप्त भोगों की इच्छा न करना तथा प्राप्त भोगों से विमुख हो जाना त्याग है। आप

परिग्रह से बहुत संबंध रखेंगे और आंख मीच कर भी बैठ जायेंगे तो मन आत्म ध्यान में नहीं टिकने वाला, मन तो नियम से बाहर की ओर दौड़ेगा और आपको शांति का अनुभव नहीं हो पायेगा। अगर शांति का अनुभव करना है तो त्याग धर्म से जुड़ना पड़ेगा। त्याग से शांति है। **ज्ञानात्-त्यागः, त्यागात् शांतिः** । अर्थात् ज्ञानपूर्वक किया हुआ त्याग ही त्याग कहलाता है, उसी त्याग से शांति मिलती है। त्याग से अवगुण समूह पराजित होते हैं, निर्मल कीर्ति की वृद्धि होती है, त्याग से शत्रु भी चरणों में प्रणाम करते हैं। त्याग से दुष्ट विकल्पों का नाश होता है और राग में दुःख है। राग संसार का कारण है और त्याग मोक्ष का कारण है। त्याग शील व्यक्ति यदि है तो वह मोक्षमार्गी है और यदि रागी व्यक्ति है तो वह संसार मार्गी कहलाता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि राग त्याग से विपरीत है और वह कर्म बंध का कारण है। आचार्य पुण्यपाप अधिकार के अन्तर्गत समयसार ग्रंथ में लिखते हैं -

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग संपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ 150॥

इसका चिन्तन हम लोग बार-बार करते हैं और हरेक पल करना चाहिए कि राग जो करता है वह रागी है, रागी कर्मों को बांधता है और वैरागी कर्मों से मुक्त होता है ये जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है। पंचेन्द्रिय के विषयों में, परिग्रह में राग से मुक्त हों यही भगवान का उपदेश है। इस प्रकार हम लोग धीरे-धीरे ज्यों ही अपनी आत्मा की ओर जायेंगे तो नियम से शांति और सुख को पायेंगे।

त्याग वास्तव में कब से शुरू होता है। निर्वेग भावना हमारे अन्दर आना चाहिए। संसार के विषयों से अरुचि भाव पैदा होना चाहिए। बाहर में रुचि रहेगी तो अन्तर में रुचि नहीं रहेगी। अन्तस् से रुचि बढ़ेगी तो बाहर से रुचि घटेगी, इसलिए हम अन्तस् से संबंध जोड़ने के लिए, अन्तस् से रुचि बढ़ाने के लिए बाहर से संबंध तोड़ते हैं। एकदम संबंध नहीं टूटते हैं, समय लगेगा, लेकिन धीरे-धीरे प्रयास करते हुए सफलता को प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि हमने ही जोड़ा है, हम ही तोड़ देंगे तो सुखी रहेंगे, वो टूटेगा तो दुःख होगा। स्वयं किसी वस्तु का त्याग करते हैं, आनन्द होता है और अगर कोई वस्तु चोरी चली जाय या कहीं छूट जाय तो दुःख होता है?

हमने संबंध छोड़ा नहीं था वह अनायास ही छूट गया तो दु:ख होता है और यदि त्याग कर दिया तो प्रसन्नता, आनन्द होता है। अतएव हम स्वयं ही सुखी और दुखी होते हैं। बस अपने भावों का खेल है। जैसा हम भाव करेंगे, वैसा ही सुख या दु:ख पायेंगे। सुख-दु:ख कहीं बाहर से नहीं आता है, अपने भावों के द्वारा ही सुख-दु:ख रूप अपना जीवन कर लेते हैं। बारसाणुवेक्खा ग्रंथ में आचार्य कुन्द-कुंद स्वामी ने त्याग धर्म के विषय में कहा है-

णिव्वेगतियं भावइ, मोह चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो, इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥ 78 ॥

जो मुनि सम्पूर्ण पर द्रव्यों में मोह का त्याग करके तीन प्रकार के निर्वेग संसार-शरीर और भोगों से निर्विण्ण-वैरागी होकर उन संसार के विषयों के प्रति उदासीन होता है, उस रूप भावना भाता है, उस मुनि के, उस योगी के त्याग धर्म होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। वास्तव में जो साधु हैं वे अपने जीवन में उत्तम त्याग को प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण परद्रव्यों से मोह को छोड़कर के संसार-शरीर तथा भोगों से विरक्त हो जाते हैं। संसार से मोह नहीं करते, ये हमारे भाई बंधु हैं, ये हमारा परिवार है आदि कभी नहीं सोचते, उसे याद भी नहीं करते हैं। ये सब तो अनन्त बार मिला है और छूट गया है। पर में मोह करते-करते हम अपने धर्म को भूलते आये हैं। अपने धर्म की प्राप्ति तभी होगी जब हम मोह हटा देंगे। क्योंकि त्याग में मोही परिजन जन सदैव बाधक बनते हैं, उन्हें मोह रहता है, कोई न कोई स्वार्थ रहता है, इसीलिए वे सदैव रोकते रहते हैं कि ऐसा त्याग मत करो, यह बहुत अधिक हो रहा है इसे मत करो इससे अधिक और मत कर लेना आदि। इसी प्रकार शरीर से भी मोह छोड़ना पड़ता है; शरीर को कितना भी नहलाओ, धुलाओं, सजाओ तो भी वह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता उससे तो कई प्रकार के गंदे पदार्थ निकलते रहते हैं, इससे भी मोह छोड़ना चाहिए। मतलब कुछ काल के लिए आप मोह छोडेंगे तभी ध्यान में उतर पायेंगे। ध्यान तो आत्मा का होता है, पर पदार्थों का नहीं। यदि पर पदार्थों का ध्यान कोई रागपूर्वक करते हैं तो वह सब दुर्ध्यान के अन्तर्गत आ जाता है। अपनी आत्मा में उतरने के लिए पर पदार्थों से अरुचि करना आवश्यक है। वह किस प्रकार होगी? इसके लिए हमें उनके स्वरूप को जानना होगा।

संसार का स्वरूप कैसा है? तो भइया जान लो संसार स्वार्थी है। शरीर का

स्वरूप कैसा है? इसको चाहे कितना अच्छा रखो व्यवस्थित करो तो भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है। यह शरीर दुर्गन्ध, घिनौना, गन्दे मल से भरा हुआ अचेतन, मूर्तिक है तथा इसका स्वभाव सड़ना, गलना, पड़ना, मिलना, बिछुड़ना है। चर्ममय अनित्य नाशवान है। यह शरीर अस्थिर स्वभाव वाला है। इसके स्वरूप को जानकर ज्ञानी जनों को इससे आशक्ति हटा लेनी चाहिए। क्योंकि स्वभाव से ही यह दुख तथा दोषमय है एवं मोक्ष सुख में बाधक है। शरीर से रागभाव रखकर कोई सच्चे सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है। इसी प्रकार भोग कैसे हैं? भोग भी नश्वर हैं, वे कोई शाश्वत रहने वाले नहीं है। एक दिन उनमें भी परिवर्तन हो जाता है। इन सबसे हम लोग विराम पा करके अपनी आत्मा की ओर आ जायेंगे, अब मन बाहर नहीं जायेगा। बस यही तो ध्यान है और ध्यान करने के लिए बाहर से संबंध तोड़कर के अन्तस् की ओर झांकना पड़ता है।

जितने भी पर पदार्थ इस लोक में अपने संयोग को प्राप्त होते हैं वे सभी एक न एक दिन वियोग को अवश्य प्राप्त होते हैं और बिना त्यागे वे पदार्थ छूटते हैं तो मानव को अति दु:ख का अनुभव होता है लेकिन जब उन्हीं पदार्थों को बुद्धिपूर्वक उत्साह के साथ छोड़ा जाता है। तब बड़े आनन्द की अनुभूति होती है और इसी तरह का त्याग मोक्षमार्ग का बड़ा कार्यकारी माना है। ध्यान रखने की बात यह है कि जो त्याग किया जाता है संयोग से प्राप्त पर वस्तुओं का ही किया जाता है। अपनी आत्मा के अतिरिक्त जितने भी शरीर, गृह, परिजन आदि दिखते हैं वे सब पर पदार्थ हैं और अपनी आत्मा के ज्ञान-दर्शन आदि गुण का नाश या अभाव नहीं होता बल्कि पर वस्तुओं के त्याग से आत्मा के गुण बड़ी विशुद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं। धर्म भावना शतक में लिखा है कि -

जितने भी पर पदार्थ सारे, इक दिन छूटें हम सबसे।
क्योंकि वे सब संयोगी हैं, अत: वियोगी हों हमसे।।
ऐसे संयोगी को तजते, पर का ही वह त्याग रहा।
नहीं हमारे गुण वे छूटें, न उनका है त्याग रहा ।। 68।।

वस्तुत: त्याग धर्म साधुओं का है, जिसमें वह अपनी आत्मा से भिन्न पर भावों को पर जानते हैं और उन्हे ग्रहण नहीं करते, यही उनका त्याग धर्म है। आगम ग्रंथों में आचार्यों ने त्याग धर्म की दो प्रकार की व्याख्या की है। साधुओं की अपेक्षा

से परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहा है तथा गृहस्थों की अपेक्षा से त्याग का अर्थ दान लिया है। साधु सर्वस्व के त्यागी होते हैं वे अपरिग्रही जीवन जीते हैं। गृहस्थ के लिए चूंकि सर्वस्व का त्याग कर पाना सम्भव नहीं होता है इसलिए उसको अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार दान देने की प्रेरणा दी है। क्योंकि जो अन्याय, अनीति, बेईमानी से गृहस्थ धन संचय करता है; जैसे कि सरिता का जल बहता है और धीमे बहाव के कारण नीचे का कीचड़ दबा रहता है और तीव्र वर्षात् में वह बह जाता है, उसी तरह धन को सत्कार्यों में लगाते ही रहने से उसको एकत्रित करते समय जो पाप रूपी कीचड़ संग्रहीत हुआ था वह बह जाता है।

आत्म स्वभाव की प्राप्ति में त्याग अत्यन्त आवश्यक है। त्याग का अर्थ-विकारी भावों का परित्याग करना है। जिन बाह्य कारणों से आत्मा में विकार पैदा हो रहा है, उन सबका परित्याग करना है। इसमें वस्तु के त्याग के साथ उसके प्रति ममत्व भाव का भी त्याग आवश्यक है क्योंकि वस्तुओं को छोड़ते समय मन में दुःख न हो। यद्यपि दुःख वस्तु के रहने या न रहने से नहीं आता बल्कि उसके प्रति हमारा जो ममत्व भाव होता है वही कारण होता है दुःख का। वास्तव में सच्चा त्याग कषायों के त्याग को कहा जाता है। ज्ञानी जन विषय राग कषायों से डरते हैं त्याग से नहीं और अज्ञानीजन राग का आवरण बनाते हैं वे त्याग से डरते हैं। अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग कर आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं तो वह उत्कृष्ट त्याग है। त्याग अमृत तत्त्व को प्राप्त कराने में सहायक है। परिग्रह दुःख का कारण है।

शांति सुख कहाँ है? हम इसके पाने के लिए पुरुषार्थ करें, पर हम जहाँ उन्हें ढूढ़ रहे हैं, वे क्या वहाँ पर हैं या अन्य और जगह हैं। अभी तक मिला तो नहीं। तो भइया सोचो वे वहाँ नहीं हैं। कहाँ ढूढ़ना है अपने लिए ? इसके बारे में एक दृष्टांत बतलाता हूँ।

एक बार की बात है। एक वृद्ध अम्मा विचार करती है कि चलो बहुत दिनों से एक वस्तु की आवश्यकता बार-बार होती है आज उस वस्तु को खरीद कर ले ही आते हैं, और वह बाजार जाकर के दुकानदार से वह वस्तु ले आती है। वह वस्तु थी सुई, जो उसे कपड़े सिलने में जरूरत महसूस होती थी इसीलिए वह उसे लाती है। पर देखो जब वह उसे ला रही थी तो वह वस्तु रास्ते में ही हाथ से गिर जाती है। क्योंकि वह धागे के बिना थी अब वह उसे ढूंढ़ने में लग जाती है। बहुत

ढूंढ़ती है। चूंकि धूल थी अतः वह सुई उसमें ही गुम जाती है। फिर एक व्यक्ति वहाँ से जा रहा होता है। उस अम्मा को इधर-उधर परेशान सा देखते हुए पूछ बैठता है कि क्या कर रही हो अम्माँ? क्या कुछ गिर गया है जिसे यहाँ खोज रही हो? हाँ बेटा! मेरी एक सुई थी जो यहाँ गिर गयी है, उसे ही ढूंढ़ रही हूँ। वह व्यक्ति बोला यहाँ क्यों ढूंढ़ रही हो तुम, उजाले में ढूंढ़ो? उजाले में; उसके कहने पर वह अम्मा उजाले में चली जाती है, जहाँ पास में ट्यूबलाइट का खम्बा लगा था, वहाँ जाकर सोचती है कि उपाय बताने वाला पढ़ा-लिखा नौजवान था उसकी बात मान कर यहीं सुई ढूंढ़ती हूँ, शायद मिल जाये। वह वहाँ सुई ढूंढ़ने लगती है।

सुई ढूंढ़ते-ढूंढ़ते उसे बहुत समय हो जाता है। रात का समय है, अभी एक अन्य व्यक्ति आता है, वह भी उस अम्मा को देखता है। उसे देखकर वह भी चुप नहीं रह पाता है और पूछ ही बैठता है कि अम्माँ इतनी रात को यहाँ क्या कर रही हो? क्या कुछ ढूंढ रही हो? वह उससे कहती है हाँ बेटा! मेरी सुई गिर गयी है, उसे ही ढूंढ़ रही हूँ। बहुत समय हो गया, पर वह मिल ही नहीं रही है। अच्छा यह तो बताओ आखिर सुई गिरी कहाँ थी? वह अम्मा बोली सुई तो वहाँ गिरी थी बेटा, हम उसे पहले वही ढूंढ़ रहे थे। अरे! जहाँ गिरी है सुई, उसे वहीं ढूढ़ो अम्माँ, यहाँ क्यों ढूंढ़ रही हो? वह बोली बेटा तुम जैसा ही पढ़ा-लिखा नौजवान व्यक्ति आया था और कहने लगा उजाले में ढूंढ़ो, सो बेटा हम यहाँ उजाले में ढूंढ़ रहे हैं। वह व्यक्ति वस्तु स्थिति को समझ गया और बोला नहीं अम्माँ। यह कहा होगा कि जहाँ गिरी है वहाँ उजाला लाके ढूंढ़ो। अम्मा बोली नहीं बेटा; उसने तो यही कहा था कि उजाले में ढूंढ़ो, सो मैं यहाँ उजाला देखकर ही ढूंढ़ रही हूँ। वह व्यक्ति बोला कि नहीं अम्माँ; ऐसा अभिप्राय मत लो जहाँ गिरी है वही ढूँढ़ोगी उजाला प्रकाश लाकर तो ही सुई मिलेगी, अन्यत्र तो वह कभी भी नहीं मिलने वाली चाहे कितने ही समय तक क्यों न उसे ढूंढ़ो, उसके कहने का अर्थ यही था कि यहाँ अन्धेरा है उजाला लाकर सूई ढूंढ़ो। अम्मा की समझ में बात आ गयी और जहाँ सुई गिरी थी वहाँ उसने उजाला लाकर देखा तो वह उसे मिल गयी।

भइया देखो हम भी उसी बूढ़ी अम्माँ की तरह सुख शांति जहाँ है उसे वहाँ नहीं ढूंढ़ रहे हैं, किसी संत महात्मा ने दिशा भी दी है तो उनके कहने के अर्थ को नहीं समझा और अम्माँ की तरह जहाँ उजाला है विषय भोगों का उसमें ढूंढ़ रहे हैं।

बस ऐसा ही अनादि काल से हो रहा है। जहाँ पर सुख-शांति है, उसे वहाँ न ढूंढ़ करके, जहाँ नहीं है, उनमें ढूंढ़ रहे हैं और हमारा एक जीवन नहीं, ऐसे ही अनन्तों जीवन चले जा रहे हैं। आचार्य भगवंत कहते हैं कि अपने अन्तस् में सुख शांति है, अन्तस् में ढूंढ़ो। कैसे ढूंढ़ना है? 'सम्यग्ज्ञान' जो श्रेष्ठ ज्ञान है उस रूपी प्रकाश में अपने अन्तस् में ढूंढ़ो, बाहर में नहीं। बाहर में कितनी भी मरकरी या हेलोजन क्यों न लगाओ मिलने वाली नहीं। जहाँ गुम गयी, गिरी है, वहीं मिलेगी। इन आंखों से नहीं मिलेगी अन्तस् की आँखें खोलना पड़ेंगी। ज्ञान की आँखें खोलो और वहाँ पर ढूंढ़ो तब वहाँ सुख शांति मिलेगी।

मृग को देखा आपने। मृग की नाभि में कस्तूरी होती है, वह बहुत सुगंधित होती है। उसकी सुगंध मृग को आती रहती है और वह सोचता है कि कस्तूरी और कहीं है। उस सुगंध को पाने की चाहत में वह ढूढ़ता-फिरता बहुत दूर तक चला जाता है, लेकिन उसे प्राप्त नहीं होती है। कहते भी हैं-

निज नाभि में गंध है, मृग ढूँढ़े चहुँ ओर।

अपने पास ही है लेकिन उसे मालूम ही नहीं है, इतना ज्ञान ही नहीं है उसके पास। इस कारण से वह चारों ओर दौड़ भाग करता रहता है, आखिर में अपने प्राण भी खो देता है, परन्तु उसे वह कस्तूरी की सुगंध नहीं मिल पाती है। जहाँ थी, वहाँ उसने नहीं ढूंढ़ा तो उसे वह कैसे प्राप्त होती ऐसे ही सुख संसार की हरेक चीज में वस्तु में ढूंढ़ रहे हैं, लेकिन वहाँ है ही नहीं तो कैसे मिले, जहाँ है आत्मा में, वहाँ ध्यान लगाकर आज तक देखा नहीं। अन्तस् के नेत्र खोले ही नहीं, बाहर में ही देखते रहे कि अच्छी बिल्डिंग बना लो, अच्छी कार लेकर आयेंगे, अच्छी दुकान खोल लो, अच्छे भोग भोग लो, अच्छे पकवान खा लो लेकिन इनमें सुख है ही नहीं भइया। अगर सुख होता तो तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदि क्यों छोड़ते उनके पास तो कितना वैभव था? उनके सामने तुम्हारा वैभव तो कुछ भी नहीं है? उन्होंने जब सब कुछ छोड़ दिया था, उन्हें इनमें सुख नहीं मिला, आज के मानव को कैसे मिलेगा ? इस बात को हम जाने। यह तो मृग मरीचिका की तरह है। मृग मरीचिका में दिखता है सामने जल है, कितना अच्छा जल दिख रहा है, चलो आगे परन्तु उसे जल मिलता ही नहीं है। आगे जल दिखता है, जहाँ भी जाता है, वहीं दूर से जल दिखता है, अन्तोगत्वा वहाँ जल है ही नहीं। मृग प्यासा ही मर जाता है। ऐसी ही है मृग

मरीचिका, वह समझ ही नहीं पाता कि यहाँ जल है ही नहीं। नीचे से गर्मी के समय रेगिस्तान में लपट सी निकलती है धूप से, तो ऐसा लगता है कि जल भरा है। वैसे ही संसारी प्राणी सोचते हैं कि चलो कोई बात नहीं अभी परिग्रह थोड़ा है और थोड़ा बढ़ा लेंगे तो मिल जायेगा। थोड़ा-थोड़ा की चाहत में जीवन बीत जाता है लेकिन वह मिल नहीं पाता है क्योंकि वहाँ है ही नहीं; ये तो भ्रम है। अगर सुख होता तो बड़े-बड़े महापुरुषों आदि को मिल जाता, पर इस संसार में सुख है ही नहीं सो नहीं मिला, इसीलिए तो उन्होंने त्याग किया। मुनि बनकर आत्मा का ध्यान किया और मुक्ति को पाया है। हम समझें इस बात को कि त्याग के माध्यम से मुक्ति को पा सकते हैं और कहीं इस संसार में हमें सुख नहीं मिलने वाला। राग में सुख नहीं है, त्याग में सुख है।

त्याग करने के लिए कितना पुरुषार्थ करना पड़ता है, मोह की जंजीरों को तोड़ने के लिए संसार, शरीर, भोगों से वैरागी बनना पड़ता है। तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के कुछ वर्षों बाद की बात है। मगध देश के राजगृह नगर में अर्हद्दास नामक बहुत बड़े सेठ रहते थे। उनके पास राजाओं जैसा अपार वैभव था। धन-सम्पदा से युक्त खजाना अनेक रत्न मोतियों आदि से सदा भरा रहता था। अर्हद्दास सेठ की जिनमती सेठानी रूप लावण्य संयुक्त पतिव्रता थी। दोनों सेठ सेठानी जैन धर्म के संपालक और धर्मनिष्ठ श्रावक थे। इनके गृह में एक सौम्य सुन्दर पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ। क्रम-क्रम से वह अच्छा संस्कारित होता हुआ समस्त विद्याओं की शिक्षा प्राप्त कर युवावस्था को प्राप्त हुआ। वह कामदेव के समान सुन्दर रूप का धारक था, मिष्टभाषी, भद्र, दयालु और वैराग्य प्रिय था। माता-पिता के द्वारा युवा पुत्र को संस्कार बहुत उत्कृष्ट तो दिये ही गये थे।

एक बार उस युवा पुत्र को ऐसा संयोग मिला कि उसी नगर में वैसे तो अनेकों यतिवर पधारते थे पर उस समय सुधर्म स्वामी गणधर विपुलाचल पर्वत पर पधारे थे। युवा पुत्र ने भी गणधर मुनि के आने का समाचार सुना और वह उनके दर्शनों का लाभ लेने के लिए उत्सुक हुआ। वह विपुलाचल पर्वत पर उनके समीप गया और नमोस्तु कर थोड़ी देर एकटक दृष्टि से उनकी और देखता रहा। उनके प्रति उसका आकर्षण बढ़ रहा था, उनकी वाणी को सुन करके वह बहुत प्रभावित हुआ और प्रतिदिन वह उनके पास जाने लगा, वहाँ उनके समीप जाकर अपनी जिज्ञासाएं

पूछने लगा जिनका समाधान पाकर उसे आत्मिक शांति मिली साथ ही संसार की असारता का भी ज्ञान हुआ।

देह भोगों से उस युवा के मन में धीरे-धीरे विरक्तता का भाव आने लगा, वह चिन्तन करने लगा कि संसार में क्या रखा है? अनादिकाल से यह सब भोग भोग रहे हैं, कुछ भी नया नहीं है, ये तो बार-बार भोग करके जूठन के समान छोड़े हुए हैं, इनमें कहीं भी कोई सुख नहीं मिलने वाला है। इस संसार में तरह-तरह के दुःख हैं। कभी कोई रोगों से दुःखी है, तो कोई परिवार से दुःखी है, कोई धन से दुःखी है, कोई मन से दुःखी है, कोई शरीर से दुःखी है, और भी कई कारणों से लोग दुःखी होते रहते हैं, कोई भी सुखी नजर नहीं आता है। वास्तव में सुखी कौन हैं? तो जिन्होंने अपने पास कुछ भी नहीं रखा, सब कुछ छोड़ दिया। वे आत्मिक ध्यान में लवलीन रहते हैं। जंगलों, पर्वतों, गुफाओं में रहकर ध्यान करते हैं और कभी नगर में भी आते हैं, सबको धर्ममार्ग का उपदेश देते हैं। उनके मुख पर सदैव चन्द्रमा की भांति शीतल शांति छायी रहती है। कभी कोई थोड़ा सा भी टेंशन, किसी भी प्रकार का कोई विकल्प नहीं। ऐसा सुख हमें कब मिलेगा? जब हम उन जैसे बनेंगे, तब उन जैसा सुख मिल सकता है, नहीं तो कभी नहीं मिल सकता। इस रूप को ग्रहण करने में सुख मिलेगा और कहीं पर नहीं मिलेगा। इस प्रकार वह प्रतिदिन विचार-चिन्तन कर भावना भाता कि कब इन जैसे मुनिपद को धारण करूंगा? कब इन जैसे बन पाऊँगा? कब संसार के बंधन से छूट पाऊँगा? उसे यह संसार घर परिवार एक जेल/कारागृह जैसा प्रतीत होने लगा।

प्रतिदिन यह प्रयास करता कि माता-पिता का मोह तो छोड़ दिया अपने अन्तस् से लेकिन उनका मोह कैसे हमसे छूटेगा। वे रोयेंगे, दुःखी होयेंगे, कैसे उन्हें समझाने का प्रयास करूं, इसी चिन्तन में रहकर उदासीन रहने लगा। उसका घर में खाने-पीने में, न किसी भी तरह के विषयों में मन नहीं लग रहा था। जब भी समय मिलता आँखों को बंद कर चिन्तन में लीन हो जाता है, माता-पिता उसे इस प्रकार देखते हैं और आपस में विचार करते हैं कि कुछ न कुछ तो बेटे को हुआ है। क्या कोई चिन्ता सता रही है या और कोई बात है। उसके आचार-व्यवहार से लगता है कि उसे कहीं वैराग्य तो जाग्रत नहीं हो रहा है। वह अधिक बोलता भी नहीं है, भोगों में भी कोई रुचि नहीं है, क्या हो गया कुछ भी मालूम नहीं। ऐसा न हो कि

कहीं हमे छोड़कर चला जाये। एक ही तो पुत्र है हमारा क्या होगा? उसे कैसे भी हो, रोकना है।

माता-पिता दोनों एक दिन मन की बात पूछ ही लेते हैं कि बेटा! ऐसा लगता है कि तुम्हें संसार की असारता का चिन्तन हो रहा है, क्या तुम्हें यह संसार फीका-फीका लग रहा है। पुत्र कहता है हाँ माँ; हाँ पिताजी! ऐसा ही कुछ चिन्तन मन में चल रहा है लेकिन आप यह बतलाइये कि यह आपने कैसे समझ लिया। बस हम लोगों ने समझ लिया, हम लोग चाहते हैं तुम्हारी इस भावना की पूर्ति हो जाये। पुत्र ने कहा - अच्छा! बहुत अच्छा होगा, अगर आप हमारी इस भावना का समर्थन करते हैं तो क्या कहना। हम तो हमेशा यह विचार कर रहे थे कि आप लोगों को यह जानकर दुःख होगा इस कारण अपने मन की बात आप लोगों से नहीं कह रहा था, पर अब आप समझ ही गये हैं तो बहुत अच्छा है। अब हमें शीघ्र ही शीघ्र वह सौभाग्य मिले, जो आत्मिक शांति के मार्ग का उपाय मैं ढूंढ़ रहा हूँ वह मुझे प्राप्त हो जाये। अवश्य मिलेगा बेटा, इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं। बस तुम्हें एक ही काम करना है। हमने तुम्हें जन्म दिया, अच्छे संस्कार देकर पालन पोषण कर बड़ा किया। योग्य बनाया तुम्हें सब कुछ किया, पर अब तुम कम से कम हमारी एक बात मान लेना, फिर तुम्हें जिस मार्ग जाना है चले जाना हम बिल्कुल भी नहीं रोकेंगे। तुमने जो सोचा है वह मार्ग बहुत अच्छा है, हम भी चाहते हैं कि ऐसे मार्ग पर हम भी चल सकें लेकिन अभी तो एक बात मान लो। बोलो माँ कौन सी बात है? अवश्य मानेंगे, इसमें क्या बात है। आप हमारे मार्ग में बाधक नहीं बन रहे हैं तो आपकी इच्छा की पूर्ति अवश्य हो जायेगी हमें तो मोक्षमार्ग चाहिए। बस बेटा यह है कि तुम चले जाना पर विवाह करवा के चले जाना। विवाह करवा के चले जाना यह क्या बात है माँ? जाना ही है जब तो विवाह क्यों? विवाह करवायेंगे तो उनकी संभाल के लिए रहना जरूरी हो जायेगा, नहीं तो वे बहुत दुःखी होंगी, उनको छोड़कर जायेंगे तो उन्हें बहुत दुःख होगा। हम उनके दुःख से दूर रहना चाहते हैं इसलिए विवाह क्यों करें, क्यों संबंध बनाएं, क्योंकि 'संयोगतो दुःखमनेक भेदं' संयोग अनेक प्रकार के दुःखों को देता है। जिन वस्तुओं का वियोग निश्चित है, उनके संयोग से क्या लाभ है? पहले ही हम ये सब छोड़ना चाहते हैं, शादी-विवाह का फिर क्या प्रयोजन है। माँ कहती है-नहीं बेटा! इन सब की चिंता तुम मत करो।

हम लोग सब संभाल लेंगे, उनकी देखरेख अच्छी तरह से करेगें तुम्हें फिक्र करने की कोई बात नहीं है, तुम तो विवाह कर लो बस इतनी ही बात है।

माँ यह समझ नहीं पा रहा हूँ कि विवाह कराने से क्या होगा? ये संसार-सुख भोगना ही नहीं है क्योंकि इनको भोगते समय कर्मबंध होता है फिर यह आत्मा संसार में ही भ्रमण करती रहती है, हमें तो मोक्ष पाना है। इस संसार को नहीं अपनाना है, आप तो हमें अनुमति दें हम मोक्षमार्ग पर जायें और अगर आप कहते हैं कि विवाह कराना आवश्यक है, इसके उपरान्त चले जाना तो सुनो माँ! फिर मुझे कोई रोक नहीं सकता, इस बात को मैं मान सकता हूँ लेकिन इसके बाद कोई और दूसरी बात नहीं मान सकता हूँ। यह अंतिम ही होगी। माता-पिता दोनों सहमत हो जाते हैं और कहते हैं-ठीक है। दोनों ने मोह के द्वारा अपनी बात मनवा ली। विवाह की तैयारियाँ अब प्रारम्भ हो गयी।

यद्यपि उनका परिवार राजपरिवार सम वैभवशाली श्रेष्ठ था। सेठ का पुत्र बहुत रूपवान सुन्दर गुण सम्पन्न था, इसलिए अनेक राजा, सेठ साहुकार अपनी कन्याओं का विवाह करने के लिए इच्छुक थे। पहले के समय में अनेक कन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न करने की प्रथा थी। लोग शक्ति, वैभव से सम्पन्न थे। आज वह समय नहीं है, एक को ही संभालना बहुत कठिन है, अनेक को कैसे संभाल पायेंगे। अनेक शादियों को भी अच्छा नहीं माना जाता है। आज का वातावरण ऐसा है कि मानव की शक्ति भी धीरे-धीरे ह्रास होती जा रही है और वैभव से हीन होते जा रहे हैं। गुजारा बहुत कष्टमय हो रहा है। मानसिक अशांतियाँ भी बहुत बढ़ती जा रही हैं। काल के अनुसार ही लोगों को चलना चाहिए। आज के काल के हिसाब से एक पुरुष की दो पत्नियाँ हो तो उसे अच्छा नहीं मानते क्योंकि झगड़े की जड़ हो जाती है लेकिन चर्तुथकाल में महापुरुषों के समय में हजारों-हजारों रानियाँ रहती थीं। उतना त्याग भी अधिक कर देते थे। त्याग करना कठिन था, क्योंकि इतना वैभव होने के बाद ये सब छोड़ देना, त्याग कर देना, कोई सरल कार्य नहीं था। आज के समय में सरल है, पर लोग शक्ति से हीन हो गए हैं, मानसिक शक्ति कम होती जा रही है, शारीरिक संहनन कम होता जा रहा है। खैर ! वहाँ उस परिवार में राज परिवार जैसी विवाह की तैयारियाँ बड़े ही धूमधाम से होने लगी और चार-चार रूपवान सुशील गुण सम्पन्न कन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न हो गया। विवाह के पश्चात् नववधुएँ घर आ गयीं और महल में अपने शयन कक्ष में बैठी हुई हैं।

माता-पिता की इच्छा से बेटे ने विवाह तो किया, पर उसे रंच मात्र भी उससे प्रसन्नता न थी। शरीर पर मात्र आभरण ही थे, किसी से कोई लगाव, स्नेह, आकर्षण या प्रयोजन ही नहीं था। भोगों से किसी प्रकार का राग नहीं था। बस; रात्रि में बैठकर ध्यान में लीन हो जाते हैं। मन ही मन जाप करते हुए विचार उठता है कि हे प्रभु! कब सुबह होगी और हम इस संसार परिग्रह, घर परिवार से मुक्त होकर गुरु चरणों में दीक्षा धारण करेंगे। माता पिता को तो पहले ही कह दिया था उन्होंने अनुमति भी दी है। चारों नववधुएँ एकटक उन्हें देखती जा रही हैं। सोचती हैं क्या करें ये तो साधु जैसे बैठे हैं फिर वे चर्चा करती हैं। अनेक प्रश्नोत्तर, कथाएं, दृष्टांत दोनों ओर से होते हैं पर वे अनुराग वर्धक प्रभाव डालने में समर्थ नहीं हो पाती हैं। इसी बीच जंगल में रहने वाले चोरों के सरदार ने सुना कि अर्हद्दास के पुत्र का विवाह बड़े ठाठ-बाट से हो गया है, तो उन्होंने विचार किया कि चलो विवाह का शुभ अवसर है, अच्छा मौका मिला है, अपना भी काम हो जाएगा और वह 500 साथियों सहित चोरी करने आया। आप लोग जानते हैं क्या जंगलों में जो रहते हैं वे कौन-कौन होते हैं? एक तो वे रहते हैं जो मनुष्यों से डरते हैं बड़े-बड़े तिर्यंच आदि, एक वे रहते हैं जो पुलिस से डरते हैं चोर डाकू आदि और एक वे रहते हैं जो पापों से डरते हैं तथा अपनी आत्मा में लीन रहते हैं मुनि महाराज आदि। ये तीन प्रकार के प्राणी जंगलों में रहते हैं। अर्धरात्रि का समय है, चारों ओर अंधेरा है। सेठजी के भवन में रत्नों का प्रकाश चमक रहा था। ज्यों ही वे चोर सेठ जी के भवन में पहुँचे सभी को मालूम पड़ गया कि डाकू आ गये हैं लेकिन किसी में शक्ति नहीं थी कि वे कुछ करते। माता जिनमती को भी मालूम पड़ गया तो वह सोचने लगी ठीक है हम बात करते हैं बेटा तो सुबह जा रहा है इस वैभव का क्या करूंगी। यदि इस सम्पदा को इनको दे देती हूँ और ये बेटे को जाने से रोक देते हैं तो अच्छा है। माँ ने जाकर डाकूओं के सरदार को सारा वृतांत बतला दिया और कहा उसे जाने से जरूर रोक लें। सरदार सारी बात सुनकर बेटे के शयनकक्ष की ओर चला जाता है।

शयनकक्ष के बाहर खड़े होकर वह अन्दर का दृश्य देखता है कि राजकुमार जैसा नवयुवक और चार नववधुएँ बैठी हैं। नववधुएँ पूरे अलंकारों से सजी हैं और हाथ जोड़े प्रार्थना के स्वर में वार्ता कर रही हैं। सरदार छिपकर खड़ा हो गया और उनकी वार्ता सुनने लगा। उस वार्ता में उसे रस आने लगा और वह उन

बातों में तन्मय हो गया। बाहर से सरदार के साथियों की कुछ आहट हुई तो अन्दर से नवयुवक ने आवाज लगायी कि कौन है बाहर? बाहर से सरदार ने कहा मैं हूँ विद्युत (प्रभव) चोर। कुमार ने कहा आ जाओ दरवाजा खुला है। सरदार सहित सभी पांचसौ चोर अन्दर आ गये। जिन्हें देखकर वे चारों नववधुएँ भय से कांपने लगीं। कुमार ने उन सभी से कहा बैठ जाओ। ये सब लोग किसलिए आए हैं; आपको क्या चाहिए? सरदार ने कहा हम चोरी करने के लिए आये हैं, कितना धन चाहिए? जितना मिले उतना चाहिए। इस पर कुमार ने कहा-जो चाहिए, सब ले लो। ये खजाने खुले हैं जो जितना चाहिए वह ले लो। नववधुएँ यह सब सुनकर चिंता में डूब गयी। सबके सब आश्चर्य चकित होकर एक दूसरे को देखने लगे।

एक बात ध्यान रखना कभी कोई वस्तु कहीं पड़ी हो, और कोई देख नहीं रहा हो तो कोई व्यक्ति उसे शीघ्र उठा लेता है। लेकिन सब लोग यदि देख रहें हों तो उसे नहीं उठाते हैं वह यह नहीं जानता है कि यह भी एक चोरी है। किसी की रखी हुई वस्तु, पड़ी हुई वस्तु, भूली हुई वस्तु अपनी नहीं है और उसे उठा लेना यह चोरी हैं। सरदार ने देखा और सुना तो साथियों से कहा अभी रुक जाओ, थोड़ी देर बाद देखते हैं सभी के सामने कैसे उठाऊँ; कोई रहस्य तो नहीं है? कुमार से सरदार ने कहा कि हमें थोड़ी शंका है आप समाधान कीजिए कि आप यह वैभव-सम्पदा हम लोगों को ऐसे क्यों दे रहे हैं? कुमार ने कहा - मैं तो वैसे ही यह वैभव-सम्पदा सब कुछ छोड़कर जाने वाला हूँ, इसलिए तुमने कहा सो तुम्हें दे रहा हूँ। सरदार ने कहा अच्छा! तो आप यह सब छोड़कर कहाँ जाने वाले हैं? हम जंगल में जाने वाले हैं? दीक्षा धारण करेंगे। वहाँ कौन हैं? वहाँ हमारे गुरु हैं। दीक्षा धारण करके क्या करोगे? हम आत्म साधना से अपने कर्मों का नाश करेंगे। आपके पास कौन से कर्म हैं? कर्म तो हम लोग करते हैं, आप तो ऐसे कोई चोरी हिंसा आदि नहीं करते हैं फिर क्यों? नहीं भइया ऐसा नहीं है, अनादि काल से कर्मों को किया है, अनन्त काल हो गया, वे कर्म आत्मा में बैठे हैं, उन कर्मों को निकालने के लिए तपस्या करेंगे और कर्मों का क्षय करेंगे तब कहीं मोक्ष को पायेंगे। सरदार ने कहा वैभव को भोगने से क्या होता है? कुमार बोले वैभव को भोगने से पाप होता है। पाप से क्या होता है? पाप से दुर्गति होती है। दुर्गति में क्या होता है? दुर्गति में दुःख मिलते हैं। ठीक है। वैभव को भोगने से पाप होता है, पाप से दुर्गति होती है, दुर्गति में दुःख

होता है। पाप कर्म भोगते हैं तो उस समय अपनी आत्मा अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित हो जाती है। कुमार की वैराग्य भरी सौम्य दृष्टि और वार्ता का प्रभाव उन चोरों पर पड़ा। विद्युत-प्रभव सोचने लगा कि देखो इन्होंने तो ऐसा कोई पाप नहीं किया है, फिर भी ये सब छोड़ने वाले हैं। हमने तो न जाने कितनी हिंसा की है जीवन में, कितनों को लूटा है, न जाने कितने पाप जीवन भर किये हैं। इस जीवन में इतना किया है तो अनन्तकाल का तो कोई ठिकाना ही नहीं होगा। इन्होंने तो इस जीवन में ऐसा कुछ भी नहीं किया है, देवांगनाओं के सदृश अत्यन्त रूपवती नवयुवतियाँ जिनकी आज्ञा पालन के लिए तत्पर हैं, अपार धन वैभव है फिर भी किसी का कोई प्रभाव नहीं है। ऐसी विभूतियों को छोड़कर ये दीक्षा ले रहे हैं। कर्मों को काटने के लिए तत्पर हैं। हम लोगों ने तो जिन्दगी भर पाप कर्म किये और उसी के लिए यहाँ भी आये थे। धन्य है कुमार का जीवन, महान है, इनसे हम लोग शिक्षा ले लें। हमारे पास भी कोई कमी नहीं है, बस कमी यही है कि हम लोगों के जीवन में धर्म नहीं है। पापों का जो कर्जा ले लिया है, उसको चुकाने का विवेक नहीं है, अगर अभी भी संभल जाते हैं तो अपना जीवन भी धन्य हो सकता है। अगला जीवन भी अच्छा हो सकता है नहीं तो हमें कोई भी दुर्गति से बचाने वाला दिखाई नहीं देता है, दुर्गति में जाकर पाप कर्मों का फल नरक-निगोद के दुःख ही मिलेंगे। रात्रि का अन्तिम प्रहर है, सारी रात चिन्तन धारा और चर्चा चली। सरदार; कुमार को रोकने की कथा कहता है और कुमार वैराग्य की कथा कहकर उसे निरुत्तर कर देते हैं। अन्त में संसार वृक्ष की कथा कही। कुमार का दृढ़ निश्चय दीक्षा के लिए देखकर उन सबका विचार भी परिवर्तित हो गया। हम सब भी दीक्षा लेकर आत्म साधना करेंगे। उन्होंने कुमार से कहा कि आप हमें जो वैभव दे रहें हैं, वह हमें नहीं चाहिए क्योंकि जो अपकार करने वाली वस्तु है उसे हम नहीं लेंगे। सभी ने विचार विमर्श कर कहा कि वैभव तो; सबसे पहले हम लोगों को छोड़ना चाहिए, हमने ही अधिक पाप कर्म किये हैं अतः तपस्या करने की आवश्यकता हम लोगों को बहुत अधिक है। विद्युत (प्रभव) सहित वे 500 साथी सभी चोर कर्म का परित्याग कर दीक्षा लेने के लिए तत्पर हो गये। गुरु के विषय में जानकारी लेकर सभी वहाँ तुरन्त पहुँच जाते हैं।

गुरुवर के पास पहुंचकर उन सभी ने दिगम्बर परम वीतरागी शांतचित्त

मुद्रा के दर्शन कर अपना अहोभाग्य माना। वे नग्न परम दिगम्बर निर्ग्रन्थों से कभी मिले नहीं थे परिग्रह से लदे तनाव ग्रस्त रहते थे, पर इनके पास कोई टेंशन नहीं है क्योंकि इनका संसार के प्रति कोई अटेचमेन्ट भी तो नहीं है। किसी प्रकार की चाहना का विषय ही नहीं है। वे तो ऐसे आत्म ध्यान में बैठे थे जैसे इस संसार से मुक्त हो गये हों। सभी ने उन गुरुवर के श्री चरणों में नमोस्तु किया और वहीं बैठ गये। गुरुवर के सामने हाथ जोड़कर नतमस्तक हो बड़े आदर से प्रार्थना करने लगे कि हे दया के सागर ! हम जन्म मरण रूप दुःखों से भरे हुए कुयोनिरूप समुद्र के आवर्तों में डूब रहे हैं। कृपा कर आप उद्धार करने वाली जिनदीक्षा प्रदान करें। यही सच्चा जीवन है और शांति के उपाय का सच्चा मार्ग है। अपने जीवन में कर्मों का कर्ज चुकाने और कर्मों को काटने का यही उपाय है। इस जीवन में हम भी आत्म साधना करके पापों को काटेंगे और दुर्गतियों के दुःखों से बच जायेंगे। हे प्रभुवर करुणा के सागर शीघ्र ही हमें अपनी शरण में ले लो, दया करो प्रभु। सभी ने अपने अस्त्र-शस्त्र फेंक दिए और अश्रुपूर्ण नेत्रों से गुरुवर को निहारने लगे। गुरुवर तो अपने ध्यान में लीन थे। भोर हुई तब विद्युत प्रभव और उनके साथियों के हृदय का भी अज्ञानान्धकार दूर होकर वैराग्य का नीर उछालें भर रहा था। सहसा सभी ने गुरुवर को देखकर प्रार्थना करते हुए कहा कि हमें आप अपने जैसा बना लीजिए। गुरुराज जी ने सभी की पवित्र भावना को देखकर उन्हें निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा प्रदान की, वे सभी आत्मशुद्धि के लिए ध्यान में बैठ जाते हैं।

इधर कुमार की विचार विनिमय में ही रात्रि व्यतीत हो गयी और प्रातःकाल हो गयी। कुमार ने उठकर के सभी श्रृंगार आदि उतार दिये और माता-पिता को प्रणाम कर कहा- आपने जो मुझसे कहा था, हमने वह बात पूरी की, अब हम गुरुवर के चरणों में जाकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण करेंगे। माँ बोली ! अरे, क्या बात हो गयी। चार-चार नववधुएँ रूपवती, गुणवती विवाह कर लायें हैं। तुम्हें क्या कष्ट हो गया? सारे सुख वैभव यहीं पर हैं। नहीं माँ, ये वैभव तो कई बार पाये हैं और छोड़े हैं। आप मोहवश हमें न रोकें। यह संसार स्वार्थ का साथी है, हम मोह की जंजीर तोड़कर के जा रहे हैं। माता-पिता कहते हैं - हे पुत्र तुम्हारा इतना सुकुमार कोमल शरीर और कहाँ वह असिधारा के समान जैनेश्वरी दीक्षा। तपश्चरण की बाधायें कैसे सहन करोगे। कितना कठिन है नग्न शरीर, डांस,

मच्छर, झंझावात, सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि भीषण स्थितियों में अपने को निश्चल रख पाना, यह सब कैसे सम्भव है?

सुदृढ़ संकल्पी कुमार यह सुनकर कहते हैं कि माँ! यह संसार अनित्य अशरण है, इसमें कहीं भी सुख नहीं है, दुःख ही दुःख दिखाई देते हैं। अनेक जन्मों में इन्द्रिय विषयों के सुख को अनेक बार उपभोग किया और उन्हें जूठन के समान छोड़ा भी है। ये सुख अतृप्तिकारी हैं, हे माँ! भला इन विषय सुखों की ओर कैसे जा सकता हूँ। वैराग्य भावना में कहा है कि -

जो संसार विषै सुख होता तीर्थंकर क्यों त्यागै।
काहे को शिवसाधन करते, संयमसों अनुरागै ।।8।।

तीर्थंकरों के पास तो अपार वैभव था। तीन तीर्थंकर तो चक्रवर्ती थे, वे छह खण्ड के अधिपति थे, तो भी वे वैभव से मुक्त हो गए, हम तो कुछ भी नहीं है।

चारों नववधुएँ अत्यन्त शोक से सन्तप्त होकर रुदन करती हुई कहती हैं - हे नाथ! आप हम सबको अनाथ बनाकर कहां जा रहे हैं, जिस तरह चन्द्रमा के बिना रात्रि की शोभा नहीं है, कमल के बिना सरोवर की शोभा नहीं है उसी तरह आपके बिना हम लोगों का जीवन भी निरर्थक है। हे नाथ! आप अपना विचार छोड़ दें, थोड़े समय के बाद आप परित्याग कर देना, पर अभी तो गृहस्थ अवस्था में रहकर प्रसन्नता को प्राप्त करें। कुमार ने कहा कि आप सभी को तो प्रसन्न होना चाहिए कि हम संसार के बंधनों को तोड़कर परमार्थ के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। इस पावन कार्य में सहयोगी बनें। इस प्रकार कुमार ने सभी को सम्बोधित किया और चल दिये गुरुवर के श्री चरणों में, वहाँ पहुँचकर गुरुवर को सविनय नमोस्तु कर प्रार्थना पूर्वक बोले हे गुरुवर! कृपाकर हमारा उद्धार करो जिससे हम आत्म साधना द्वारा स्वात्म निधि को प्राप्त कर सकें। गुरुवर सुधर्म स्वामी ने दीक्षा प्रदान कर उन्हें महाव्रती बना दिया। संस्कारों से संस्कारित किया। व्रतों का आरोपण हो गया। 28 मूलगुणों का पालन करते हुए आत्म ध्यानादि में लीन रहने लगे। वे मुनिराज बन गये थे अत्यंत सहिष्णु, साहसी, धैर्यवान और विवेकी थे। कभी पर्वतों, गुफाओं में रहते कभी अन्य जगह विहार करते। ध्यान और अध्ययन में प्रवृत्ति होने से द्वादशांग के पारगामी श्रुतकेवली हो गये। बहुत बड़ा पुरुषार्थ किया

और घातिया कर्म के क्षय से उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। धन्य हैं ऐसे महापुरुष जिनके विचार से चोरों को वैराग्य हो गया था। उन केवलज्ञानी महान आत्मा ने एक दिन शेष कर्मों का भी अभाव कर मुक्ति प्राप्त की।

चतुर्थकाल में जन्म लिया था, वज्रवृषभनाराच संहनन उन्हें प्राप्त था, पंचमकाल में मोक्ष पधारे ऐसे उत्तम त्याग के धनी मुनिराज ने अपने जीवन को महान बनाया था। यह बाह्याभ्यन्तर परिग्रह त्याग का फल था। जानते हैं आप सभी कि वे कौन थे? तो भइया वे जम्बूकुमार स्वामी थे, जिनको अन्तस् से पहचान करके, उनके विचारों को सुनकर के, दृढ़ संकल्प को देखकर के चोरों को वैराग्य हो गया था ऐसी आत्मा जम्बूस्वामी केवली को 75 वर्ष की अवस्था में अविनाशी पद प्राप्त हो गया था। गुरु के संयोग, सत्संग से देखो कौन नहीं महान बनता है? पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है। जैसा संयोग मिलता है वैसा जीवन बनता है। मतलब जैसा सत्संग मिलता है वैसा ही आत्मा अपने जीवन में उन्नति या अवनति करती है। पानी एक साथ बरसता है। उसकी बूंदें सभी जगह गिरती हैं। अगर वह समुद्र में गिरे तो खारी हो जाती है, यदि वह बूंद स्वाति नक्षत्र में सीप पर गिरे तो वह मोती बन जाती है, पानी की बूंद तो वही है, लेकिन संयोग-सत्संग का परिणाम है सब। जैसा संयोग-सत्संग मिलता है, वैसा जीवन बनता है। अगर बुरी संगति मिलती है तो बुरा जीवन बनता है, अच्छी संगति मिले तो अच्छा जीवन बनता है। धर्मभावना शतक में लिखा है –

जम्बूस्वामी ने रत्नों के, वैभव में न राग किया।
विवाह होने पर न रानियाँ, देखीं, वा सब त्याग किया।।
जिनके विराग भावों को लख, विद्युत आदिक चोर जहाँ।
सब पापों से मुक्त हुए व, बने साधु हुई भोर वहाँ।। 74।।

त्याग धर्म मुख्यतः से मुनियों का धर्म है। मुनि सर्वस्व के त्यागी होते हैं, वे धन परिग्रह की आसक्ति से रहित अपरिग्रही जीवन जीते हैं। इस अपेक्षा से परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहा गया है। यद्यपि गृहस्थों के लिए सर्वस्व का त्याग करना सम्भव नहीं है इसलिए उनकी शक्ति और परिस्थिति के प्रकार की व्याख्यायें आगम में मिलती है। इस प्रकार त्याग धर्म की दोनों प्रकार की व्याख्यायें आगम में मिलती हैं। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ सर्वार्थसिद्धि और भगवती

आराधना में त्याग को दान के रूप में व्याख्यायित करते हुए कहा है–

संयतस्य योग्यं ज्ञानादि दानं त्यागः। (9/6)
संयतप्रयोग्याहारादिदानं त्यागः। (45)

संयमी के योग्य ज्ञानादि का दान करना मुनियों का त्याग धर्म है। गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले श्रावकों द्वारा जो धर्मी जनों के बीच रत्नत्रयधारक-संयमियों के लिए आहार, औषध, धर्मोपकरण एवं निवास स्थान रूप चार प्रकार के दान दिये जाते हैं वह उनका त्याग धर्म है। तीर्थंकर प्रकृति के बंध में कारणभूत त्याग भावना के अंतर्गत धवल ग्रंथ में आचार्य श्री ने स्पष्ट किया है कि–

दया बुद्धीए साहूणं णाण-दंसण-चरित्त परिच्चागो दाणं पासुअपरिच्चागदाणाम। ण चेव कारणं घरत्थेसु संभवदि, तत्थ चरित्ताभावादो ।। (पृ.8 सू.87)

दया बुद्धि से साधुओं द्वारा किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन व चारित्र के परित्याग या दान का नाम प्रासुक परित्यागता है। यह कारण गृहस्थों में सम्भव नहीं है क्योंकि उनमें चारित्र का अभाव है। यह तो श्रमण साधुजनों का त्याग धर्म है। जिन वस्तुओं का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग किया जाता है उसे यम या यावत् जीवन त्याग कहते हैं और कोई निश्चित समय तक के लिए त्याग किया जाये वह नियम त्याग कहलाता है। जुआ, चोरी, शिकार, मांस, शराब, परस्त्री सेवन, और वेश्यागमन रूप सप्तव्यसनों, रात्रि भोजन तथा जमीकंद आदि का आजीवन त्याग किया जाता है जो व्यक्ति इन वस्तुओं का त्याग नहीं करता उसकी तीर्थ यात्रा, जाप, तप आदि की क्रियाएं व्यर्थ व निरर्थक होती हैं। गृहस्थ जीवन चलाने के लिए गृहस्थ को धनार्जन करना अति आवश्यक है। उसे यद्यपि धनार्जन में आरम्भ परिग्रह का पाप तो लगता है लेकिन उसकी शुद्धि के लिए हमारे आचार्यों ने दान का उपदेश दिया है।

दान का अर्थ है देना। इस लोक में जड़ व चेतन सब ही पदार्थ एक-दूसरे को कुछ न कुछ दे रहे हैं। खेत फसल देते हैं, वृक्ष फल देते हैं, सूर्य प्रकाश देता है, सरिता, सरोवर, जल-प्रपात और बादल जल देते हैं, गायें दूध देती हैं, साधु शांति व ज्ञान देते हैं, वीतराग भगवान की प्रतिमा वीतरागता दे रही है परन्तु सोचो मनुष्य क्या देता है? धोखा, बेईमानी, झूठ, अनाचार, अत्याचार या अन्य सद्कार्य। स्वतः दान

की क्रिया अनादिकाल से चली आ रही है, पर कुछ क्रियाएं पुरुषार्थपूर्वक भी की जाती हैं। जो दुखों को नष्ट कर देता है, उसे दान कहते हैं। निदान रहित दान शत्रुओं को भी मित्र बना देता है, कष्टों को दूर कर देता है, दुर्गति का निराकरण करता है, सूर्य बिम्ब के समान समस्त अज्ञान अंधकार को दूर कर देता है, स्व और पर के उपकार के लिए अपने धन का त्याग करना दान कहलाता है। दान का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थ सूत्र में लिखते हैं –

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।(7/48)

स्व–पर के अनुग्रह के लिए अपनी धनादि वस्तु का त्याग करना दान है। अनुग्रह अर्थात् उपकार की बुद्धि हो। वास्तव में अनुग्रह 'स्व' का है, पर का तो निमित्त मात्र है। यह उपकार दाता और पात्र दोनों से जुड़ा है। इसमें दोनों का हित जुड़ा है। दूसरी बात इस सूत्र में निहित है कि दान अपनी वस्तु का हो अर्थात् अपने द्वारा उपार्जित या अपने स्वामित्व या अधिकार वाली वस्तु हो। इस प्रकार जो अपने अधिकार में वस्तु है उसमें से कुछ योग्य अहिंसक वस्तु देना दान है। ऐसा नहीं हो कि दूसरों की वस्तु या सामग्री उठाकर दान कर दें क्योंकि यह 'स्वस्याति सर्गः' रूप से सच्चा दान नहीं कहा जायेगा। दान में परोपकार का भाव मुख्य रहता है। दान एक समीचीन व्यवहार धर्म है।

आचार्यों ने दान के चार प्रकार कहे हैं। रत्नकरण्डक श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि–

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते, चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ।। 117।।

चार ज्ञानधारी गणधर देव आहार, औषधि, उपकरण तथा आवास के भी दान से वैयावृत्य को चार प्रकार का कहते हैं। गृहस्थ को ये चार दान करना चाहिए। कविवर द्यानतराय जी दशलक्षण हिन्दी पूजन में लिखते हैं कि–

दान चार परकार चार संघ को दीजिए।
धन बिजुली उनहार, नर भव लाहो लीजिए।।

चार प्रकार के जो संघ होते हैं, ऋषि, यति, अनगार अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका यह चतुर्विध संघ माना गया है। औषधि, शास्त्र, अभय, आहार ये

चार प्रकार के दान ज्ञानियों को शक्ति और भक्ति पूर्वक देना चाहिए।

आहार दान – धर्म साधना का साधन शरीर है और शरीर की स्थिति को बनाये रखने के लिए आहार जल अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए उत्तम योग्य पात्रों को आहार देकर उनकी क्षुधा को शान्त करना आहार दान है अन्य रूप में किसी भूखे को, गरीब को, पशु–पक्षियों को भोजन देना यह दयादत्ति आहार दान कहलाता है।

औषध दान – यह शरीर यद्यपि व्याधियों का घर भी है। यदि किसी कारण वश किसी भी तरह की अस्वस्थता, रोग होने की जानकारी हो तो उसके निवारणार्थ शुद्ध औषधि दान करना, औषध दान है। औषधालय खुलवाना, रोगियों की सेवा करना, उन्हें स्वस्थ करने के साधन संग्रहित करना दयादत्ति दान के अंतर्गत आ जाता है। औषध दान करने से निरोग शरीर प्राप्त होता है। यदि संयमी साधक भोजन की प्रतिकूलता या मौसम आदि की प्रतिकूलता के कारण अस्वस्थ हो तो ओषधि भी आवश्यक हो जाती है क्योंकि यदि वे निरोग होंगे तो साधना कर सकेंगे इसलिए विवेकवान गृहस्थ इस बात का विशेष ध्यान रखता है। वह उचित रीति से औषध दान करता है।

उपकरण दान – संयमी साधक जनों के संयम रक्षार्थ और ज्ञानवर्धन हेतु उन्हें शास्त्र तथा संयमोपकरण रूप पिच्छि–कमण्डुल आदि उपकरण दान देना जिसे आचार्य समन्तभद्र स्वामी रत्नकरण्डक श्रावकाचार में इस दान को उपकरण दान कहते हैं इससे इसकी व्यापकता स्पष्ट होती है। सम्यग्ज्ञान के साधन जुटाना, पाठशालाएं खुलवाना परमार्थिक दान है, इसके अतिरिक्त अन्य लोगों में बुद्धि, विद्या एवं ज्ञान वृद्धि हो उसके लिए विद्यालय खुलवाना, बच्चों–बड़ों को पुस्तकें देना, उच्च शिक्षा हेतु सुविधाएँ देना लौकिक ज्ञान दान कहलाता है।

आवास दान – इसका दूसरा नाम वसतिका दान भी है। धर्मध्यान, साधना करने के लिए साधकों के योग्य धर्मशाला, भवन, मंदिर, गुफा, वसतिका आदि बनवाना, जहाँ रहकर निराबाध तप व स्वाध्याय साधना की जा सके उसे आवास दान कहते हैं तथा जिन कारणों से अन्य लोगों का भय दूर हो उन कारणों का योग करना, दूसरों को भयभीत नहीं करना चाहे वे मनुष्य, पशु, पक्षी, एक इंद्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की रक्षा करना अभयदान है।

दान देने के पात्र का विशेष ध्यान रखना चाहिए। पात्र तीन प्रकार के होते हैं – सुपात्र, कुपात्र और अपात्र। सम्यग्दर्शनादिक गुणों से सम्पन्न को सुपात्र कहते हैं। वे उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से यह तीन प्रकार के होते हैं। समस्त परिग्रह से रहित, गुणरूपी सम्पत्ति से सहित, रत्नत्रय से विभूषित, समस्त प्राणियों के हित में तत्पर भव्य जीवों को संबोधन करने वाले, पाप से भयभीत, इन्द्रिय और मन रूपी हाथी को पराजित करने में सिंह के समान महाधैर्यवान, असंख्यात गुणों के सागर, तृण, सोना, शत्रु, मित्र में समभाव रखने वाले परधन को जूठन की तरह मानते हों, समस्त शरीर मोह से निर्लिप्त, संसार से तारने वाले, अट्ठाईस मूलगुणों को यथायोग्य पालने वाले मुनि महाराज जी उत्तमपात्र हैं। आर्यिका तथा ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका तथा एक से लेकर ग्यारह प्रतिमाधारी तक व्रती श्रावक मध्यम सुपात्र होते हैं। सम्यग्दर्शन के पच्चीस मल दोषों से रहित सच्चे वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का भक्त अव्रती सम्यग्दृष्टि जघन्य सुपात्र कहलाता है। जो सम्यग्दर्शन से रहित हो, सरागी देवादिक का भक्त मिथ्यादृष्टि, कुलिंगी जीव अथवा व्रत सहित होकर भी मिथ्यादृष्टि जीव कुपात्र कहलाता है। जो घोर मिथ्यात्वी जीव व्रत, शील, संयम की श्रद्धा से भी रहित व्यसनी हो और अभक्ष सेवी मिथ्यादृष्टि अपात्र कहलाता है।

सुपात्र को दान देने वाला सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग की अथवा मुनि बनकर मोक्ष की प्राप्ति करता है और मिथ्यादृष्टि जीव भोग भूमि की प्राप्ति करता है। सुपात्र में लगाया गया धन परलोक में अनन्त गुना फलता है। कुपात्र दान से कुभोग भूमि आदि प्राप्त होती है तथा अपात्र दान से दुर्गति की प्राप्ति होती है। इसलिए दान देते समय पात्र का ध्यान रखना चाहिए। अपात्र-पापी व्यसनी को दिया गया दान पुण्य के स्थान पर पाप देने वाला हो जाता है। सत्पात्र को दिया हुआ दान चारित्र का संचय करता है, विनय को बढ़ाता है, ज्ञान की वृद्धि करता है। तप को प्रबल करता है, आगम-ज्ञान को उल्लसित करता है, पापों को नष्ट कर पुण्य की जड़ों को पुष्ट करता है। और महाव्रतों के साथ मोक्ष का कारण बनता है। परन्तु दान देते समय परिणाम विशुद्ध होने चाहिए तभी सुगति की प्राप्ति होती है। जितना त्याग करेंगे उतना ही अधिक सुख एवं सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति संसार अवस्था में होती ही रहती है। धार्मिक कार्यों के निमित्त से धनादिक का त्याग व दान करने से वह

धनादिक बढ़ता ही है, घटता नहीं यह तो विश्वास और श्रद्धा की बात है। दान की तो महत्ता है ही साथ ही अनुमोदना भी शुद्धभाव पूर्वक करते हैं तो इहलोक और परलोक में सुख समृद्धि होती है। अनुमोदना करने वाला भी उत्तम भोग भूमि में जन्म लेता है। शास्त्रों में वर्णित है कि जब राजा वज्रजंघ और रानी श्रीमती भक्तिपूर्वक मुनि युगल श्री सागरसेन व दमवर मुनिराजों को आहार दान दे रहे थे, उस समय सिंह, नेवला, बन्दर, शूकर आदि पशु आहार की प्रशंसा कर रहे थे। दान की अनुमोदना करने पर उन पशुओं को उसी भोग-भूमि की प्राप्ति हुई जो राजा-रानी को प्राप्त हुई थी। कर्मभूमि के प्रारम्भ में राजा वज्रजंघ का जीव प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ जी के रूप में अवतरित हुआ और रानी श्रीमती जीव राजा श्रेयांस हुआ जो दान के प्रथम प्रवर्तक हुए। इसी प्रकार राजा श्रीषेण ने अनन्तगति व अरिंजय नामक मुनिराजों को आहार दान दिया जिसके प्रभाव से वे बारहवें भव में सोलहवें तीर्थंकर शांतिनाथ बने, उन्होंने महान पदों को प्राप्त कर सिद्ध पद पाया। औषधदान के पुण्य प्रभाव से वृषभसेना सर्वोषध ऋद्धि को प्राप्त हुई। शास्त्रदान के प्रभाव से कौण्डेश नामक ग्वाला कालान्तर में श्रुत पारगामी मुनि हुआ तथा आवासदान देने में तिर्यंच पर्याय में रहने वाला शूकर शुभ भावों से मरण कर देव पर्याय को प्राप्त हुआ। तीर्थोदय काव्य में इनको इस प्रकार लिखा है-

आहारौषध दान तथा वे, रहे उपकरण व आवास।
जिनधर्मी देवें नित इनको, शीघ्र मोक्ष में करें निवास।।
श्रीषेण, वृषभसेना महिला, अरु कौण्डेश व शूकर भी।
ख्यात हुए थे इन दानों में, सुख या दुःख में रहकर भी।।295।।

प्राप्त किया था शांतिनाथ पद, सर्वोषधि ऋद्धि को शुभ।
ज्ञानी मुनि कौण्डेश सुपद को, स्वर्ग में जा ऋद्धि को शुभ।।
उन चारों दानों में क्रमशः इन उपरिम सुख को पाया।
अतः साधुओं ने शास्त्रों में, इनके गुण को बतलाया।।296।।

दान की महिमा इतनी अद्‌भुत है कि एक छोटे से वट बीज से बड़ा छायादार वट वृक्ष बनता है इसी तरह अल्प धन त्याग रूपी दान तीर्थंकर चक्रवर्ती या इन्द्रविभूति जैसे सुख को फलते हुए मोक्ष के शाश्वत सुख को भी फलता है। तीर्थंकर ऋषभदेव ने राज्यावस्था में एक छत्र को छोड़ा तो अर्हंत बनकर समवशरण

में छत्रत्रय को प्राप्त किया था, राम, हनुमान, महावीर आदि को जो मोक्ष मिला वह संसार के उन भोगों के त्याग से ही मिला था। आचार्य समन्तभद्र स्वामी रत्नकरण्डक श्रावकाचार में कहते हैं कि-

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दान मल्पमपि काले।
फलतिच्छाया विभवं बहुफलमिष्टं शरीर भृताम्।।116।।

जिस प्रकार भूमि में सही समय पर खस-खस के दाने के समान छोटा सा बड़ का बीज खाद और पानी को पाकर वट वृक्ष का रूप ले लेता है उसी प्रकार सत्पात्र को सही समय में दिया गया अल्पदान भी बहुफल प्रदान करता है। अगर कुये से जल नहीं निकाला तो वह सड़ जाता है, पान को नहीं पलटा जाय तो सड़ जाता है, रोटी को नहीं पलटाया जाये तो वह जल जाती है और घोड़े को नहीं चलाया जाये तो अड़ जाता है, अतः धन नहीं निकाला तो मृत्यु के उपरान्त वह भूमि में पड़ा रह जाता है। इसी भाव को तीर्थोदय काव्य में लिखा है -

नीर कुएं से निकले जितना, उतना शुद्ध मिले पानी।
अगर नहीं निकला वह पानी, दुर्गन्धित बनता पानी।।
धर्म कार्य में जहाँ सम्पदा, दान हेतु दी जाती है।
वहाँ बीज से वट तरु सम वह, सम्पद् बनती जाती है।।294।।

वास्तव में धन त्याग की महिमा अपार है। धन; तन-मन-जीवन और चेतन को भी पावन करने में कारण है। आचार्य कहते हैं कि-

जिनबिम्बम् जिनागारम्, जिनयात्रा, महोत्सवम्।
जिनतीर्थम् जिनागमम्, जिनायतनानि सप्तधा।।
जिन बिम्बं जिनागारं, जिनयात्रा प्रतिष्ठतम् ।
दानं पूजा च सिद्धान्त-लेखनं क्षेत्र सप्तकम् ।।

जिन प्रतिमा, जिन मंदिर, जिनयात्रा, प्रतिष्ठा महोत्सव आदि, जिनतीर्थ, जिनागम, जिनेन्द्र भगवान के संबंध में कोई भी आयतन इन सात क्षेत्रों में दान देना चाहिए। दान का फल तत्काल भी मिलता है, कालान्तर में भी मिलता है। कहने का मतलब है कि जैसा दिया जाता है, वैसा ही प्राप्त हो जाता है। दान देते समय इस बात को विशेष ध्यान रखते हुए यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि पहले अच्छा

कमा लें बाद में दे देंगे क्योंकि पुण्य के बिना व्यक्ति को इच्छानुसार धन कभी प्राप्त नहीं हो पाता। जब जितना है उतने में ही अपना धर्म कार्य कर लेना चाहिए, भविष्य किसने देखा है, वह तो अंधकारमय होता है। धन की तीन गतियाँ आचार्यों ने कहीं है, दान, भोग और नाश। दान देकर इस भव तथा पर भव में यश की प्राप्ति और सुख प्राप्त किया जा सकता है। कहा भी है-

दान देय मन हरष विशेखै, इहभव जस पर भव सुख देखै।

धन का भोग करके पर भव में तो नहीं किन्तु इस भव में आनन्द की अनुभूति होती है और दान या भोग न करने से धन की अन्तिम गति नाश होती है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है कि - जो मनुष्य लक्ष्मी को केवल संचित करते रहते हैं किन्तु उसे न तो भोगते ही हैं और न ही दान देते हैं वे स्वयं को ठगते हैं और उनका मनुष्य जन्म निरर्थक है। इसके विरपीत जो व्यक्ति लक्ष्मी को सदा धर्म के कार्यों में लगा देते हैं, उनकी लक्ष्मी समृद्धि सफल कही जाती है और वे ही प्रशंसा के पात्र हैं। दया करुणा पूर्ण भावों से सबकी सेवा, सहयोग करना, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी बहुत बड़ा धर्म/दान है, इसे करुणा दान कहते हैं। दान के कुछ भूषण और भूषण कौन से हैं आप जानते हैं? आनन्द के आँसू आना, शरीर रोमांचित होना, बहुमान होना, प्रिय वचन बोलना और बाद में दान की अनुमोदना करना ये पाँच दान के भूषण हैं तथा इसके विपरीत अनादर पूर्वक दान देना, देरी करना, विकृत मुख बनाना, कठोर वचन बोलना, दान देकर पश्चात्ताप करना और दुःखी होना ये दान के दूषण हैं।

आजकल आप लोगों ने सुना होगा कि कुछ लोग दान, व्रत, पूजा, तप आदि अनुष्ठानों को हेय कहकर भ्रम पैदा करते हैं। तो देखों भइया ऐसा है कि - श्रावक धर्म के विषय में धवला ग्रंथ में लिखा है-

दाणं पूजा सीलमुपवासोचेदि चहुव्विविहो सावय धम्मो। (82/100/2)

सत्पात्र दान देना, पूजा करना, शील का पालन और उपवास करना ये चार श्रावक के धर्म हैं। तो फिर जो व्यक्ति व्रत, पूजा, दान, तप आदि अनुष्ठान को हेय कहते हैं वे अभी स्याद्वाद रूप धर्म को नहीं समझते हैं स्वयं व्रत, उपवास आदि की पात्रता नहीं होने पर मार्ग को अवरुद्ध बताना सत्य को आवरण कर देना विवेकी

जनों का लक्षण नहीं है ये तो धर्म का अवर्णवाद है। अन्त में यही कहूँगा - गुरु महाराज जी कहते थे जो जीवन में धर्म धारण कर लेते हैं, अन्तस् में सुनकर उतार लेते हैं वे महान होते हैं। कहा भी है-

चेहरों पर चेहरे हैं, बहुत-बहुत गहरे हैं।
लेकिन खेद की बात तो यह है कि -
त्याग तपस्या के क्षेत्र में अंधे और बहरे हैं।

हमने जाना कि त्याग स्वयं के लिए किया जाता है, दान दूसरे के लिए दिया जाता है। त्याग स्व सापेक्ष है और दान पर सापेक्ष। त्याग और दान में धर्म है, पुण्य है। त्याग उपयोगी और अनुपयोगी दोनों प्रकार से किया जाता है, दान उपयोगी वस्तु का दिया जाता है। त्याग से स्वोपकार होता है परोपकार भी हो सकता है लेकिन दान से स्व-परोपकार अवश्य होता है। देखो त्याग तो राग-द्वेष का किया जाता है। बाह्य वस्तुओं के त्याग के साथ-साथ अन्तरंग कषायों को भी कृश करना पड़ता है। ज्ञान का तो दान ही कर सकते हैं, परन्तु आहार और औषधि आदि का त्याग तथा दान दोनों कर सकते हैं। वास्तव में ममत्व को घटाकर परिणामों में निर्मलता का आना ही त्याग का प्रयोजन है। त्याग श्रेष्ठ है। त्यागाच्छान्तिः अर्थात् त्याग से शांति प्राप्त होती है। त्याग ही शांति का सोपान है, त्याग ही जीवन को ऊपर उठाता है, त्याग ही मुक्ति का मार्ग है, त्याग से ही सुख की प्राप्ति होती है। तीर्थोदय काव्य में त्याग के विषय में लिखा है-

मोक्षमार्ग में चलकर भविजन, त्यागमार्ग को अपनाते।
मोह हटाकर समता लाकर, विषय-भोग न अपनाते।।370।।

जैसे-जैसे भोग-सम्पदा, को मानव जब तजता है।
वैसे-वैसे धर्म-ध्यान में, परमातम को भजता है।।
जन्म-जन्म के बंधे हुए उस, अशुभ कर्म का क्षय होता।
पुण्य-सम्पदा समवसरण पा, फिर प्राणी अक्षय होता।। 378।।

केवलज्ञान होने के उपरांत भी भगवान के नीचे, आगे पीछे सब ओर समवशरण के रूप में सम्पदा विद्यमान रहती है पर वे तो कमलासन पर भी चार

अंगुल ऊपर अंतरिक्ष में विराजमान रहते हैं उस विशाल समवसरण के एक कण को भी नहीं छूते और अन्त में योग निग्रह अर्थात् मन-वचन-काय की सूक्ष्म क्रियाओं का भी निरोध करने चल देते हैं, समवसरण की वह विशाल सम्पदा पीछे छूट जाती है। यह त्याग का अंतिम सोपान है तभी उन्हें मुक्ति मिलती है तीर्थंकर का पद या सम्पदा साथ नहीं जाती और वे अनन्त सुखी अब मोक्ष अवस्था का प्राप्त करते हैं। भइया ! वीतराग भावों के माध्यम से संसार से मुक्त होने का मार्ग विकसित होता है और राग से संसार के बंधन का मार्ग विकसित होता है। वीतराग जो हुए हैं उन्होंने उत्तम त्याग धर्म धारण किया है, मोक्ष लाभ होने तक उनके प्रति हमारा प्रशस्त अनुराग बना रहे। उनके त्याग की हम अनुमोदना करते हैं तथा उत्तम त्याग धर्म की भावना एक दिन इस संसार से छुड़ा करके हमें भी मुक्ति के अपरिमित सुख को दिलाये बस।

आचरण सैतान को इंसान बना देता है।
माली वीरान को गुलिस्तान बना देता है।।
कहां तक कहूँ कि-मोक्षमार्ग की सीढ़ी पर चढ़ने से।
त्याग इंसान को भगवान बना देता है ।।

उत्तम आकिंचन्य धर्म

मेरा कुछ भी नहीं, यही है आकिंचन्य

मङ्गलाचरण

विश्व विज्ञं विधिं वेदं, वीरं विराग वैभवं।
सङ्ग मुक्तं यजे बुद्धं, केशवं शंभवं शिवं ।।

सद् धर्म बन्धुओं!

कल का दिन उत्तम त्याग धर्म का था और आज उत्तम आकिंचन्य धर्म है। जब सब कुछ छोड़ दिया जाता है, कुछ भी पर पदार्थ का सम्बन्ध शेष नहीं बचता तब आकिंचन्य धर्म आता है अन्तरंग से मिथ्यात्व व कषाय विकल्प परिणामों का भी त्याग करना पड़ता है ताकि आत्मा पूर्ण रूपेण शुद्ध हो सके परन्तु यह ध्यान रखना कि साधना के द्वारा ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचने पर भी अल्प कषाय का उदय आ जाता है और वह साधक साधना से नीचे गिर जाता है। थोड़ा सा भी कषाय भाव या अशुभकर्म साधक को मुक्ति पाने में बाधक बन जाता है। तो भइया त्याग के उपरान्त आकिंचन्य धर्म है और इसके बाद उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म आता है, तभी आत्मा में रमण हो पायेगा। जब हम बिल्कुल हल्के फुल के हो जायेंगे। इसके लिए रिक्त होना पड़ेगा पर पदार्थ के सहित से रहित और युक्त से मुक्त, सृजन से विसर्जन की ओर पग बढ़ायेंगे तभी आत्मा की निर्मलता का विकास होगा। कहीं से कोई अटैचमेंट वाली बात नहीं होगी तभी जुड़ पायेंगे अन्तस् से, नहीं तो नहीं जुड़ पायेंगे, परमाणु मात्र भी राग बाधक बन जाता है। सारा कार्य क्रम पूर्वक ही चलता है।

सबसे पहले चार कषायों क्रोध, मान, माया, लोभ का अभाव किया तो क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच धर्म आये तब पवित्रता प्रकट हुई फिर सत्य पर आये, सत्य प्रकट होने पर साधु या सज्जन जनों से जो आगम के अनुसार हित के लिए कहा यह सत्य धर्म हुआ। सत्य को आचरण में लाने के बाद संयम धारण करते हैं जिसमें इन्द्रिय संयम प्राणी संयम रखा, इन्द्रियों पर कंट्रोल किया जैसे घोड़े के ऊपर लगाम रखते हैं वैसे ही अपनी इन्द्रियों पर लगाम लगायी और कछुए के समान संकुचित करते हुए अपने को पापों से बचाया, प्राणियों का सयंम पाला, षट्जीव निकाय की हिंसा को छोड़ा पश्चात् तप किया, जब तक इन्द्रिय निरोध नहीं

करेंगे तब तक तपस्या कैसे होगी? इन्द्रियों और त्रसादिक की हिंसा से पापों का आस्रव होता रहता है और पापों का आस्रव रुकने के पश्चात् ही संवर होकर के तप होता है। तप तो वह है जब नये कर्मों का आना रुक जाये और पुराने की तब निर्जरा होती है, संवर भी होता है। तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वामी कहते हैं – **तपसा निर्जरा च।** इतना सब होने के बाद अब अन्दर की जो विभाव परिणतियाँ हैं वे सब बाहर निकलती हैं पूर्ण रूप से त्याग हो जाता है और खाली हो जाते हैं। जैसे दूध से जल का अंश पूरा समाप्त होने के बाद ही वह घी बनता है, वैसे पूर्ण रूप से अन्तरंग परिग्रह भी निकल जाये त्याग हो जाये तब कहीं आकिंचन्य अवस्था आती है। त्याग के बाद आकिंचन्य के क्रम निर्देश का यही उद्देश्य है कि जो कुछ त्याग है उस पर पुनः ममत्व या अहंकार न उत्पन्न हो। वास्तविक स्थिति में मोह तथा आसक्ति के क्षय से आकिंचन्य धर्म को प्राप्त करना भेद विज्ञान का मार्ग है। फिर अपने स्वभाव में लीन हो जाना ही ब्रह्मचर्य है। मात्र ऐसे ही ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते हैं। अठारह हजार शील होते हैं, उनके आने पर आत्मा में लीन होने के लिए बहुत बड़ा सुयोग या अवसर प्राप्त हो जाता है जो बाहर से अन्दर की ओर ले जाता है। आज हम पूरे के पूरे कैसे खाली हो जायें यह जानें। किससे खाली होंगे? जिससे अधिक मोह हो उससे खाली हों, हल्के हो जायें।

आकिंचन्य धर्म के विषय में शास्त्रों में कहा गया है कि – **न किञ्चनः इति आकिञ्चनः** मतलब किंचित मात्र कुछ भी मेरा नहीं है ऐसा अर्थ करते हैं। आकिंचन्य का अर्थ है – **न किंचनः अवस्थितः सः आकिंचनः** किंचित मात्र भी विकार विभाव पर पदार्थों का न रहना इसका नाम आकिंचन्य है। न राग है, न द्वेष है, न मोह, क्रोध, लोभ है, कुछ भी नहीं है। फिर क्या है? मात्र बस ज्ञाता-दृष्टापन रह गया बस स्वसंवेदन में लीन। स्वात्मा में जो लीन है ऐसा धर्म आकिंचन्य है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में लिखते हैं कि **नास्य किंचनास्तीत्यकिंचनः तस्य भावः कर्म वा आकिंचन्यम्** जिसके पास कुछ भी नहीं होता है वह अकिंचन है (अर्थात् जिसने सब संयोग पदार्थों का त्याग कर दिया) और उसका भाव या कर्म आकिंचन्य है वह इस आकिंचन्य धर्म को प्राप्त करता है उसी भाव या कर्म का नाम आकिंचन्य कहलाता है। यद्यपि यह आत्मा का स्वरूप है इसलिए इसे आकिंचन्य धर्म कहते हैं।

आचार्यों ने कहा है कि जो आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने के लिए विचार करता है कि कर्म के संयोग से चाहे कर्म हों, शरीर हों या पदार्थ हों ये सब कुछ आत्मा से परे हैं, ये वास्तविक स्वरूप-स्वभाव को ढ़ंक लेते हैं, उसमें मलिनता लाते हैं और विभाव परिणति को उत्पन्न करते हैं इसीलिए इन्हें मैं मन-वचन-काय पूर्वक छोड़ता हूँ ऐसी भावना करने वाला ही आकिंचन्य धर्म को प्राप्त करता है। यह ध्यान रखना जिसका त्याग करते हैं, वह सब कुछ पर ही है, अपना कुछ कभी त्याग नहीं होता है, न आज तक हमने किया है और न कर पायेंगे। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए कि संयोगज पदार्थों का त्याग होता है, वैसे वे पर ही हैं। अपनी वस्तु को मलिन जरूर कर रहे हैं संयोग का वियोग अवश्य होता है। जो बाह्य संयोगों में ममत्व बुद्धि रखते हैं, उन्हें अपना मानते हैं, वे अनुकूल संयोगों की प्राप्ति पर प्रसन्न होते हैं और संयोगों के छूटने पर विषाद करते हैं, दुःखी होते हैं। जबकि संयोग तो मात्र संयोग ही होते हैं चाहे अनुकूल हों या प्रतिकूल वे अधिक समय तक नहीं रहते हैं कारण कि संसार का ऐसा कोई भी संयोग नहीं जो स्थायी हो। बाहर से जो आया है वह एक दिन जाता ही है। अपनी जो वस्तु ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं उनका तो कभी भी त्याग नहीं होता है। बोलचाल की दृष्टि से हम कहते हैं कि हमने त्याग कर दिया, हम अहं बुद्धि लाते हैं। ये तव-मम की भावना ही मोह का प्रतीक है। संयोग सुख-दुःख नहीं देते, संयोगों के साथ जुड़ा हुआ ममत्व ही उसमें कारण बनता है, पर वस्तु से संबंध को जोड़ा है, उसमें ममत्व भाव किया, जिससे मोह उत्पन्न किया, अपना उसे माना कि बस हम अज्ञानता में चले गये। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी समयसार ग्रंथ में कहते हैं कि-

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ।। 19।।

वह अज्ञानी है जो अष्टकर्म, नोकर्म शरीर और भी अन्य पदार्थ ये मेरे हैं या मैं इस रूप हूँ इस प्रकार मेरे-तेरे की भावना करता रहता है तो वह ज्ञानी नहीं अज्ञानी है। वह अप्रतिबुद्ध है। ममत्व बुद्धि का मूल कारण अप्रतिबुद्धता है। जब तक बाह्य पदार्थों में मैं और मेरे पन का भाव है - अप्रतिबुद्धता है। फिर हम कहते हैं कि हमने अपनी वस्तु का त्याग किया। किसको अपना माना? पर को अपना माना इसके पहले अज्ञान में चले गये तभी तो अज्ञान में जाकर के अपना मान करके पर

वस्तु का त्याग कह रहे हैं और अहम् बुद्धि ला रहे हैं कि हमने अपनी वस्तु का त्याग किया ऐसा मानना भी अज्ञान है और कहना भी अज्ञान है तथा उसके पीछे अपना नाम कर लेना यह और भी बड़ा अज्ञान है। भइया पर वस्तु का त्याग होता है, परन्तु पर वस्तु हमारी है नहीं, न कभी थी और न होगी भी। यह समझ में नहीं आता कि उसको त्याग करने के लिए फिर इतना क्यों सोचना पड़ता है? यदि पर वस्तु का त्याग नहीं करेंगे, नहीं छोड़ेगे तो भी वह छूटने वाली ही है, किसी के साथ बँध के कहीं नहीं जायेगी और न कभी गयी है। हाँ एक ही चीज जाती है, जो कि 'अनादि संबंधे च' 'सर्वस्य'। क्या है? सभी जीवों के पास कार्मण और तैजस दो शरीर तो हमेशा रहते हैं और साथ में जाते हैं लेकिन जब तक कि मोक्ष न मिले। यहाँ संसार अवस्था की बात कही जा रही है, मोक्ष अवस्था की नहीं कहीं जा रही है, जब मोक्ष होता है तब कुछ साथ में नहीं जाता है। ध्यान रखना कि संसार में अनादि काल से कर्मों का जो संयोग है वह तो साथ जाता है, वो भी पर है, वह साथ नहीं छोड़ता है, आपका बड़ा साथी है, बहुत साथ देता है। इस जगत में वही चक्कर लगवाता है, उसी की वजह से पुनः कर्म आते हैं। उसी की बजह से संसार में हम जो कुछ स्थितियाँ देख रहे हैं, वही उसका कारण है। शेष कुछ भी नहीं जाता साथ में। न शरीर, न वैभव, न परिजन और अन्य कोई भी साथ में नहीं जाता है। आप छोड़ते हैं तो ज्ञानी कहलाते हैं, नहीं छोड़ते हैं तो अज्ञानी कहलाते हैं, अपना मानते हैं तो भी अज्ञानी कहलाते हैं, अपना छोड़ दिया ऐसा उसे अपना कहते हैं तो भी अज्ञानी है। आप यह कहें कि मैंने पर वस्तु को छोड़ दिया, तब तो थोड़ा सा ठीक, अब कुछ ज्ञानी बने।

मुनि जब तक आत्मा में लीन होकर त्याग करने रूप विकल्प को भी नहीं छोड़ता या पर के चिंतवन रूप बुद्धि को नहीं छोड़ते, तब तक पूर्ण आकिंचन्य धर्म को नहीं पा सकते। आचार्य अकलंक देव भी राजवार्तिक ग्रंथ में लिखते हैं कि -

ममेदमित्यमिसन्धि निवृत्तिराकिञ्चन्यम्। (9/6)

यह मेरा है इस प्रकार की अभिसन्धि का त्याग करना आकिंचन्य है। घर-द्वार, धन-दौलत, बन्धु-बांधव, परिजन आदि यहाँ तक कि शरीर भी मेरा नहीं है इस प्रकार का अनासक्ति भाव उत्पन्न होना उत्तम आकिंचन्य धर्म है। आकिंचन्य धर्म में उस त्याग के प्रति होने वाले ममत्व का भी त्याग कर दिया जाता है।

आकिंचन्य का अर्थ है – मेरा कुछ भी नहीं है, परमाणु मात्र भी मेरा कुछ भी नहीं है। **आकिञ्चन्य सकल ग्रन्थ त्याग:** सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना आकिंचन्य धर्म है। सम्पूर्ण रूप से त्याग हो जाना कुछ भी नहीं रह जाना, किंचित् मात्र भी राग-मोह, पर पदार्थ से अपने पास न रह जाना यही आकिंचन्यपना है। किसी भी पर पदार्थ को ममत्व भाव से ग्रहण करना, उसमें ममता, मूर्च्छा, लोलुपता रखना परिग्रह है। पूर्ण आकिंचन्य धर्म के धनी तभी बन पायेंगे जब अन्तरंग-बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देंगे। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और स्त्री, पुरुष व नपुंसक ये तीन वेद मिलाकर चौदह अन्तरंग परिग्रह तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दास, दासी, कुप्य और भाण्ड ये दश बहिरंग परिग्रह इस प्रकार चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग करना आकिंचन्य धर्म है। अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह ये सब आत्मा के विकारी भाव हैं, इनसे स्वयं को भिन्न जाने, फिर आत्मा का आश्रय करें, जिससे पर्याय में होने वाले विकारों का अभाव हो, जब विकारों का अभाव होता है तो उसके साथ परिग्रह का त्याग भी अवश्य घटित होता है। दशलक्षण पूजन में पढ़ते हैं कि –

परिग्रह चौबीस भेद त्याग करैं मुनिराज जी।
तृष्णा भाव उच्छेद घटती जान घटाइए ।। ९।।

जिस तरह जीवन हर पल बीत रहा है, निरन्तर आयु ह्रास को प्राप्त हो रही है उसी तरह हृदय से निरन्तर तृष्णा भाव को घटाते रहें। मुनिराज जी आत्मा में प्रवेश करने के लिए चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग करते हैं क्योकि पतंग जितनी हल्की होती है, वह उतने ही ऊपर जाकर आकाश में बड़ी सुशोभित होती है, अगर उसके एक और भार थोड़ा ही अधिक हो तो वह गोता खाती हुई नीचे जमीन पर आ गिरती है, बस उसी तरह अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह आत्मा को ऊपर सिद्धालय तक पहुँचने में बाधक होते हैं। आचार्य कहते हैं कि – कषायें आत्मा के गुणों का घात करती हैं, आत्मा को भटका देती हैं। मिथ्यात्व और कषायों से साम्परायिक आस्रव होता है, जो अनन्त संसार का कारण है। ईर्यापथ आस्रव कषायों में अभाव में होता है, यह आस्रव ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान में होता है इससे पूर्व नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी भावपाहुड में कहते हैं कि – बहिरंग त्याग आवश्यक है, पर साथ ही यदि अन्तरंग परिग्रह नहीं त्यागा, तो वह बहिरंग परिग्रह का त्याग भी

व्यर्थ है। तिलतुष मात्र परिग्रह रखने पर महा कष्ट भोगने पड़ते हैं ,तो जो अति परिग्रह रखते हैं उन्हें यह कितना दु:खदायी होगा? आत्मानुशासन में आचार्य कहते हैं कि – **सुखं सकल संन्यासो दुखं तस्य विपर्यय:** परिग्रह त्याग ही सुख का मूल है और परिग्रह ही दु:ख है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि – **अकिंचनोऽमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवे:** जब आकिंचन्य होता है तब त्रैलोक्य का अधिपति भगवान हो जाता है। इसके विपरीत यदि सम्पूर्ण शास्त्रों के जानकार होने के उपरान्त भी अगर जिसे परमाणु मात्र परिग्रह के प्रति राग विद्यमान होता है वह व्यक्ति आत्मा में ध्यान नहीं कर सकता आत्मा को नहीं जान सकता ऐसा समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं।

परमाणुमित्तियं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पा णयं तु सव्वागम धरोवि ।।201।।

हरेक आत्मा को ध्यान के समय चिन्तन करना चाहिए कि मैं स्वाश्रित हूँ, मैं स्वतंत्र हूँ, मैं अकेला हूँ यही आकिंचन्य है। ऐसे धर्म में सम्पूर्ण परिग्रह मोचन की यह महिमा है कि यह आत्मा अपने अन्दर बैठी अनन्त शक्तियों का उद्घाटन कर अनन्त काल के लिए मोक्ष में जाकर फिर कभी भी घृत से दुग्ध रूप में पुन: लौटकर न आने के सदृश नीचे नहीं आती है, वहीं शाश्वत सुख में लीन हो जाती है। कुछ भी शेष नहीं रह गया है। एक अकेली आत्मा का साक्षात् अनुभव हो रहा है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार में कहते हैं कि –

एगो में ससदो आदा णाण दंसण लक्खणो।
सेसा में बाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा ।।102।।

मैं एक अकेला शाश्वत आत्मा हूँ, जानना, देखना, मेरा स्वभाव है, शेष जो भी भाव हैं, वे सब बाहरी हैं तथा संयोग से उत्पन्न हुए हैं। संसार के समस्त सम्बन्धों के बीच भी मैं अकेला हूँ, यही भाव बना रहना आकिंचन्य धर्म का सूचक है। समयसार ग्रंथ में भी कितनी सुन्दर बात कही है-

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण णाण मइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणु मित्तं पि ।।38।।

मैं अकेला हूँ, शुद्ध आतम रूप हूँ, मैं ज्ञानवान हूँ और दर्शनवान हूँ। मैं

रूप, रस, गंध और स्पर्श रूप नहीं हूँ, सदा अरूपी हूँ, कोई भी अन्य पर द्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, इस प्रकार की भावना जिसके हृदय में सदैव बनी रहती है, याद रखना उसके संसार समुद्र का किनारा बिल्कुल नजदीक आ चुका है, इसमें कोई संदेह नहीं है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप बतलाते हुए धर्म भावना शतक में लिखा है कि –

मैं एकाकी शुद्ध स्वरूपी, दर्श, ज्ञानमय रूप नहीं।
न परमाणु सम कुछ वस्तु, शरीरादि निज रूप नहीं ।।
मैं रस, गंध सभी शब्दों से, दूर रहा सुख धाम रहा ।
न संस्थान न लिङ्ग हमारा, निज में ही आराम रहा ।। 79।।

परिग्रही व्यक्ति कभी भी शांति का अनुभव नहीं कर पाता वह तो मात्र भ्रम में ही जीता है दूसरी ओर जो परिग्रह नहीं रखता, त्याग प्रवृत्ति रखता है वह हमेशा सुख-शांति का अनुभव करता है, ऐसे व्यक्ति महान बनते हैं। वे स्वयं तो आदर्श पूर्ण जीवन जीते हैं, दूसरों को भी आदर्शवान बनने की ओर दिशा देते हैं।

आगरा के एक बहुत बड़े विद्वान पंडित थे। बड़े-बड़े शास्त्रों को पढ़ने वाले थे, उन्होंने चारों अनुयोगों का स्वाध्याय कर ज्ञान प्राप्त किया और अन्त में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा लिखित समयसार ग्रंथ का इतना अध्ययन किया कि उस पर उन्होंने एक नाटक की रचना कर दी। उनका एक सीमित कपड़े का व्यापार था जिससे आजीविका ठीक से चल जाती थी। पर वस्तुओं का त्याग करना पड़ता है, यह बात सदैव उनके स्मरण में रहती, इसलिए जितना अति आवश्यक है उतना ही कार्य करते उन्होंने एक सीमा बांध रखी थी कि इससे अधिक नहीं लेगें। अपने समय का सदुपयोग धर्मभावना में किया करते थे वे। उनकी धार्मिक वृत्ति की चर्चा सभी जगह होती थी। एक दिन की बात है। रात्रि के समय वे शयन कर रहे थे, अर्ध रात्री हुई थी गहरा सन्नाटा चारों ओर छाया हुआ था ऐसे में उन्हें थोड़ी सी किसी के आने की आहट सुनायी दी। वे सो रहे थे इसीलिए थोड़े सचेत हो गये और सोचने लगे, हम वैसे दरवाजा तो खोल सकते हैं, पर जो भी है उसे ही प्रयास कर लेने देते हैं। बहुत अंधेरा था मात्र दीए की टिमटिमाती रोशनी दूर से हल्की-सी दिखाई दे रही थी।

खिड़की का दरवाजा खुला, कुछ गिरने की फिर आवाज हुई। धीरे-धीरे चार लोग अन्दर दुकान में आ गए। दुकान में कपड़े थे, उन लोगों ने चार कपड़ों की बड़ी-बड़ी पोटलियाँ बांध लीं और एक-दूसरे के सिर पर उन पोटलियों को रख दिया। तीन लोग तो एक-एक करके चले गये। अब जो चौथा था उसे भी अपनी पोटली उठाकर सिर पर रखना थी, पर वह इतनी भारी और बड़ी थी कि उससे अकेले उठते ही नहीं बन रही थी। पण्डित जी यह सब लेटे ही लेटे देख रहे थे, थोड़ी देर हो गयी, जब वह प्रयास कर परेशान हो रहा था, इतने में पण्डित जी स्वयं चुपचाप उठे और वह पोटली उसके सिर पर रख दी। पोटली सिर पर रखकर वह भी चला गया। वह इतना परेशान था कि उसने यह भी नहीं देखा कि यह पोटली किसने उठाई और सिर पर रखवाई है। वह चौथा व्यक्ति भी अपने गतंव्य स्थान पर पहुँच गया। सभी मिलकर आनन्द मनाते हैं और इसी बीच सभी आपस में चर्चा करते हैं कि चलो बहुत अच्छा हुआ आज बहुत आसानी से सामान मिल गया, किसी ने देखा भी नहीं और अपना काम हो गया। इतने में एक व्यक्ति बोला, अरे इतनी भारी पोटली थी तुमने उठवा दी, सभी ने एक दूसरे के सिर पर रखवा दी, बहुत अच्छा हुआ ऐसा सभी एक दूसरे से कह रहे थे इसी बीच जो बाद में आया था उससे पूछा कि तुझे किसने रखी? अब बस सब आनन्द समाप्त हो गया और वे यह सोचने लगे कि पाँचवाँ व्यक्ति कौन था, जिसने इतनी भारी पोटली तेरे सिर पर रखवा दी। वह व्यक्ति बोला अरे! तुम्हीं में से जो कोई वापिस पहुँचा होगा उसी ने तो रखवा दी होगी। सभी बोले हम कोई भी वापिस नहीं गये। अब तो बड़ी दुविधा वाली बात हो गयी कि किसने यह काम किया?

वे चारों व्यक्ति आपस में सोचने लगे कि हमने किसके यहाँ चोरी की है? वे कौन हैं? मानों या न मानों वे तो बड़े सज्जन धर्मात्मा होगें। तभी तो वे सामने नहीं आये। इतने में एक व्यक्ति ने कहा – अरे कहीं वे पण्डित जी तो नहीं थे, वह उनकी दुकान तो नहीं थी जो बहुत सरल स्वभावी धर्मात्मा हैं। सभी एक स्वर में समर्थन करते हुए बोलते हैं हाँ हो सकता है वे ही हों। पण्डित जी का नाम आते ही उन्हें ध्यान आ गया भइया वह उनकी ही दुकान थी, वे ऐसे-वैसे नहीं हैं, बहुत बड़े विद्वान, बहुत बड़े ज्ञानी हैं। पूरी समाज उनको आदर देती है। कभी एक नया पैसा यहाँ से वहाँ नहीं करते हैं। साथ में सभी के साथ बड़ा परोपकार करते हैं। समय पर

दुकान खोलते हैं और समय पर बंद कर देते हैं उनकी सीमा है मर्यादा है उससे अधिक वे किसी से कुछ लेते नहीं हैं कोई भी आ जाय। न टैक्स आदि चुराते हैं। राज्य, धर्म, समाज के विपरीत भी कोई कार्य नहीं करते हैं ऐसे व्यक्ति के यहाँ हम सबने चोरी की है। यह बहुत बुरा किया है हम लोगों ने, चोरी तो कर ली है, पर अब इस चोरी को पचाना बहुत कठिन है। यह सामान हम ले तो आये हैं लेकिन यह मेहनत और सत्य की कमाई का है यह हमारे पास टिकेगा क्या? अरे! जो स्वयं चोरी करके कमाते हैं उनके घर हम कोई चोरी करते हैं तो चोर-चोर मौसेरे भाई कहलाते हैं। किन्तु ये तो ऐसे महान व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने ईमानदारी से धन कमाया है और हमने ऐसा कार्य किया है? हम लोग कहाँ जायेंगे? वैसे चोरी करने का फल दुर्गति है, यह पाप हम कहाँ भोगेंगे? कैसे इसका कर्ज चुकायेंगे, बहुत मुश्किल है। कहते हैं चोरों का धन चोरों के यहाँ ठहरता है, पुण्यात्माओं का धन पुण्य स्थानों पर ठहरता है, ऐसे स्थान पर नहीं ठहर सकता। वे विचार करते रहे सभी, उनकी बुद्धि परिवर्तित हो गयी।

सभी ने विचार किया कि चलो भइया इसे यहाँ नहीं रखते हैं, वही ले चलते हैं जहाँ से लाये हैं। पण्डित जी इतने महान हैं कि हम सबका अपराध क्षमा कर देंगे, पण्डित जी बड़े उपकारी और सम्यक्‌दृष्टि थे। उपगूहन और स्थितिकरण अंग भी जानते थे, ऐसा नहीं था कि वे चोरों की बात का तुरन्त प्रचार करने लगें। अन्यथा वे चोरों को पोटली क्यों उठाते। पोटली उठा दी वह भी बिना बताये; हम लोगों को पता भी नहीं चला। वे बड़े करुणावान दयालु हैं। चलो हम सब यह सामान उन्हें दे आते हैं। दिन हो चुका था उन्होंने सोचा चलो देर अब नहीं करते हैं, देना ही है तो रात का क्या इंतजार; दिन में ही चलते हैं। सभी ने पोटलियाँ उठाईं और दुकान पर जा पहुँचे।

दुकान पर जाकर के सभी ने पण्डित जी को नमस्कार किया और पोटलियाँ उनके सामने रख दीं। हाथ जोड़कर सभी बोले आप बड़े ज्ञानी-धर्मात्मा हैं, हमें क्षमा करिए। यह बात हम सबको समझ में आ गयी कि चौथे व्यक्ति को किसने पोटली उठा कर रखी थी। पाँचवाँ व्यक्ति आपके अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकता। यह है आपका सारा सामान; आप जो चाहें दण्ड दे सकते हैं हमें सब स्वीकार है। आप जैसे महान आत्मा के यहाँ ऐसा कार्य कर बड़ा अपराध किया है

हमने। अब हम आपसे कुछ शिक्षा लेना चाहते हैं ताकि जीवन को कुछ नयी दिशा मिल जाये, आप कुछ बतलाइये। सारी बात समझ कर पण्डित जी ने कहा बस कुछ नहीं चलो तुम्हें पश्चाताप तो हुआ, हमने तुम्हें क्षमा किया। अब ऐसा करो कि तुम जो ले गये थे उसे तुम्हें ही को दे देते हैं, तुम लोग ले जाओ। वे सभी एक स्वर में बोले नहीं पण्डित जी इसे हम नहीं लेंगे। हम लोगों ने चोरी की थी, यह आपका है सब आप ही अपने पास रखें। पण्डित जी बोले अरे भइया तुमने चोरी की है, और तुम लोग उसे चोरी मानते हो, ठीक है, परन्तु हमें तो बड़ा सौभाग्य और श्रेष्ठ अवसर मिला है। कौन-सा सौभाग्य और कौन-सा अवसर मिला है आपको? मैं परिग्रह-परिमाणी हूँ, परिग्रह परिमाण मेरा व्रत है और मैंने सोचा कि अच्छा हुआ, बिना कहीं किसी को कुछ दिये या कहीं दान दिये बिना ही परिग्रह से हल्का हो रहा हूँ, मैंने उतने परिग्रह से उसी वक्त मोह छोड़ दिया और उसी समय का त्याग कर दिया, उतने की सीमा कर संतोष कर लिया यह मेरा सौभाग्य पूर्ण अवसर था।

देखो पण्डित बनारसीदास जी के जीवन का यह कितना अद्‌भुत-अनूठा दृष्टांत है। आपने देखा होगा जब धीरे-धीरे वर्षा होती है तो जल भूमि के अन्दर जाता है और जब वर्षा बहुत जोर से होती है तो वही जल ऐसे ऊपर से ही बह जाता है। कितना श्रेष्ठ चिन्तन-मनन था उनका चलो मेरा परिग्रह कम हो गया, मैं हल्का हो गया बिना प्रयास किये, यह सब छूट गया और कुछ चाहिए तो ले जाओ। इन सब बातों से व्यक्ति और भी अधिक प्रभावित होता है, वह सुधर जाता है, उसमें बुद्धि विवेक आ जाती है। तो वे चोर इतने प्रभावित हुये पण्डित जी के व्यवहार से कि सभी रोने लगे, बस इतना ही बोले कि हमने जो अपराध किया है इसे आप क्षमा कर दें और हम सबको कृपया कर निर्देशन दें, मार्ग बतलायें। पण्डित जी करुणा भाव से बोले कि प्रथम तो चोरी का त्याग करो तभी क्षमा होगी तब चोर बोले कि हम चोरी का त्याग तो कर देंगे पर हमारी आजीविका तो इसी से चलती है फिर वह कैसे चलेगी? अच्छा ठीक है पहले चोरी का त्याग करो, फिर हम तुम्हें बताते हैं कि तुम्हें क्या करना है? तुम्हारा जीवन उससे अच्छा ही रहेगा, मंगलमय रहेगा। ठीक हैं! ऐसा है तो हम लोग आज से चोरी का त्याग करते हैं। पण्डित जी बोले अब हम तुम्हें तुम्हारी आजीविका के लिए बतलाते हैं, यह जो सामान है हम तुम्हें पुरस्कार के रूप में दे रहे हैं, इसे ले जाकर गाँव गाँव में बेचकर व्यापार करो और जो

आमदनी हो उससे फिर सामान ले जाकर बेचो। स्वीकार है पण्डित जी! ऐसा कहकर वे चारों सामान ले जाकर काम करने लगे, उन पण्डित जी से ही सामान ले जाते, अब वे सुधर चुके उनकी आजीविका; मेहनत तथा ईमानदारी से चलने लगी। ऐसा व्यक्तित्व होना चाहिए कि व्यक्ति स्वयं ही अन्तस् से अपने जीवन में परिवर्तन ला सके अपने जीवन को अच्छा बना सके।

हम जानते हैं कि संसार की जो वस्तुएं हैं वे पर हैं, फिर भी उनमें मोह होता है, वे मूल्यवान लगती हैं, उन्हें छोड़ नहीं पाते हैं। आप गृहस्थ हैं, जल में भिन्न कमल है इस भांति अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। जो जल में भिन्न कमल की भांति जीवन व्यतीत करता है, वही आकिंचन्य धर्म का एक देश, एक अंश पालन करता है। यद्यपि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक से ही आकिंचन्य धर्म की साधना प्रारम्भ हो जाती है, परन्तु उसका जब तक पूर्ण रूपेण परिग्रह नहीं छूटता तब तक पूर्णतः आकिंचन्य धर्म का पूर्णतः पालन नहीं हो सकता है। व्यक्ति वीतराग की अवस्था में ही बाह्याभ्यंतर परिग्रह के त्याग से आकिंचन्य धर्म का पालन कर सकता है। आकिंचन्य धर्म; चर्चा का नहीं चर्या का विषय है, इसका उद्भव त्याग के बाद होता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी वारसाणुवेक्खा ग्रंथ में कहते हैं कि-

होऊण य णिस्संगो, णियभावं णिग्गहित्तु सुह दुहदं।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स अकिंचण्हं ।। 79।।

जो मुनि समस्त परिग्रह को छोड़कर, सुख-दुख देने वाले कर्म जन्य निज परिणामों का निग्रह करके निश्चिन्त तथा निर्द्वन्द्व आचरण करता है, (भयभीत नहीं होता) उसके पास आकिंचन्य धर्म होता है।

दृष्टि बदलती है तो सृष्टि भी बदल जाती है और जीवन भी बदल जाता है। जितनी वस्तुएं हैं उनमें सीमा बांध लेते हैं और सीमित हो करके रहते हैं तो एक प्रकार से अच्छा जीवन कहलाता है। गृहस्थ जीवन में भी मर्यादा पूर्वक रह सकते हैं, परन्तु यह ध्यान रखना है कि जो लोग पुनः त्याग की हुई वस्तु से मोह करने लग जाते हैं, वे अपने जीवन को बड़ी बाधा पहुँचाते हैं, तो ऐसे विचार करें कि अपनी वस्तु के अतिरिक्त जितनी भी वस्तुएं हैं वे सब पुद्गल हैं सब मिट्टी हैं। मिट्टी भी तो पुद्गल है। मिट्टी से सब चीजें बनी हैं जो आप देख रहे हैं। जैसे वृक्ष है वह कैसे

बना? तो मिट्टी से जो रस आया उससे तत्त्व मिले और वृक्ष बड़ा हुआ और एक दिन आयु पूर्ण हो जाती है, वह मिट्टी में मिल जाता है, मिट्टी से बना और मिट्टी में मिल गया। उसी प्रकार यह शरीर भी मिट्टी से बना है, मिट्टी से जो तत्त्व धान्य में आ गये, धान्य व्यक्ति खाता है उससे शरीर बन जाता है जीवन चलता है एक दिन आयु पूर्ण होने पर शरीर उस मिट्टी में विलीन हो जाता है मिट्टी की काया को मिट्टी में मिल जाती है। सभी चीजें मिट्टी से ही निकलती है चाहें चाँदी हो, सोना हो, लोहा हो आदि जो भी है सब मिट्टी (पृथ्वी) रूप पुद्गल हैं ऐसा समझ लेना चाहिए। एक बहुत ही सुन्दर दृष्टांत है जो जीवन की दिशा को बदल देता है।

पति और पत्नी दोनों लोग एक बार यात्रा को जा रहे थे। वे दोनों अणुव्रती थे, उन्होंने अपनी जीवन चर्या बड़ी ही सिस्टमेटिक बना रखी थी, सुबह से शाम तक सारा समय विवेक पूर्ण चर्या में व्यतीत करते थे, अधिकांशतः धर्मध्यान करते हुये त्यागमय जीवन जीते थे, वे आवश्यकतानुसार परिग्रह रखते थे शेष का त्याग कर देते थे। वे प्रतिमाधारी थे, नग्न पैर पैदल यात्रा को जा रहे थे। पैरों में चप्पल इस कारण से नहीं पहनी थीं, क्योंकि वे अणुव्रती थे, त्रस जीवों की हिंसा का त्याग किया था, चप्पल में कठोरता होती है, किसी भी त्रस जीव पर कठोरता सह पैर रख गया तो हिंसा हो ही जाती है। तो वे दोनों यात्रा करते हुए जा रहे थे। सिद्ध क्षेत्र, अतिशय क्षेत्र, मुनियों आदि के दर्शन उन्हें हो रहे थे। दोनों पति-पत्नी साथ-साथ में आनन्द पूर्वक प्रसन्नचित्त से जा रहे थे और भजन, स्तोत्र, गीत, पाठ आदि भी पढ़ते जा रहे थे। कई दिन हो जाते हैं यात्रा करते हुए, बड़े ही भक्ति भाव से वे दर्शन आदि करते थे।

एक दिन की बात है कि जब वे यात्रा करते हुए साथ-साथ चल रहे थे, दोनों स्तुति आदि पढ़ते हुये अपने में ही मग्न थे, पत्नी चलते हुए थोड़े आगे निकल जाती है वह यह ध्यान नहीं दे पाती है कि पति साथ में चल रहे हैं या नहीं। पर थोड़ी दूर चलने पर जब उसे कुछ साथ-साथ चलने की आहट नहीं मिलती, अहसास होता है कि पति साथ में नहीं तो वह वहीं रुक जाती है और थोड़ा इंतजार करती है कि पीछे आ ही रहे होंगे, पर वे एक जगह कुछ कर रहे थे। उसने वहाँ जाकर पूछा आप क्या कर रहे हैं यहाँ? क्या हो गया आपको जो यहाँ पीछे रह गये। कुछ काँटा आदि लग गया क्या? उसे निकाल रहे हैं। पति ने कहा - अरे नहीं भाग्यवान! कुछ नहीं हो गया था, मैं तो जरा ऐसे ही मिट्टी उठाकर डाल रहा था और कोई बात नहीं है।

पत्नी ने पूछा – मिट्टी क्यों डाल रहे थे वहाँ पर; क्या था वहाँ? बात ऐसी है कि वहाँ पर; एक सोने का हार पड़ा था, हमने सोचा इसे हम तो ले नहीं सकते, अपना तो त्याग है। अणुव्रत नियम लिया है कि जितना है उससे अधिक और नहीं रखेंगे। अपना मन इसे देखकर बदला नहीं है पर किसी और को इसे देखकर मोह न हो जाय, राग न आ जाय, उसका मन परिवर्तन न हो जाय इस कारण से थोड़ी सी मिट्टी उठाकर उस पर डाल रहा हूँ बस। पत्नी कहती है अरे! जरा विचार तो करो, तुम्हें अभी भी मिट्टी में अन्तर दिख रहा है। संसार के जितने पर पदार्थ हैं, वे सब मिट्टी हैं। हमने तो पहले से ही यह सोच रखा है कि अपनी वस्तु के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुएं मिट्टी के समान हैं। फिर अब भी उस मिट्टी और ये मिट्टी अलग-अलग दिख रही है आपको। जैसे इस मिट्टी को देखते जा रहे थे, वैसे ही उसे देखते हुए चले आते। आपको उस ओर ध्यान ही क्यों दिया? जरा सोचिए तो आप।

पहली बात तो यह है कि जब हम अन्य को पर वस्तु मान रहे हैं, तो ये भी पर वस्तु ही है, इससे व्रत में दोष आ जायेगा अपने लिए तो दोनों मिट्टी के समान है फिर उस पर मिट्टी क्यों डालना। दूसरा यह कि आपने उसे विशेष देखा, मतलब कि उससे आपने राग कर लिया, मोह कर लिया तभी तो मिट्टी डाल रहे थे। ये भी तो अपने व्रत में बट्टा लगाने का कारण हो गया। तीसरी बात यह है कि जब आपने उसे विशेष रूप से देखा और यदि ऐसे समय में वस्तु का मालिक आ जाता तो उसे शंका हो जाती कि कोई कुछ छेड़-छाड़ कर रहा है, आपको तो लेना नहीं था फिर भी उसे ढक रहे थे तो झगड़ा भी हो सकता है और मान लो जिसकी वस्तु है वह ढकने के बाद उसे ढूढ़ता हुआ आयेगा तो फिर क्या होगा? उसे वस्तु तो मिलेगी नहीं फिर उसे कितना कष्ट होगा? कितनी पीड़ा होगी? कितना दु:ख होगा? आप इस पर मिट्टी डाल रहे हैं, और ऐसे में कोई आकर देख ले और पूछ बैठे कि सावधान! क्या कर रहे हैं आप? उस समय गुस्सा तो नियम से आ ही जायेगा, फिर कषाय भी जग जायेगी, वह कह सकता है, कि चलो अपना काम करो, इतना तो जरूर सुनने को मिल सकता है ऐसे में मन तो खिन्न हो ही जायेगा अत: संसार में एक-एक क्रिया करना बहुत कठिन है। कहीं इसमें असत्य का समर्थन होता है, तो कहीं चोरी आदि का समर्थन होता है। शंका तो हर एक चीज में उत्पन्न हो सकती है। खाने-पीने, उठने-बैठने, चलने-फिरने, हँसने-रोने आदि में। यदि कोई हँस रहा है तो देखने

वाले को लग सकता है कि वह मुझे देखकर या मेरे ऊपर हँस रहा है। कोई रो रहा है तो शंका हो सकती है कि उसे कोई वस्तु चाहिए इसलिए रो रहा है। उचित यही है जो वस्तु जहाँ पड़ी है, उसे वहीं पड़ी रहने दो मिट्टी पर मिट्टी मत डालों वरन् दृष्टि को फेर लो।

यह संसार पापों से भरा है, आस्रव कहीं रुकता नहीं है वह चलता रहता है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि क्रिया जितनी कम कर सको उतनी कम करो, अधिक मत करो। यहाँ-वहाँ की क्रिया मत करो एकमात्र धर्म की क्रिया करो, किसी अन्य क्रिया में इन्ट्रेस्ट मत लो। धर्म की क्रिया करो, उसमें भी आस्रव होगा, लेकिन वह पुण्य का कारण है, पाप का नहीं है। वह क्रिया मोक्षमार्ग की सुविधा तो दिलायेगा आखिरी में तो वह क्रिया भी रुक जाती है, बस नासाग्र दृष्टि होकर हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाते हैं। मोह के उदय से ममकार और अहंकार होते हैं। ममकार और अहंकार करने से आत्मा में राग होता है। यह शरीर आदि मेरा है यही अभिप्राय होने पर ममकार कहलाता है तथा निश्चय से तो आत्मा से यह भिन्न है, पृथक है फिर भी उसमें उसे अपना मानना यह अहंकार है। जब ममकार करना परिग्रह है तो जिसका हम त्याग कर चुके हैं उसे ही प्रकारान्तर से अपनाना, उस ओर दृष्टि डालना, मन को ले जाना तो परिग्रह है ही। ममकार और ममत्व को छोड़ने का भाव तो बहुतों के मन में आता होगा, परन्तु संसार की आसक्ति उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। संसार की आसक्ति से किस प्रकार बच सकते हैं, इसका क्या कोई उपाय है? इस विषय में आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थ सूत्र में ममत्व को कम करने का उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि –

जगत्काय स्वभावौ वा संवेग वैराग्यार्थम् ।। 7/12

संवेग और वैराग्य भावों की वृद्धि के लिए संसार और शरीर की नश्वरता तथा भोगों की असारता रूप स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए तो करते रहो, ममत्व अपने आप क्षीण होगा। एक बार यदि संसार की असारता को जान लते हैं, समझ लेते हैं तो फिर वे हमें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकतीं। संसार की नश्वरता और आत्मा की अमरता को जानने वाला ही ममत्व-ममकार पर विजय पा सकता है। आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थ सूत्र के सातवें अध्याय में ही मूर्च्छा को परिग्रह परिभाषित करते हैं कि **मूर्च्छा परिग्रहः ।** मूर्च्छा का अर्थ परिग्रह है, पर द्रव्य में

ममत्व बुद्धि का नाम मूर्च्छा है। इस संदर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहते हैं कि –

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्व परिणामः ।।111।।

यह जो मूर्च्छा है निश्चय से इसे ही परिग्रह जानना चाहिए मोह के उदय से उत्पन्न हुआ ममत्व स्वरूप परिणाम ही मूर्च्छा है।

किसी भी पर पदार्थ को ममत्व भाव से ग्रहण करना, उसमें ममता, मूर्च्छा, लोलुपता, आसक्ति रखना परिग्रह है। परिग्रह ही दुःख, आकुलता, व्याकुलता, अशांति, समस्त संकल्प-विकल्पों, हृदय की कलुषता को उत्पन्न करने में कारणभूत है। परिग्रह ही समता भाव का शत्रु, आपत्तियों का जनक, पापों की खान, नय रूपी सन्मार्ग का घातक, समस्त अनर्थों-झगड़ों की जड़, दुर्गति का द्वार, स्वर्ग तथा मोक्षमार्ग का निरोधक, आर्त्तरौद्र ध्यान का कारण, नरक का सरल मार्ग है भइया। संसार में परिग्रह ही पाप का मूल है, जिसने इसके साथ संबंध किया संसार में उसी का पतन हुआ, चाहे वे सुभौम, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हो, रावण प्रतिनारायण हों या अन्य; उन्होंने कष्ट ही पाया है। दूसरी ओर भरत चक्रवर्ती, बाहुबली आदि जैसे महान व्यक्तित्व हुए जो निष्परिग्रही हुए समस्त सम्पदा को त्याग कर मुनि बने और केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष भी प्राप्त कर लिया। आचार्य शुभचन्द्र ज्ञानार्णव ग्रंथ में लिखते हैं –

आकिञ्चन्योऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ।। 110।।

मैं आकिंचन्य हूँ, यह प्रतीति कर लो, तीन लोक के अधिपति बन जाओगे। योगियों के द्वारा प्राप्य परमात्मा का यही रहस्य है। जो इस रहस्य को जान लेते हैं, वे बाह्य वैभव में नहीं फँसते। चौबीस परिग्रह से यदि जीवन में हम विदा ले लेते हैं तो आकिंचन्य सहज में प्रतिफलित हो जाता है। धर्म भावना शतक में लिखा है कि –

सकल ग्रन्थ का त्याग जहाँ हो, वह शुभ आकिञ्चन्य रहा।
जिनका सुख-दुःख जनित भाव में, नित सम-भाव सुधन्य रहा।।

सभी तरह की चिन्ताओं से, जिनका मन वह दूर रहे।
संयम, त्याग, तपों, ध्यानों में, जिनका मन संपूर्ण रहे ।।77।।
अंतरंग, बहिरंग संग ये, भव-वन में अटकाते हैं।
समता के जो धारक मुनिजन, छोड़ सभी सुख पाते हैं।।78।।

चौबीस परिग्रह में चौदह प्रकार के अंतरंग जो परिग्रह हैं उनमें सबसे प्रथम मिथ्यात्व परिग्रह है यह भव भ्रमण का कारण है तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होना ही मिथ्यात्व है। अगृहीत मिथ्यात्व है तो शरीर आदि में एकत्व है और यदि मिथ्यात्व नहीं है तो फिर शरीर की उपज में अपनी उपज नहीं मानोंगे।

भइया यदि मिथ्यात्व परिग्रह छूट गया तो शेष तेईस परिग्रह वे एक दिन छूट ही जायेंगे और यदि तेईस परिग्रह छोड़ भी दिए किन्तु मिथ्यात्व को छोड़ा नहीं तो वे जो तेईस परिग्रह थे, पुनः लौट कर आ जाते हैं। कई बार बहिरंग परिग्रहों को छोड़ा है और फिर वे कई बार लौट कर भी आ गये। जानते हो इसका कारण क्या है ? जो लोग खेती करने के कार्य से जुड़े हैं वे जानते हैं कि फसल के लिए बीज की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। जैसे किसी को गन्ने की फसल चाहिए तो वह यह बखूबी जानते हैं कि एक बार गन्ने की फसल को काट लेने के बाद उसमें पुनः गन्ने का बीज नहीं बोते हैं क्योंकि गन्ने को उन्होंने काटा है, उसको जड़ से उखाड़ा नहीं है और वह खेत में जड़ बीज रूप में शेष रहता है जिससे फसल पुनः उग जाती है, वह शेष जड़ गन्ने को उत्पन्न करने में कारण बनती है। इसी प्रकार मिथ्यात्व परिग्रह संसार, दुःख और समस्त अनर्थों की जड़ है। मिथ्यात्व का कोई अन्त भी नहीं है। मिथ्यात्व को जिसने नहीं छोड़ा तो समझ लीजिए वह कुछ प्राप्त नहीं कर सकता, उसने अपने जीवन में कुछ भी नहीं पाया। यदि अपने जीवन से अगृहीत मिथ्यात्व को नहीं छोड़ सकते हैं तो कम से कम गृहीत मिथ्यात्व को छोड़ ही सकते हैं। यदि गृहीत मिथ्यात्व को भी छोड़ दिया तो मानों आपने अध्यात्म तत्त्वज्ञान की प्रथम सीढ़ी पर अपना पग बढ़ा दिया और जब तक गृहीत मिथ्यात्व साथ में है तब तक चाहे कितना भी धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा, जाप आदि क्यों न कर लो, वे सब निरर्थक ही कहलायेगें, वे बंजर भूमि में बीज बोने के सदृश ही होंगे। इसीलिए जब तक मिथ्यात्व से मुक्ति होने की चेष्टा नहीं करेंगे, तब तक आकिंचन्य धर्म समझ से मुक्त होने की चेष्टा नहीं करेंगे, तब तक आकिंचन्य धर्म समझ में भी नहीं

आएगा, पालन करना तो बहुत दूर की बात होगी बस ऐसा ही है इधर से सुन लिया और उधर से निकाल दिया यही होगा। जैसे कि चिकने घड़े की अवस्था होती है सब जानते ही है पानी उस पर टिकता ही नहीं है।

वास्तव में एक आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी मेरा नहीं है, कोई पदार्थ मेरा नहीं है, सब पदार्थ पर हैं, मैं एक परमात्म स्वरूप वाला हूँ, **अतो न किंचत् परतो न किंचित्, यतो यतो यामि ततो न किंचित्** यहाँ कुछ नहीं है, वहाँ कुछ नहीं है। जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ कुछ नहीं है अर्थात् दृष्टि भ्रम है सब। चिन्तन करते हैं तो यह अनुभव होता है कि संसार कुछ नहीं है और यहाँ आत्म बोध से विशिष्ट प्राप्तव्य कुछ भी नहीं है, ऐसा समझकर आत्मा में लीन होना आकिंचन्य धर्म है और वहीं मुक्ति का मार्ग है। आकिंचन्य का ज्ञान ही तत्त्व का सार है। जब व्यक्ति आकिंचन्य धर्म को समझ लेता है तो वह सब कुछ त्याग देता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में आचार्य लिखते हैं कि -

ति-विहेण जो विविज्जदि, चेयणमियरं य सव्वहा संगं।
लोय-ववहार-विरदो णिग्गंथत्तं हवे तस्स।।402।।

लोक व्यवहार से विरक्त मुनि चेतन और अचेतन परिग्रह को मन, वचन, काय से सर्वथा छोड़कर आकिंचन्य धर्म का पालन करते हैं। त्याग करने के बाद इतना अवश्य ध्यान रखें कि दृष्टि कहीं उलझना नहीं चाहिए क्योंकि त्याग से आकिंचन्य का बोध होना चाहिए, उन्हें मन में जरा सा भी खेद नहीं होना चाहिए। आकिंचन्य शुद्ध ध्यान की शक्ति का पुंज है और यह निर्भयता को देने वाला है। ममत्व को विगलित करने वाला है। हर समय अपने शरीर से भी विरक्त होना और मेरा कुछ भी नहीं है यह विचार करने से हम पूर्ण आकिंचन्य तक पहुँच सकते हैं।

मैं मद्रास की बात कहूँ। तमिलनाडू में जब ससंघ विहार चल रहा था, मद्रास के डी.जी.पी. (एस. श्रीपाल) और अन्य लोगों की भावना थी कि मद्रास; महाराज श्री पधारें और उन्होंने वहाँ के विहार की व्यवस्था की। उन्हें बहुत चिन्ता थी, कोई अप्रिय घटना न घटे, इसलिए समस्त विहार रास्ते से संबंधित पुलिस स्टेशनों को आर्डर करवा दिये और कुछ पुलिस गार्ड विहार में साथ चलते थे। जहाँ पर विहार करते हुए चलते वहाँ जो पुलिस स्टेशन पड़ता वहाँ के पुलिस अधिकारी

आदि सभी आकर आदर देते, विनय करते और पैदल भी कई बार वे साथ में चलते थे। जहाँ हम सबको पहुँचना था वहाँ से करीब बीस कि.मी. दूर मद्रास का दि. जैन मंदिर रह गया था। संघ सहित जा रहे थे। सुबह का समय था, इस दिन डी.जी.पी. के पिता जी भी विहार में साथ चल रहे थे, बीच में एक स्थान पर आहार चर्या का स्थान था उससे करीब एक कि.मी. दूर एक फार्म पर शौच क्रिया करने गये थे वहाँ से वापिस आने पर एक व्यक्ति सामने से आया और बहुत रोषपूर्वक देखने लगा। किसी से उसने कुछ नहीं कहा, मात्र देखकर चला गया। डी.जी.पी. के पिता जी आदि सभी चलने लगे करीब थोड़ी दूर चले थे, दस कदम की दूरी तक दस-पन्द्रह लोग अस्त्र-शस्त्र से तैयार सामने आ गये। उनका जो प्रमुख था वह तो हाथ में नंगी तलवार लिये सबसे आगे था। उस दिन क्या था पांडिचेरी से वहाँ का गवर्नर आ रहा था इस कारण पुलिस व्यवस्था वहाँ व्यस्त थी, जो पुलिस गार्ड साथ चल रहे थे उन्हें भी उसी व्यवस्था में लगा दिया था। वहाँ एक ऐसी व्यवस्था है कि हर एक दस कि.मी. पर एक एस.पी. रहता है। जहाँ हम चल रहे थे, वही पास से ही गवर्नर को निकलना था। जो अस्त्र-शस्त्र से तैयार आये थे वे अचानक सामने आ गये इससे पूर्व किसी को जरा भी आशंका नहीं थी कि इस प्रकार घटना भी कोई हो सकती है। खैर सब लोगों ने देखा, कोई कुछ नहीं बोला, हम लोग तो चलते रहे रुके नहीं, इतने में पता नहीं पीछे से दो पुलिस वाले न जाने कहाँ से आ गये और उन्होंने उन्हें एकदम पकड़ कर तलवार वाले को एक तरफ कर दिया यह किसी को समझ में नहीं आया कि अचानक वे आ गये और पुलिस भी कहाँ से आ गयी एकदम मौके पर। हमने तो उस समय सोचा कि अब आज जो होना होगा, हो जायेगा, शरीर का भी त्याग। सब कुछ छूट गया अब कुछ भी मतलब नहीं है। बस अपने चिन्तन में लीन होकर चलते रहे। मन में गुरु के द्वारा दिये गये मंत्र का जाप चल रहा था और सब अपने आप दूर हो गया। देखो कैसे लोगों का पुण्योदय आया, ऐसे अतिशय से हो जाते हैं कभी-कभी।

घटना जो होनी थी बस यहीं हो गयी, अपने स्थान पर पहुँच गये। आहार चर्या हुई। सामायिक आदि करके जब उठे तो देखा शहर से कुछ लोग आने लगे थे, वे आकर बैठ गये। हमने समझा शायद इन्हें पता लग गया कि महाराज जी आ गये हैं इसलिए प्रवचन सुनने आ गये हैं। हमने प्रवचन प्रारम्भ कर दिया व जब प्रवचन

का समय पूरा हो गया और हम सब उठकर के नीचे आये तो बाहर देखा कि लाईन से दोनों और पुलिस खड़ी है, लाल बत्ती की गाड़ियाँ खड़ी थीं, आसपास छतों पर खड़े-खड़े लोग देख रहे थे, बहुत भीड़ थी। हमें समझ में नहीं आया यह सब क्या है। फिर शहर के लिए विहार किया जब चलने लगे तब एकाएक ध्यान आया कि अरे! सुबह जो हुआ था शायद उसके कारण यह व्यवस्था हो रही है। यहाँ से करीब दस-पन्द्रह कि.मी. ही चलना था, डी.जी.पी. जो दिगम्बर जैन थे उनके पिताजी भी साथ में चल रहे थे एस.पी. ने कहा आप पैदल क्यों चल रहे हैं गाड़ी में बैठ जाइये, उन्होंने एस.पी. साहब से कहा आप ही बैठ जाइये पर एस.पी. साहब तो पैदल ही आर्डर देते हुए चलते रहे, स्वर्णभद्र जी को गाड़ी में बिठवा दिया था एस.पी. साहब दस कि.मी. तक पैदल ही चलते रहे उनका सारा शरीर पशीने से भींग रहा था फिर भी उन्होंने कोई परवाह नहीं की। जब उनका एरिया पूर्ण हो गया तो वह रुक गये । रुककर नमस्कार किया, हमने उन्हें आशीर्वाद दिया, फिर दूसरे एस.पी. साथ में आ गये थे। देखों उस एस.पी. ने पैदल चलकर अपनी विनय व्यक्त की और ड्यूटी को समझा, वह चाहता तो गाड़ी में भी बैठ सकता था, उसे पैदल चलने की कोई आवश्यकता नहीं थी, पर उसने अपने कर्तव्य को समझा। प्रात: होने वाली तलवार के उपसर्ग वाली घटना जो भले टल गई उसी के लिए पैदल चलकर एक प्रायश्चित्त किया हो मानो। लेकिन मैंने तो तलवार को देखते ही शरीरादि से ममत्व तज आकिञ्चन्य भावधारण किया था और प्रभु नाम मात्र जपा था।

आचार्य कहते हैं कि जहाँ ममत्व विगलित हो गया, मेरा कुछ भी नहीं है यह भाव आ गया वहीं आकिंचन्य धर्म है। धर्मभावना शतक में लिखा है कि -

बालमात्र सम संग परिग्रह, पापों का जो है कारण।
राग भाव को पैदा करके, दु:ख का करता संपादन।।
पर पदार्थ से ममता छोड़े, वह कहलाता है ज्ञानी।
व्रत आकिंचन होता उसके, फिर वह बनता है ध्यानी ।।84।।

आत्म स्वभाव में जो सन्तुष्ट जो हैं, आत्म में ही रमण कर रहे हैं। उन्होंने ही पर पदार्थों को छोड़कर आत्मा की शुद्धता को पाया है। मेरी आत्मा के अतिरिक्त मेरा कुछ नहीं है, इस बात को कहना जितना सरल है, जीवन में धारण कर पाना उतना ही कठिन है। हम लोग भी ऐसे आकिंचन्य धर्म को प्राप्त करने के लिए

पुरुषार्थ करेंगे और कैसे महान आत्माओं ने त्याग किया है, कैसा पुरुषार्थ किया है, चाहे वे तीर्थंकर भगवंत हो और चाहे हो वे मुनिराज बाहुबली, जम्बूस्वामी, सनतकुमार चक्रवर्ती, सुकुमाल स्वामी या सुकौशल, गजकुमार, यशोधर आदि मुनिराज उनके जीवन चरित्र को जानें उनके त्याग और पुरुषार्थ को जानकर आकिंचन्य धर्म को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ पूर्वक थोड़ा-थोड़ा त्याग करें। बनारसीदास जैसा भाव श्रावक भी अपने जीवन में लायें कि चला गया तो चला गया हल्के हो गये हम। उन पति पत्नी के दृष्टान्त से शिक्षा लें कि किसी भी वस्तु को ज्यादा देख लिया राग से तो उसमें भी गड़बड़ हो जाती है अपने व्रत में बट्टा लग सकता है इसलिए भइया ये सब मिट्टी समझो। गहनता से चिन्तन नहीं होता है तभी भटक जाते हैं। अपन स्वेच्छा से त्यागें, उसी से पुण्य मिलता है, उसी से धर्म होता है, उसी में कर्मों की निर्जरा होती है और यदि हम लोग उसे नहीं त्यागेंगे या नहीं छोड़ेंगे तो वह स्वयं छूटने वाला तो है ही। ये जितने भी पदार्थ हैं वे सब चिन्तायें उत्पन्न करते हैं और हम उनकी जितनी चिंता में उलझते चले जाते हैं, उतने परेशान हो जाते हैं तो भइया जितना परिग्रह बढ़ाओगे उतने ही टेंशन में चले जाओगे। आप लोग नित प्रति देखते ही होंगे कि जितने बड़े बनते हैं, या बड़े हैं चाहे वे राजा, महाराजा, मिनिस्टर आदि क्यों न हों उनसे पूछों उन्हें खाने तक की भी फुर्सत नहीं है और यदि खाने को बैठ भी गये तो शंका होती है कि यह भोजन ठीक है कि नहीं इसमें कहीं विष तो नहीं मिला होगा? क्योंकि जितने बड़े लोग बनते हैं, परिग्रही बनते हैं, उतनी ही शत्रुता भी बढ़ती है, इसलिए भइया छोटे सज्जन अच्छे। इतना ध्यान रखें कि चाह की दाह को तजने वाला ही शहनशाह महाराज होता है। कहा भी है कि-

चाह गयी चिन्ता मिटी मनुआ वे-परवाह।
जिसको कुछ नहिं चाह है, वह शहनों के शाह।।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

आत्मरमण ही है ब्रह्मचर्य

मङ्गलाचरण

धर्मः सर्व सुखाकरो हितकरो, धर्मं बुधाश्चिन्वते।
धर्मेणैव समाप्यते शिव सुखं धर्माय तस्मै नमः ।।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवभृतां धर्मस्यमूलं दया।
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म! मां पालय ।।

सद्धर्म बन्धुओं।

पर्यूषण पर्व की पावन वेला में आज अंतिम दिन उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म पर चिंतन करेंगे साथ ही हम सभी को एक और महामंगल सुअवसर प्राप्त हुआ है। आज देवाधिदेव बारहवें तीर्थंकर भगवान वासुपूज्य जी का निर्वाण दिवस सब लोगों ने मनाया। ऐसे बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकर जिस स्थिति से मुक्ति को प्राप्त हुये, हम सभी ने भावना भायी है कि प्रभुवर हमें भी ऐसे दशलक्षण, षोडसकारण आदि व्रतों के माध्यम से आप जैसा मुक्ति का लाभ हो। हम सब लोग आज के ब्रह्मचर्य धर्म पर चर्चा करने बैठे हैं, ब्रह्मचर्य का पालन कैसे करना है? इसके भी पहले यह जाने कि ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं?

ब्रह्मणि आत्मनि चरतीति ब्रह्मचर्य : ब्रह्म का अर्थ है निर्मल ज्ञान स्वरूप आत्मा। जो शुद्ध है बुद्ध है शाश्वत् आनन्द स्वरूप है। चर्या, चरण, लीनता आदि एकार्थ वाचक शब्द हैं। इस प्रकार अपनी आत्मा में उतर जाना उसमें चर्या करना ब्रह्मचर्य है। जब तक मनुष्य ब्रह्म यानि आत्मा में चर्या नहीं करता तब तक आत्मा भिन्न द्रव्यों में रतिभाव रखता है और रति या राग आदि से कर्मों के बंधनों में बंधता है। संसार की असारता को जानने वाले भव्यजीव उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन कर कर्म निर्जरा द्वारा मोक्ष पथ प्रशस्त करते हैं। प्राभृत में आचार्य देव ने कहा भी है – **सीलं मोक्खस्स सोपाणं** (शी.पा.गा. 20)शील मोक्ष का सोपान है। आत्मा में ही रमण करना उत्तम ब्रह्मचर्य है। उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी कषायों का त्याग करने से ही सम्भव है। जो आत्मा में अर्थात् आत्म-स्वरूप में आचरण या रमण करता है वही निश्चय दृष्टि से उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन

करता है। व्यवहार में संयम पूर्वक रहना ब्रह्मचर्य है। व्यवहार में ब्रह्मचर्य व्रत को यथाशक्ति ग्रहण कर गृहस्थ भी जीवन को धर्ममय बनाकर वीतरागता का क्रमशः अभ्यास करते हुए अध्यात्म की ओर जीवन आगे बढ़ा सकते हैं।

ब्रह्मचर्य का पालन करने से अपनी शारीरिक एवं आत्मिक शक्ति का प्रयोग ध्यान करने में लगाया जाता है। सामान्य व्यक्तियों की शक्ति कुशील में व्यर्थ चली जाती है, अतः उन लोगों को ध्यान की सिद्धि होना दुर्लभ है। योग मार्ग पर आने के लिए भोग मार्ग को तिलांजलि देना परमावश्यक माना है। व्रत और चारित्र की सिद्धि बिना ब्रह्मचर्य के नहीं होती है।

ब्रह्मचर्य सामान्य रूप से तो घर गृहस्थी में रह कर व्रत की किसी रूप विशेष से सीमा बना कर प्रारम्भ किया जाता है। सप्तव्यसन त्याग से यह साधना रूप में प्रारम्भ हो जाता है। परस्त्री और वेश्यागमन के त्याग से या क्रमशः आगे बढ़कर पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत या क्रमशः ब्रह्मचर्य अणुव्रत के रूप में स्वदार संतोष व्रत, तत्पश्चात् श्रावक की प्रतिमाओं के रूप में द्वितीय आदि प्रतिमाओं में पर्वादि के निमित्त साधना बढ़ाई जाती है और सप्तम प्रतिमा में मन वचन और काया से भी पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण कर लिया जाता है। इसके अंतर्गत अपनी स्वकीय स्त्री को भी बहिन के समान, अपने पति को भाई के समान मानते हैं फिर दसवीं प्रतिमा के आगे घर का त्याग कर देते हैं। उन ग्यारहवीं प्रतिमाधारियों का ब्रह्मचर्य श्रावकों में श्रेष्ठ होता है क्योंकि सीमायें बढ़ती जाती हैं। ब्रह्मचर्य महाव्रत; मुनियों के ब्रह्मचर्य के रूप में अठारह हजार शील भेदों के साथ पाला जाता है। इसमें मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से अब्रह्म के सेवन का त्याग कर देते हैं। मुनिराज अपने पुरुषार्थ के द्वारा सभी प्रकार के पापों को त्याग करके अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाते हैं, मन को एकाग्र करते हैं, गुप्तियों में लीन होकर आत्मा को इतना विशुद्ध बना लेते हैं कि वे सामने कुछ भी रूप देखें तो भी उन्हें विकार उत्पन्न नहीं होता है। उनकी भावनायें कितनी श्रेष्ठ हो जाती हैं यह समझने की बात है। उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म का पालन छटवें, सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों से प्रारम्भ हो जाता है। मुनिराज सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म यानि आत्मा, चर्य यानि चर्या करना अर्थात्-ब्रह्म रूपी आत्मा में चर्या करते हैं यही स्वभाव है। ऐसे ब्रह्मचर्य की परिपूर्णता तो तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में जाकर होती है। परिपूर्ण पालन केवली भगवान बनने के अनन्तर जब योग का निरोध हो

जाता है तो चौदहवें गुणस्थान में शील के अठारह हजार भेदों से यह आत्मा विभूषित हो जाती है और दूसरे ही क्षण परम ब्रह्म परमात्मा बन जाते हैं। शील की परिपूर्णता ही परमात्म अवस्था है। सिद्ध परमात्मा बन जाने के एक समय पहले तक शुक्ल ध्यान चलता है। ध्यान के लिए उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म का दश धर्मों में विशिष्ट महत्त्व रखता है। ब्रह्मचर्य धर्म की उत्तम ध्यान की प्रसिद्धि में विशेष महत्ता है। धर्म भावना शतक में सार रूप में लिखा है :-

परम ब्रह्म जो निज आतम है, उसमें यतिजन रमते हैं।
आत्म तत्त्व के अधिकारी वे, शील गुणों से सजते हैं।।
शील अठारह हजार जिनके, पालक वे मुनिजन होते।
निर्विकार हो निर्भयता से, पाप मैल को वे धोते ।। 86।।
आत्म ब्रह्म में चर्या कर यति, समता रस का पान करें।
विषय सुखों के त्यागी मुनिवर, धर्म, शुक्ल वे ध्यान करें।।
जिनका पावन उत्तम जीवन, सबके मन का मैल हरे।
अतः जगत् सेवाकर शुभगुण, पाने जय-जयकार करे।।87।।

वह उत्तम-श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य जिन मुनियों को प्राप्त होता है, वे कैसे होते हैं? इस विषय में आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी ने वारसाणुवेक्खा ग्रंथ में लिखा है -

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि रदिभावम्।
सो बह्मचेर भावं सक्कदि खलु दुद्धरं धरदि ।।80।।

जो मुनि स्त्रियों के समस्त अंगों को देखता हुआ उन स्त्रियों में रति भाव-राग भाव को प्राप्त नहीं होता अर्थात् - उनमें राग रूप बुरे परिणाम करना छोड़ देता है वह मुनि निश्चय ही दुर्द्धर ब्रह्मचर्य धर्म को धारण करने के लिए समर्थ होता है। मतलब अर्थ यह है कि जो भी रूप स्वरूप देखते हैं वह मात्र एक दृश्य है और दृश्य में अगर राग-द्वेष कर लेते हैं तो कर्मबंध का कारण बनता है। नहीं तो वही बात -

अचेतनमिदं दृश्य, मदृश्यं चेतनं तथा ।
क्वरुष्यामि क्वतुष्यामि मध्यस्थोऽहम् भवाम्यतः ।। 46।।

हमारी आंखों के सामने यह दृश्य दिख रहा है वह अचेतन है। 'इदं दृश्यं अचेतनं' और 'अदृश्यं चेतनं तथा' हमारी आत्मा तो अदृश्य है चेतन है, किसमें राग

करूं, किसमें द्वेष करूं ऐसा विचार करते हैं क्योंकि जो दिख रहा है, वह मैं नहीं हूँ और जो मैं हूं वह दिख नहीं रहा है, अपना भाव किसमें लगाऊँ। आँखों के सामने जो कुछ है निश्चित रूप से अपना नहीं है और जो अपना है सो आँखें उसे देख नहीं सकतीं। अतः आचार्य श्री की मूकमाटी में इसी भाव को लिये हुए कविता है -

बाहर यह जो कुछ भी दिख रहा है
सो..... मैं..... नहीं..... हूँ और वह मेरा भी नहीं है (पृ. 345)

अर्थात् दृश्यमान यह जो बहिर्जगत है, वह मैं नहीं हूँ, न वह मेरा है, मैं इससे भिन्न हूँ। न मैं विश्व रूप हूँ अर्थात् पुद्गल रूप हूँ, न यह जड़ मेरे रूप है। मैं देख सकता हूँ परन्तु आँखें होते हुए भी स्व को देख नहीं सकता। हाँ स्वयं का स्रजनकर्ता था, हूँ और रहूँगा तथा सभी का दर्शक था, हूँ और रहूँगा। इस प्रकार से हम जानें, समझें। स्त्रियों का कोई भी रूप क्यों न दिखता हो, कभी उसमें राग-द्वेष नहीं करना ही उत्तम ब्रह्मचर्य है। इसमें भी पाँचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग होता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में आचार्य ने उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है-

जो परिहरेदि संगं महिलाणं णेव पस्सदे रूवं।
काम-कहादि-णिरीहो णव-विह-बंभं हवे तस्स ।।403।।

जो मुनि स्त्रियों की संगति नहीं करता है उनके रूप को नहीं देखता है, काम की कथा आदि शब्द से, स्मरणादिक से रहित होता है उसके मन वचन काय और कृत-करित-अनुमोदना के भेद से नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य होता है।

पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने से ही ब्रह्मचर्य का पालन होता है। आचार्यों ने कहा है कि-जहाँ स्पर्शन इन्द्रिय के आठ, रसना के पाँच, घ्राण के दो, चक्षु के पाँच, कर्ण के सात व मन का एक विषय इन २८ विषयों में राग-द्वेष का पूर्णतया त्याग करना ही ब्रह्मचर्य है। ऐसे त्यागी २८ मूल गुणधारी मुनि ही होते हैं। गृहस्थ अवस्था में तो मात्र ब्रह्मचर्य का शुभारम्भ होता है। वैसे स्पर्शन और रसना ये दो कामेन्द्रियाँ मानी गयी हैं। स्पर्श करने से जो अच्छा लगता है उसको भोगने की जो इच्छा करते हैं और उसमें समता नहीं रख पाते हैं, उसमें राग-द्वेष कर लेते हैं वे ब्रह्मचर्य को नहीं पाल सकते। इसी प्रकार जो रसना इन्द्रिय के खान, पान पर समता

रखकर विजय प्राप्त नहीं कर पाते वे भी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर पाते। इसलिए दोनों इन्द्रियों को काबू में लाना चाहिए। इन दो पर लगाम लगते ही समस्त इन्द्रियों पर तो क्या जितने भी विषय हैं सभी पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। अत: पहले नम्बर इन दो इन्द्रियों को संभालने की बहुत आवश्यकता है। क्योंकि इनके वशीभूत होने वाले पंचेन्द्रियों के दास बन करके अनेक प्रकार के आस्रवों के द्वारा दुर्गति के द्वार भी खोलते हैं।

हमारे आचार्यों, महामुनियों से ये हम शिक्षा पाते हैं कि वे ऐसे महान ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं जो साधना के क्षेत्र में वृद्धिंगत होते-होते अपनी आत्मा में भी लीन हो जाते हैं, बाह्य में कुछ भी संबंध नहीं रहता तभी अठारह हजार प्रकार के शील रूप ब्रह्मचर्य का पालन होता है। सचेतन स्त्री तो दूर की बात है, अचेतन स्त्री जो काष्ठ, पाषाण, चित्राम आदिक में है, उसको भी स्पर्श नहीं करते, न स्त्रियाँ उनको स्पर्श कर सकती हैं। यदि अनजाने में, धोखे से कोई स्त्री स्पर्श कर लें तो वे प्रायश्चित्त करते हैं। इस प्रकार यह ब्रह्मचर्य धर्म महान व्रत होता है। आचार्यों ने इसलिए तो ***स्वभावतौ शुचौ काये रत्नत्रय पवित्रिते*** कहा है। मतलब स्वभाव से अशुचि होकर के भी यह काया रत्नत्रय के माध्यम से पवित्र होती है, पूज्य बन जाती है। जब रत्नत्रयरूपी धर्म के माध्यम से अपनी आत्मा को पूज्य बनाने का प्रयास करते हैं, सम्पूर्ण रूप से पापों से दूर होकर के कर्मों का क्षय करके परम शुद्ध बन जाते हैं तो यह आत्मा अपने आप पूज्य बन जाती है। पूज्य बनने की चाहना नहीं होना चाहिए। यह तो स्वयमेव ही उसके योग्य बन जाती है, जिसके हृदय में ब्रह्मचर्य की भावना है, वह सदा शुद्धता को प्राप्त होता है और यही व्रत मोक्ष-मार्ग का मूल व्रत कहा जाता है। अनगार धर्मामृत में आशाधर जी ने ब्रह्मचर्य के विषय में लिखा है - ''शुद्ध और बुद्ध अपने चित्स्वरूप ब्रह्म में पर द्रव्यों का त्याग करने वाले व्यक्ति की अप्रतिहत परिणति रूप जो चर्या होती है उसी को ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह व्रत समस्त व्रतों में सार्वभौम के समान है,जो इसका पालन करते हैं वे ही सर्वोत्कृष्ट आनन्द मोक्ष-सुख को प्राप्त किया करते हैं।'' आत्मोपलब्धि के लिए किया जाने वाला आचरण ही ब्रह्मचर्य है। आत्मोपलब्धि ही परम ब्रह्म की उपलब्धि है। आत्मज्ञान के अभाव में ब्रह्मचर्य घटित नहीं हो सकता। आत्मा में डूबना ही यथार्थ ब्रह्मचर्य है। आत्मानुराग तो ब्रह्मचर्य के अमृत से अनुप्राणित है।

ब्रह्मचर्य के विषय में जितनी सूक्ष्मता कही गयी है जैन दर्शन में, उतनी और कहीं पर भी नहीं कही गयी है। मैं जब भोपाल में था उस समय वहाँ से विहार करते हुए भोजपुर को जा रहे थे। बीच में एक स्थान पड़ा था, वहाँ नया मंदिर बन रहा था। एक दिन वहाँ पर रुके। प्रात: काल बाहर जंगल की ओर जा रहे थे, तो मेन रोड क्रॉस कर रहे थे तभी किसी ओर रोड चलती गाड़ी में से किसी व्यक्ति ने देखा और उसने थोड़ी दूर जाकर गाड़ी रोकी तथा किन्हीं लोगों से उसने पूछा ये संत जी कहाँ पर जा रहे हैं? उन्होंने कहा-अभी बाहर जंगल की ओर गये हैं थोड़ी देर में आयेंगे, एक स्थान पर प्रवचन की व्यवस्था है, वहाँ प्रवचन होंगे। उस व्यक्ति ने कहा ठीक है, हम भी फिर आते हैं।

वह व्यक्ति फिर प्रवचन में आया। प्रवचन के उपरांत बोला कि हम क्रिश्चियन का जो चर्च होता है वहाँ के मुख्य हैं। चर्च की व्यवस्था संभालते हैं। आपको देखकर और सुनकर हमें बहुत अच्छा लगा कि ऐसा भी कोई रूप है, ऐसी भी कोई साधना है कि इस रूप में रहकर भी इतने अच्छे मनोभावों के साथ रहा जा सकता है बिना किसी विकार के। आपको देखने आया हूँ। आप से क्या और कुछ पूँछ सकता हूँ? हमने कहा हाँ! क्यों नहीं। अभी तो हमारा टाइम हो रहा है, दूसरा कार्य है और किसी समय या मध्याह्न सामायिक के उपरान्त समय दे सकते हैं।

दोपहर के समय वे व्यक्ति और लोगों को भी साथ लेकर आये। हिन्दी बोल लेते थे। बातचीत प्रारम्भ हुई। उन्होंने कहा हम लोग तमिलनाडू के आठ-दस लोग हैं ये सभी आये हुये हैं। बातों-बातों में ही उन्होंने कहा हम ब्रह्मचर्य पूर्वक रहते हैं। हमने उनसे कहा आपकी वेशभूषा से तो ऐसा प्रतीत नहीं पड़ रहा है कि आप ब्रह्मचर्य के धारी हैं। हमारी वेशभूषा ऐसी हो जिससे किसी को राग उत्पन्न न हो और जो लोग घर में रहकर ब्रह्मचर्य पालते हैं, पति पत्नी हैं, बच्चे हैं, उनका तो अलग प्रकार है। पर आप तो आश्रम में रहते हैं, फिर यह वेशभूषा। आप तो बिल्कुल एकदम टिपटाप बने हुए हैं। ये तो ब्रह्मचारियों का लक्षण हमारी संस्कृति में नहीं है। घर में रह रहे हो तो भाई घर में एकदम अन्तर तो नहीं आ पाता, थोड़ा समान-सा होकर चलना पड़ता है और वैसे साधना तो करते रहते हैं सब, फिर भी जितना हो सकता है उतना लौकिकता से बचते हैं। भोजन-पान में भी परिवर्तन लाते हैं। उस प्रकार के निमित्तों से भी बचते हैं जो ब्रह्मचर्य में बाधक हों। तामसिक

वस्तुओं का त्याग हो ही जाता है। जमीकंद आदि वस्तुओं का भी त्याग हो जाता है। वेशभूषा भी सिम्पिल होती है। साथ-साथ खान-पान में भी गरिष्ठ वस्तुओं को भी कम करते-करते फिर उनका भी त्याग कर देते हैं। इष्ट वस्तुओं को भी त्याग करने का अभ्यास करते हैं। अपनी रसना इन्द्रिय पर नियंत्रण करते हैं।

वे सभी गंभीर होकर सुनते रहे। फिर हमने पूछा- शायद आप दूसरा तो कुछ नहीं लेते होंगे। तामसिक वस्तुओं का पूर्ण त्याग तो होगा ही। मांस, मदिरा, मछली, अण्डा, आदि तो आप लेते नहीं होंगें, जब ब्रह्मचर्य पालते हैं तो इनका त्याग होगा। उन्होंने कहा-नहीं महाराज जी ऐसा नहीं है, यह तो चलता है। हमने कहा आश्चर्य से; चलता है! ये क्या बोल रहे हैं? वे लोग बोले महाराज जी ! हमारे यहाँ तो चलता है और कृपा कर आप ही बताइये कि ब्रह्मचर्य के लिए क्या करना होता है? उन्हें फिर सारी बातें ब्रह्मचर्य के विषय में बताई। अहिंसा के विषय में बताया कि मानव क्यों शाकाहारी होता है? ब्रह्मचर्य की साधना के लिए क्या-क्या करना चाहिए। उन्होंने सारी बातें सुनकर कहा महाराज जी आज हम लोगों ने ब्रह्मचर्य की साधना के लिए क्या और कैसे करना चाहिए यह जाना, यह हम लोगों के जीवन की बहुत श्रेष्ठ उपलब्धि है। यह सौभाग्य है हम सबका कि आपके मुखारविन्द से ब्रह्मचर्य की सच्ची क्या साधना होती है इसे जानने का सुअवसर मिला। परन्तु बस एक जिज्ञासा है, उसे जानना चाहते हैं यदि आपकी अनुमति हो तो?

हमने कहा; क्या? बोलिए! उन्होंने कहा - महाराज जी! जैनदर्शन में आप लोग नग्न दिगम्बर क्यों रहते हैं? हमने उन्हें बताया कि नग्नता इसलिए है कि ध्यान की प्रसिद्धि बिना नग्नता के नहीं हो सकती। ध्यान की प्रसिद्धि के लिए सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग होना आवश्यक है। तिल तुषमात्र भी परिग्रह रहे तो वह ध्यान में बाधक है। जैन दर्शन में पाँच महाव्रत कहे गये हैं उनमें ब्रह्मचर्य सबसे प्रधान व्रत है। यह व्रत सब व्रतों का राजा है। यह व्रत पाल लिया तो पंचव्रतों का पालना बहुत सरल है। और यदि यह नहीं पाला तो सब कठिन है। इसलिए जो मोक्षमार्ग पर चलना चाहते हैं उन्हें प्रथम गुरु संघों में ब्रह्मचर्य व्रत पालने को कहते हैं। इससे पूर्व उनको रात्रि भोजन व अभक्ष वस्तु का त्याग करना, फिर कब सोना? कब उठना? कैसे रहना? आदि इन बातों पर ध्यान देना होता है। रात्रि भोजन त्याग के अनेक कारण हैं परन्तु ब्रह्मचर्य के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि रात्रि में

भोजन करके सो जायेंगे तो भावनाओं में अन्तर जरूर आयेगा। आधा भी भोजन न पच पाने के पहले ही सोने से अधिकतर बुरे स्वप्न आ सकते हैं। तरह-तरह से अपने अन्दर गंदे विचार आ सकते हैं। सूर्यास्त के उपरान्त सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति अधिक होती है और पाचन शक्ति भी मंद पड़ जाती है इसलिए दिन में ही भोजन करना उत्तम होता है। नि:संगता और आत्म निर्मलता के लिए दिगम्बर रूप में रहना आवश्यक होता है तभी व्रतों का पालन कर सकते हैं। एकमात्र ब्रह्मचर्य व्रत लेने से बहुत सारी विषय वासनायें और इच्छायें समाप्त हो जाती हैं। फिर इसके बाद तो सच्चे ध्यान को पाने का आधा रास्ता पार कर लिया, आधा रह जाता है। ब्रह्मचर्य के समय जमीकंद वगैरह का त्याग अवश्य होना चाहिए। बुरे चित्रों को देखने का त्याग होना चाहिए। बुरी कथाओं को पढ़ना-सुनना ये सब छोड़ना चाहिए। शयन भी दूर-दूर करना चाहिए। पुरुष हैं तो महिलाओं को न छुएं और महिलायें हैं तो पुरुष को न छुएं। सात्विक भोजन करना चाहिए। वेशभूषा रागात्मक नहीं होनी चाहिए। इन बातों के पालन के पश्चात् ही अणुव्रत पाले जाते हैं और फिर महाव्रत पालते हैं। जैन दर्शन में मुनि यथाजात रूप होते हैं। जैसा जन्म जात बालक नग्न रूप होता है वैसी ही नग्न रूप दिगम्बर मुद्रा है। वह साधु अपने हाथ से तिलतुषमात्र भी परिग्रह ग्रहण नहीं करता है। बालाग्र सम परिग्रह संचय भी साधु नहीं करता। हस्तांजुलि ही उसके भोजन पात्र हैं, आहार भी दिन में एक बार खड़े होकर प्रासुक एवं श्रावक के द्वारा दिया हुआ ही करते हैं। मुनिदीक्षा लेकर ही ब्रह्मचर्यपूर्वक नग्नता से मुक्ति की प्राप्ति कर सकते हैं अत: नग्नता ही मोक्षमार्ग है।

ब्रह्मचर्य और शील मात्र केवल चर्चा का विषय नहीं है, जीवन में प्रयोग करने का आचरण का विषय है। आप सभी शायद यह जानते हों कि गांधी जी महात्मा कहलाये तो अपने आचरण के कारण। उन्होंने ब्रह्मचर्य पालन के लिए अस्वाद व्रत ग्रहण किया था। वे नीम की पत्तियों की चटनी उबले हुए शाक लेते थे क्योंकि उनका यह विश्वास था कि जिह्वा का सीधा संबंध कामवासना से है। जो लोग जीभ को वश में नहीं रख सकते वह कामेन्द्रिय को वश में कदापि नहीं रख सकते। अन्य देशों की अपेक्षा शील व संयम भारत देश में अधिक मिलेगा। ब्रह्मचर्य के बिना व्रत, तपादि सर्व असार हैं। शरीर को मन चाहे भोग दिये बिना ही (जैन दर्शन में जिसे कायक्लेश कहते हैं) ब्रह्मचर्य व्रत होता है। ब्रह्मचर्य धर्मांग है, धर्म

पालन है। उत्तम-श्रेष्ठ लोग प्राणों का तो त्याग कर सकते हैं परन्तु संयम व शील की महिमा रखने वाले ब्रह्मचर्य का त्याग नहीं करते हैं। इसलिए ब्रह्मचारी के लिए कुछ बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। जैसे-सरसाहार मतलब कि अत्यंत सुस्वादु कामोत्पादक पौष्टिक आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। सुगंध संस्कार-तैल, उबटन आदि सुगंधित पदार्थों से शरीर का संस्कार नहीं करना। कोमल शयनासन-कोमल मुलायम शय्या पर सोना, बैठना नहीं चाहिए। शरीर-मण्डन-शरीर का शृंगार नहीं करना। कामोत्पादक गीत, वादन, नृत्य, नाटक आदि को सुनना व देखना नहीं चाहिए। कुशील अथवा व्यसनीजनों की संगति नहीं करना चाहिए क्योंकि कुशील और दुष्ट जन पवित्रता, त्याग, विवेक, धर्म-सम्मान आदि को तिलांजलि दे देते हैं और तो और वे अपने प्राणों को भी छोड़ देते हैं। इसलिए ऐसे लोगों की संगति नहीं करनी चाहिए। संयम और सदाचार ब्रह्मचर्य से ही उपलब्ध होते हैं।

ब्रह्मचर्य अहिंसागुण की वृद्धि करता है। धर्म के श्रेष्ठ गुणों को देने वाला है संसार से पार कराने वाला है। योगशास्त्र में कहा है कि -

चिरायुषः सुसंस्थाना दृढ़संहनना नराः ।
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः।। 2/105।।

ब्रह्मचर्य के पालन से लोग दीर्घायु, दृढ़ शरीर तेजस्वी तथा महा बलशाली होते हैं। जीवन शक्ति को शरीर में धारण करने की क्षमता ही ब्रह्मचर्य है,वही शरीर में ओज और कांति का उत्पादक है। स्वर्ग और मुक्ति रूपी गृह की प्राप्ति का हेतु है, दुःख रूपी समुद्र को लाँघने के लिए सेतु है। देवों द्वारा भी पूज्य है। यह ब्रह्मचर्य उदारता, शूरवीरता, धीरता, सुन्दरता, वीर्यता का प्रदाता है। ब्रह्मचर्य का पालक पूज्यों का भी पूज्य हो जाता है। योग शास्त्र में आचार्य लिखते हैं कि -

प्राणभूतं चरित्रस्य परब्रह्मैक कारणम्।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं पूजितैरपि पूज्यते ।। 2/104।।

ब्रह्मचर्य धर्म का प्रारम्भिक द्वार है और ब्रह्मचर्य व्रत ही धर्म की पूर्णता का आखिरी द्वार है। ब्रह्मचर्य के माध्यम से मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है और ब्रह्मचर्य के माध्यम से ही मोक्षमार्ग पूर्ण होता है। ब्रह्मचर्य वास्तव में वह अग्नि है जिसमें तपकर आत्मा कुन्दन बन जाती है। उस अग्नि में अनन्त अनन्त काल से चिपके हुए

कर्ममल जलकर भस्म हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य की साधना जहाँ शरीर और आत्मा दोनों को शक्तिशाली बनाती है वहीं शील अर्थात् ब्रह्मचर्य रूपी आभूषण से सुसज्जित साधक को मुक्ति रूपी लक्ष्मी स्वयं आकर वरण करती है। शील के प्रभाव से स्वर्गों में इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो जाते हैं, देवता आकर नौकरों की तरह शीलवानों के चरणों की सेवा करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य अर्थात्-शील की महिमा है। इससे सुख की प्राप्ति होती है, निर्मल यश मिलता है, मोक्ष प्राप्त होता है इसलिए यह व्रत श्रेष्ठ है। धर्मभावना शतक में लिखा है-

राजाओं में जैसे चक्री, बड़ा श्रेष्ठ माना जाता।
वैसे व्रत राजों का राजा, ब्रह्मचर्य माना जाता ।।
स्पर्श, रसना कामेन्द्रिय को,जो वश में है हर लेता।
सर्वोत्तम धर्मी शासक बन, ब्रह्मचर्य को भज लेता ।।88।।

ब्रह्मचर्य के समान उत्तम व्रत नहीं है। इस महान व्रत से अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ प्राप्ति होती हैं। पुण्य का संचय होता है, पापों का विनाश होता है। ब्रह्मचर्य व्रत का जो आश्रय ग्रहण करते हैं उनके सारे उपसर्ग अनायास ही दूर हो जाते हैं और स्वर्ग के देवता भी उनकी वन्दना करते हैं। ब्रह्मचर्य का धारक मानव, देवों से भी पूज्य होता है। कहा भी है कि -

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो।
देवावि तस्स णमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो।।(वी.भ. 8)

वह धर्म मंगल स्वरूप है, उत्कृष्ट है, अहिंसा, संयम व तप से संयुक्त है, जिस व्यक्ति के हृदय में इस धर्म का वास है, उस व्यक्ति को देवता भी नमस्कार करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट धर्म और व्रत है। मोक्षमार्ग का प्रवेश द्वार है। जिसके ब्रह्मचर्य है वह सदा शुद्धता को प्राप्त होता है। कातन्त्र रूपमाला में कहा भी है-

शुचिर्भूमिगतं तोयम्, शुचिर्नारी पतिव्रता।
शुचिर्धर्मपरो राजा, ब्रह्मचारी सदा शुचिः ।।

जैसे भूमि के बहुत अंदर जाने से पानी शुद्ध होता है, पतिव्रता नारी पवित्र होती है; धर्म निष्ठ राजा भी पवित्र होता है, उसी तरह ब्रह्मचारी सदैव पवित्र होता है। जो कभी अन्याय नहीं करता, चाहे अपने परिवार का सदस्य ही क्यों न हो वह धर्म

में तत्पर रहता है। जैसे कि राजा श्रेणिक से लोगों ने कह दिया कि वारिषेण के बारे में उन्हें संदेह है कि उन्होंने रानी का हार चुराया है। राजा श्रेणिक ने उन्हें प्राण दण्ड दिया। यह जानते हुए भी कि यह मेरा पुत्र है फिर भी यह आज्ञा सेवकों को दी। ये धर्म-परो राजा होते हैं जो किसी के भी साथ पक्षपात नहीं करते हैं। यह बात अलग है कि वारिषेण के पुण्य प्रभाव से तलवार फूलों का हार बन गयी। इसी प्रकार रामचन्द्र जी हुए। जब सीता पर अपवाद हुआ तो उन्हें मालूम था कि सीता निर्दोष है, विश्वास था लेकिन प्रजा क्या कहेगी कि पर घर में होकर के आयी नारी उसको अपने घर में रख लिया, यह गलत परम्परा चल जायेगी इस भय से उन्होंने राजा होते हुए भी एक महान व्यक्तित्व को प्राप्त किया कि हमारे द्वारा कोई गलत मार्ग नहीं चलना चाहिए इसलिए सीता को जंगल में छुड़वा दिया था। तो ऐसे धर्मपरोराजा सद्धर्म को अंगीकार करते हैं, वे हमेशा पवित्र रहते हैं। इसमें अपेक्षा समझना कि उनकी आत्मा पवित्र पावन रूप धर्ममार्ग की ओर बढ़ रही है ऐसा समझना चाहिए। वे विषय वासना से दूर हैं ऐसा नहीं है, यहाँ आत्मा में पवित्रता की बात कही जा रही है।

आत्मा, स्वास्थ्य, संस्कृति व राष्ट्र की पवित्रता की दृष्टि से तथा राग-द्वेष रूप भावकर्म और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म से बचने के लिए दश धर्मों में जो संयम बताया गया है शील कहा गया है उसकी पूर्णता ब्रह्मचर्य व्रत में ही हो सकती है। आज के दिन एक और बात समझें; पूजाएँ सब पढ़ना जानते हैं। स्तुतियाँ सब पढ़ना जानते हैं। स्वाध्याय भी करते हैं, लेकिन जिस समय जो उपयोगी होता है उस समय वह अवश्य करना चाहिए। निर्वाण काण्ड सब जानते हैं लेकिन आज ही क्यों विशेष रूप से पढ़ा आपने, क्योंकि आज तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण कल्याणक था। इसलिए जो भावना जो कार्य जिस दिन करने योग्य हो उस समय अवश्य करना चाहिए। वैसे तो सामान्यतया पढ़ते रहते हैं लोग परन्तु समयानुरूप उसका महत्त्व भी है। पूजा भक्ति में हमारा पावन उद्देश्य 'वन्दे तद् गुण लब्धये' होना चाहिए। स्वाध्याय भी यथा सम्भव सब करते हैं। आत्महितकारी शास्त्रों को सावधान होकर पढ़ना-सुनना विचार आदि करना क्योंकि स्वाध्याय के समान कोई दूसरा कर्मों के क्षपण में समर्थ नहीं है। स्वाध्याय भी रत्नत्रय का मूल आधार माना गया है।

सिद्धांत रूप जो ग्रंथ होते हैं, महाव्रतधारी ही उन्हें पढ़ सकते हैं यदि महाव्रत नहीं हैं तो उन्हें नहीं पढ़ सकते। इसके बारे में एक दृष्टांत याद आ रहा है।

यह दृष्टांत श्रवणवेलगोला क्षेत्र जो कर्नाटक में है वहाँ से संबंधित है। बात उन दिनों की है जब वहाँ भगवान बाहुबली जी की प्रतिमा जो विश्व विख्यात है वह उस समय वहाँ नहीं थी। आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले ही यह प्रतिमा निर्मित हुई है। श्रवणवेलगोला में जहाँ चन्द्रगिरि है वहाँ भद्रबाहु स्वामी ने तपस्या की थी वह पवित्र स्थान था, एक गुफा थी, हो सकता है कुछ मंदिर चन्द्रगुप्त आदि की परम्परा में बनाये गये हों। नेमिचन्द्राचार्य चन्द्रगिरि पर्वत पर रहते थे, ध्यान-स्वाध्याय करते थे, अपने संघ को भी करवाते थे।

मैसूर के राजा का एक चामुण्डराय नाम का सेनापति था। वह राजाओं के समान वैभव को भोगने वाला सम्पन्न जैन धर्मी मुनिभक्त था। वह अनेकों बार मुनि नेमिचन्द्राचार्य के पास आता था। एक बार वह सपरिवार मुनियों के दर्शनार्थ आया, उस समय आचार्य श्री अपने शिष्यों सहित स्वाध्याय कर रहे थे। ज्यों ही चामुण्डराय सपरिवार आये, दर्शन कर वहाँ ही बैठ गये। आचार्य जी ने सोचा, जिस शास्त्र का स्वाध्याय हम कर रहे हैं, उसको पढ़ने का अधिकार श्रावकों को नहीं है, यह मन में सोच करके उन्होंने कुछ कहे बिना ही शास्त्र को बंद कर दिया। यह सब देखकरके चामुण्डराय के मन में विचार आया कि क्या बात हो गयी? अभी तो स्वाध्याय पूर्ण हुआ ही नहीं फिर बीच में ही बंद कर दिया; क्या कारण है? शायद हम लोग आ गये इसके कारण ही आचार्य जी ने स्वाध्याय बंद कर दिया। वह विनम्र भाव से कहता है - आचार्य जी, आपने स्वाध्याय बंद कर दिया, हम लोग भी स्वाध्याय सुन लेते क्या हम लोग इसके पात्र नहीं है?

आचार्य जी ने कहा हाँ! अभी तुम इसके पात्र नहीं हो। कारण कि इस शास्त्र को पढ़ने के लिए महाव्रत चाहिए। चामुण्डराय कहता है-अच्छा, ऐसी बात है। फिर आचार्य जी हमको कैसे ज्ञान मिलेगा? मान लीजिए हम महाव्रती नहीं बन पाते हैं किन्तु बनने की भावना तो बहुत है पर यदि तुरन्त नहीं बन पाये तो क्या हम अभी इस ज्ञान को सुन ही नहीं पायेंगे। आचार्य जी चामुण्डराय की बात को शांत भाव से सुनते रहे थे। चामुण्डराय ने फिर कहा - आचार्य जी! हम लोगों पर आप जरूर कृपा कीजिए, हमें इसका ज्ञान मिले, कोई रास्ता मार्ग अवश्य बताइये। तब आचार्य श्री ने कहा ठीक है समयानुसार विचार करेंगे।

आचार्य नेमिचन्द्र ने मार्ग ढूंढा और उन्होंने षड्खण्डागम ग्रंथ को पढ़कर

उसका सार रूप में एक शास्त्र बनाया। वह शास्त्र एक महान शास्त्र था। जिसे हम जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड के रूप में अभी हम लोग पढ़ते ही हैं। उसका नाम बहुत अच्छा रखा था गोम्मटसार। इसके बारे में कहा जाता है कि चामुण्डराय की जो माँ थी, जिन्होंने एक संकल्प लिया था कि मुझे जो इतिहास में पढ़ने में आया है कि एक बाहुबली भगवान की सवा पाँच सौ धनुष की स्वर्णिम प्रतिमा भरत चक्रवर्ती ने बनवायी थी उसका दर्शन करना है? कहाँ है? सारे भारत में क्या; विदेशों में देख लिया, वहाँ भी नहीं मिली। कहाँ जायें, सभी जगह गुप्तचर भेजे वे सभी निराश होकर लौट आये पर प्रतिमा नहीं मिली। माँ ने संकल्प लिया था जब तक प्रतिमा के दर्शन न हो जायेंगे तब तक दूध का त्याग है। चामुण्डराय चिंतित थे क्या करें। चलो माँ से अनुमति लेते हैं, गुरु से आशीर्वाद लिया। चन्द्रगिरि पर्वत के सामने ही विन्ध्यगिरि पर्वत जिसे इन्द्रगिरि भी बोलते हैं। वहाँ पहले चट्टानें थीं। उस पर्वत को आचार्य जी ने योग्य बताया तो वहाँ बाहुबली भगवान प्रतिमा का निर्माण किया गया। कथा बहुत लम्बी है आज संक्षिप्त ही कहूँगा।

विन्ध्यगिरि पर्वत का योग्य पाषाण जानने के उपरांत प्रतिमा बनवाने का कार्य प्रारंभ किया जाना था। प्रतिमा बनाने वाला शिल्पी आया और यह निश्चय हुआ कि जितना पाषाण तुम रोज तोड़ोगे उतना ही तौल कर तुम्हें स्वर्ण दिया जायेगा। शिल्पी ने यह स्वीकार कर लिया और ब्रह्मचर्यव्रत व शुद्ध आहार-आचार को ग्रहण कर प्रतिमा के निर्माण कार्य करने को तैयार हो गया। प्रथम दिन जितना पाषाण तोड़ा उसे उतना स्वर्ण दे दिया गया जिसे लेकर वह अपने घर पहुँचा। स्वर्ण को देखकर शिल्पी की माँ ने कहा अरे! बेटा ये क्या कर रहे हो तुम। एक तरफ तो मालिक वह स्वर्ण दे रहा है, इतना त्याग कर रहा है। कितनी अच्छी भावना भा रहा है वह अपनी माँ के लिए, और तुम इतना लोभ कर रहे हो। धर्म से ऐसा लोभ करना ठीक नहीं है। अपनी आजीविका चले बस; इतना ही करो। जो इतना स्वर्ण दे सकता है वह क्या अपनी आजीविका चलाने की व्यवस्था नहीं कर सकता है। अवश्य करेगा, तुम तो समर्पित हो जाओ, और कह दो कि मेरी आजीविका चलाना, मुझे आप अपने घर का एक सदस्य मानें बस और कुछ नहीं चाहिए।

माँ की बात सुनकर शिल्पी ने चामुण्डराय से वैसा ही कह दिया और निर्लोभता के साथ प्रतिमा का निर्माण कार्य किया। प्रतिमा शिल्पी की लगनशीलता

से बड़ी ही मनोमुग्धकारी बनी। तैयार हो गयी जब प्रतिमा तो, उसकी प्रतिष्ठा के लिए पंचकल्याणक महोत्सव प्रतिष्ठा पूजा रखी गयी, अभिषेक करने का आयोजन; समारोह पूर्वक रखा गया। चूँकि चामुण्डराय की माँ का ऐसा नियम था कि जब मैं प्रतिमा के दर्शन करलूँ तभी दूध ग्रहण करूँगी। ऐसे माहौल में एक भाव और उनके मन में आया कि इस निर्मित प्रतिमा को दूध से नहलाओ उसके बाद ही हम दूध पियेंगे। उनके इस भाव की पूर्ति उनके पुत्र ने की। प्रतिमा का दूध से अभिषेक कराया। अनेकों लोगों ने अभिषेक किया। गरीब, अमीर, राजा, महाराजा सभी ने अभिषेक किया परन्तु प्रतिमा दूध से भींग न सकी। इसी भीड़ में एक बूढ़ी अम्मा अपनी लुटिया में दूध लेकर आयी थी और सभी से अपनी लुटिया से अभिषेक कराने को कह रही थी, परन्तु कोई उसे आगे बढ़ने ही नहीं दे रहा था। बाद में फिर कोई उसे ऊपर से ले गया और उसकी लुटिया लेकर अभिषेक किया गया; जैसे ही उस लुटिया का दूध प्रतिमा पर डाला गया उसकी अविरल धारा सम्पूर्ण प्रतिमा पर बहने लगी। बाहुबली भगवान को दूध से नहलाया गया। इस प्रकार आश्चर्यजनक अतिशयकारी अभिषेक हुआ। उन बूढ़ी अम्माँ को वहाँ गुल्लीका जी, बोलते थे। इसके बाद ही चामुण्डराय की माँ ने दूध का सेवन किया।

दूध के अभिषेक करने की परम्परा दक्षिण में तब से प्रारम्भ हो गयी ऐसा इतिहास बतलाता है। हमने इतिहास को जानने वालों से सुना है इसलिए ऐसा कहा। यह कोई आगम या सिद्धांत नहीं लगता बाहुबली की प्रतिमा पर करने का सोचने का भी विषय बन जाता है थोड़ा सा। केवलज्ञानी बन जाने के बाद तो न भूख है, न प्यास है, एक तो भगवान खाते-पीते ही नहीं हैं उन पर ये चीजें? फिर आप बोलेंगे कि जल भी क्यों? जल इसलिए क्योंकि हम गंधोदक लेते हैं और उसे विसर्जित करने में हिंसा भी नहीं होती है। गंधोदक लेने से शरीर आदि पवित्र होता है। अहिंसा ढंग से शुद्धता पूर्वक जो कार्य हो जिससे दोष न लगे उसको करना चाहिए। इस विषय में समाज को विचार कर अपनी परम्परा चलाना चाहिए।

भगवान बाहुबली जी की प्रतिमा का एक नाम गोमटेश बाहुबली भी कहा जाता है; यह जानते हैं आप कि कैसे यह नाम पड़ा? चामुण्डराय जब छोटे थे तब बचपन में उनकी माँ उन्हें जैसे आप लोग अपने बच्चों को चींटू-मिंटू, गुड्डु आदि कहकर पुकारते हैं वैसे ही चामुण्डराय की माँ उसे गोम्मट कहके पुकारती थी।

गोम्मट यह चामुण्डराय का नाम था। गोम्मट ने जो बाहुबली भगवान बनवाये वे गोम्मट+ईश=गोम्मटेश अर्थात् गोम्मट के ईश - गोम्मटेश बाहुबली। गोम्मट ने बनवायी प्रतिमा इसलिए गोम्मटेश कहलाने लगी। माँ का दिया यह शब्द था जो चल पड़ा। नेमिचन्द्राचार्य ने जब चामुण्डराय के कहने पर शास्त्र की रचना की तो उन्होंने सोचा सबने प्रतिमा का नाम गोम्मटेश रखा है तो मैं भी क्यों न हो शास्त्र का नाम गोम्मटसार रक्खूं। गोम्मट के लिए जो सार सिद्धांत ग्रंथों का दिया सो उसका नाम रखा गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड। ऐसे ग्रंथों को हम सभी पढ़ सकते हैं। परन्तु सिद्धांत ग्रंथों का स्वाध्याय तो मात्र मुनि ही कर सकते हैं। महाव्रती कर सकते हैं। श्रावक लोग तो षट्खण्डागम जैसे सिद्धांत ग्रंथों का दर्शन कर सकते हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए आगम में उत्कृष्ट ढंग से भावनाएँ कहीं हैं जो बहुत उपयोगी सिद्ध होती हैं। भगवती आराधना में कहा है कि -

महिलालोयण पुव्वरदिसरणं संसत्तवसहिविकहाहिं।
पणिदरसेहिं य विरदी भावना पंच बंभस्स ।।1204।।

स्त्रियों के रूप स्वरूप को देखना, पूर्वानुभूत भोगादि का स्मरण करना, उनमें राग आना, जहाँ स्त्रियों की बहुलता हो वहाँ वास करना मतलब रहना, विकथा करना, (श्रृंगार कथा करना) उन्मत्तता उत्पादक (गरिष्ठ) पदार्थों का सेवन करना, इन पाँच बातों से विरक्त रहना, इनका त्याग करना या इन्हें छोड़ देना ये ब्रह्मचर्य की भावनाएँ हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में ब्रह्मचर्य की पाँच भावनाएँ बतलायी हैं उनका भी पालन करना चाहिए। ये पुरुषवेद की अपेक्षा कहीं गयी हैं। स्त्रियों को भी इन्हीं के सामान पालन करना चाहिए। आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थ सूत्र शास्त्र में लिखते हैं कि-

स्त्रीरागकथाश्रवण तन्मनोहराङ्गनिरीक्षण पूर्वरतानुस्मरण वृष्येष्टरस स्वशरीरसंस्कार त्यागाः पञ्च ।।7/7।।

1. स्त्री-राग-कथा-श्रवण त्याग- जो पुरुष ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करते हैं वे स्त्रियों की रागपूर्वक कथाओं को सुनने का त्याग करें। अगर ब्रह्मचर्य व्रत का अच्छी तरह से पालन करना है तो उन्हें स्त्रियों से संबंधित राग बढ़ाने वाली कथाएं नहीं सुनना चाहिए। ऐसी कथाएं कहाँ होती हैं? कहीं कोई मित्रों के

नजदीक होती हैं अथवा टी.वी. देखते हैं तो इस प्रकार की कथा (स्टोरी) वहाँ आती है, कोई मैगजीन-पत्रिका आदि पढ़ते हैं तो उसमें भी इस तरह की बातें आती हैं, पेपर में भी तरह-तरह की बातें या फोटो आदि आ सकते हैं। इसलिए ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए इन बातों से दूर रहना चाहिए। पुरुष ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए इन बातों से सदा दूर रहे। पुरुष ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हैं तो स्त्रियों से संबंधित और स्त्रियां यदि व्रत धारण करती हैं तो पुरुष संबंधी इन कारणों से बचना चाहिए।

2. तन्मनोहराङ्ग-निरीक्षण त्याग - स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखना या निरीक्षण करना, राग पूर्वक उन्हें देखना इसका भी त्याग करना चाहिए। अपनी माता, बहिन या पुत्री सदृश्य उन्हें देखना चाहिए। इससे व्रत; बहुत अच्छे ढंग से अपने ह्दय को पवित्र बना सकते हैं। आप पौराणिक ग्रंथ पढ़ते हैं उनमें राम-सीता-लक्ष्मण के जीवन के बारे में पढ़ा होगा। जंगल में जब वनवास के समय राम-सीता-लक्ष्मण रहते हैं तो लक्ष्मण सीता को भाभी कहकर पुकारते हैं, उन्होंने कभी सीता जी की आँखों की ओर नहीं देखा। उनकी दृष्टि हमेशा सीता के चरणों पर ही रहती थी। कहीं थोड़ी भी, किसी भी प्रकार की बुरी भावना न हो जाये अथवा अवज्ञा न हो जाये ऐसा लक्ष्मण हमेशा इस बात का ध्यान रखते हुए चरणों की तरफ दृष्टि रखते थे। इस प्रकार धर्मात्मा नम्र दृष्टि के साथ व्यवहार करते हैं। ऐसा ही व्यवहार होना चाहिए जहाँ भाभी को माँ के तुल्य तथा भाई को पिता के समान समझा जाता है, ये बहुत अच्छा है, अपनी आत्म शुद्धि का उपाय है।

विचार कर देखों अगर स्त्री पुरुष आपस में बात करें तो लक्ष्मण-सीता की तरह करें, तब विकार वाली भावना अन्दर आयेगी नहीं। निमित्तों का प्रभाव पड़ता है। यह बात ठीक है लेकिन अगर भावना अच्छी है तो सब कुछ ठीक चल सकता है।

यह हम मानते हैं कि भावना अच्छी है, लेकिन निमित्तों का भी प्रभाव पड़ता है। अन्यथा कभी रोते हुए को देखकर रोना क्यों आता है? हँसते हुए को देखकर हँसना क्यों होता है? ऐसे ही रागी को देखकर राग भावना आ सकती है, वैरागी को देखकर वैराग्य की भावना आ सकती है। अच्छे भावों का भी फल मिलता है और बुरे भावों का भी फल मिलता है। व्यक्ति बुरे भावों से पाप कर्मों को संजोता है और दुर्गति पाता है तथा अच्छे भावों से वह उत्तम सुख को पा लेता है। इसलिए अच्छे

भावों के लिए अच्छे निमित्तों को प्राप्त करना चाहिए और बुरे निमित्तों से बचना चाहिए। जैसे हम भाव बनायेंगे वैसा ही हमारा जीवन बनेगा। किन निमित्तों के माध्यम से हमारे अन्दर कुछ परिवर्तन या कुछ भावनाएँ जागृत होती हैं यह तो स्वयं ही समझ सकते हैं कि इसका कारण क्या है? उन कारणों को छोड़ना चाहिए तभी सब कुछ व्यवस्थित हो जाता है। अपने व्रत की भी शुद्धि चाहिए वह उसी ढंग से हो जाती है। अभी हम ब्रह्मचर्य व्रत की दूसरी भावना को समझ रहे थे कि स्त्रियों के शरीरादि को राग भावपूर्वक नहीं देखना चाहिए। और अब.......

3. पूर्वरतानुस्मरण त्याग – पहले जो कुछ भोग भोगे हैं उनको स्मरण में नहीं लाना चाहिए। व्रत को ले लिया है तो भोगों को स्मरण में नहीं लाना और अगर कुछ आ जाता है स्मरण में तो उसे योग जन्य मानते हैं और स्मरण करते हैं तो उसे कषाय जन्य माना जाता है। स्वयं स्मरण में आ जाना योग और जबरदस्ती स्मरण करना कषाय मानी जाती है। योग जन्य में कम आस्रव होता है और कषाय जन्य में ज्यादा आस्रव होता है। योग जन्य आस्रव को भी छोड़ सकते हैं वह भी अच्छी भावनाओं के बल से, अपने मन को डायवर्ट करके अच्छी प्रशस्त भावनाओं को भाने से बारह भावनाओं आदि का चिंतन करने से अशुभ का चिंतन भी चला जाता है।

4. वृष्येष्टरस त्याग – गरिष्ठ रसों का भी त्याग करना चाहिए। गरिष्ठ रसों का अपने मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। बहुत बार अनुभव किया भी होगा कि अधिक गरिष्ठ वस्तु का सेवन कर लें तो मन विकृत हो जाता है। जो कुछ लोग ब्रह्मचर्य व्रत की साधना करते हैं, उनको ही अनुभव में आयेगा और जो लोग साधना का लक्ष्य नहीं रखते उन्हें क्या अनुभव में आयेगा कि कब मन में विकार आ जाता है, उत्तेजना आ जाती है इसलिए गरिष्ठ रसों का त्याग करना चाहिए। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न गरिष्ठ हो सकते हैं। फिर भी सामान्य रूप से कई चीजें तो गरिष्ठ हैं ही। जैसे विशिष्ट तली हुई वस्तुएं, पकवान, खोआ (मावा), मिठाईयाँ, कई प्रकार के मेवे प्राय: गरिष्ठ होते हैं, जिनके सेवन से उत्तेजना आ सकती है, भावों में विकृति आना पूर्णतया संभव है इस कारण से इनका भी त्याग करना चाहिए। उत्तम रूप से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना है तब; अन्यथा नहीं तो ऐसे व्रत लोग ले लेते हैं और कुछ त्याग नहीं करते हैं तो वहाँ ब्रह्मचर्य व्रत में शुद्धता

नहीं रहती है, केवल कहने मात्र को या नाम के लिए ब्रह्मचर्य होता है। गरिष्ठ रसों के त्याग के साथ ही इष्ट रसों का भी त्याग करना चाहिए। इष्ट रस वे होते हैं जो अपने को बड़े प्रिय होते हैं जिनके बिना भोजन नहीं रुचता, उन रसों का भी त्याग कर देना चाहिए तभी रसना इन्द्रिय पर काबू पा सकते हैं। यदि गरिष्ठ और इष्ट रसों का त्याग नहीं करते हैं तो रसना रूप काम इन्द्रिय पर भी नियंत्रण नहीं कर सकते हैं और फिर ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन भी नहीं हो सकता। यदि किसी एक रस के वश में हो गये तो ब्रह्मचर्य व्रत का पूर्ण रूप से पालन नहीं हो सकता इसलिए अतिप्रिय जो वस्तु है हमेशा नहीं तो कभी कभी उसको भी छोड़कर देखना चाहिए, ये साधना व्रती को अवश्य करना चाहिए।

5. स्वशरीर-संस्कार-त्याग : शरीर के संस्कार यानि सजाने सँवारने का त्याग करना चाहिए। ब्रह्मचारी को अपने शरीर को कृत्रिम बाल, अलंकार, इत्र, तैल, क्रीम, पाउडर आदि से नहीं सजाना चाहिए स्व-पर के मन में आसिक्त पैदा हो सकती हो। शारीरिक शृंगार करने से मनमथ या मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं, इसमें ब्रह्मचर्य व्रत का घात होता है, इसलिए स्व शरीर संस्कार का त्याग करना चाहिए।

आत्मा की निर्मल परिणति का नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की साधना कर्म के संवर व निर्जरा के कारण की जाती है। पतित से पावन होने वाली समस्त आत्माओं ने ब्रह्मचर्य की महत्ता को स्वीकारा है और उसे धारण किया है। इसमें अपार शक्ति होती है। ब्रह्मचर्य की उत्कृष्ट साधना का सुअवसर मात्र मनुष्यों के पास है क्योंकि उसके पास बुद्धि, विवेक है सोचने-समझने की क्षमता है वह जानता यह भी है कि वासना दु:ख का कारण है, भुलावा है, छलावा है अपनी ऊर्जा को अधोगामिनी कर व्यर्थ प्रवाहित करना है और भटकन है। यदि हृदय को काम-वासनाओं का घर बनाते हैं तो सद्‌वृत्तियाँ उन्हें छोड़ देती हैं इसलिए स्वयं को संयत रखने की चेष्टा प्रत्येक विवेक शील प्राणी को करना चाहिए। संसार के समस्त आदर्श ब्रह्मचर्य के ही हैं। अग्नि का पानी होना, शूली का सिंहासन बनना, नाग का पुष्प माला होना, दुष्टों से जंगल में छुटकारा पाना ये सभी ब्रह्मचर्य से ही अतिशय है। अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को अनेक तप और ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाया करती हैं परन्तु ब्रह्मचर्य का अन्तिम फल मोक्ष सुख ही है। इसलिए ब्रह्मचर्य

की रक्षा के लिए यह अति आवश्यक है कि मन-वचन-काय की बाह्य चेष्टाओं को समेट कर कछुऐ की भांति स्वयं में रमण करें।

सामान्यत: लोग यह समझते हैं कि घर-गृहस्थी को छोड़ने के उपरांत ही ब्रह्मचर्य की साधना की जा सकती है। पर भइया गृहत्यागी अवस्था तो वास्तव में महाव्रती और ग्यारह प्रतिमाधारी की अवस्था होती है। परन्तु गृहस्थ भी ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है वह भी ब्रह्मचारी का जीवन जी सकता है। जैन दर्शन में गृहस्थ विवाह करने के उपरांत गृहस्थावस्था में प्रवेश करता है पर वह वासना में नहीं डूबता है। उसके विवाह का उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का सम्यक् रूपेण से पालन करना होता है। वस्तुत: विवाह वासना का नियंत्रण है केन्द्रीयकरण है। अपने स्वछन्द असंयम पर नियंत्रण कर सद्गृहस्थ बनना ही विवाह का प्रमुख ध्येय है। विवाह की व्यवस्था जैन धर्म में सामाजिक मर्यादा और सम्बन्धों की पवित्रता स्थापित रखने के लिए रखी गयी है। विवाह के पश्चात् पुरुष अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों को माँ, बहिन, पुत्री के समान समझे, वहीं पत्नी अपने पति के अलावा अन्य सभी पुरुषों को भी पिता, भाई, पुत्रवत् समझे। वे पति पत्नी ऐसे संयम से जीवन निर्वाह कर संतुष्ट रह सकते हैं। वे स्वदार संतोष व्रत लेकर संतुष्ट रह सकते हैं। आचार्य उमास्वामी जी ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि ब्रह्मचर्य को पाँच अतिचारों से रहित पालना चाहिए। वे अतिचार इस प्रकार है-

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्ग-क्रीड़ा कामतीव्राभिनिवेशाः ।। 7/28 ।।

पर विवाह करण, इत्वरिका परिगृहीता गमन, इत्वरिका अपरिगृहीता गमन, अनंगक्रीड़ा और कामतीव्राभि निवेश ये पाँच स्वदार संतोषव्रत या ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं। दूसरों के पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना-कराना पर विवाहकरण नामक अतिचार है। पति सहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास आना-जाना, लेन-देन रखना, राग-द्वेष पूर्वक वार्तालाप करना इत्वरिका परिगृहीतागमन अतिचार है। पति रहित व्याभिचारिणी स्त्रियों (वेश्या आदि, अनाथ स्त्री, कुँवारी लड़की आदि) के पास आना-जाना, लेन-देन रखना इत्वरिका अपरिग्रहीता गमन अतिचार कहलाता है। अर्थात् चारित्रहीन स्त्री-पुरुषों की संगति में रहना भी इसमें निषिध्य है। विकृत और उच्छृंखल यौनाचार में रुचि रखना, अप्राकृतिक मैथुन

करना अनंगक्रीड़ा है। काम सेवन की तीव्र अभिलाषा-लालसा रखना, निरन्तर उसी के चिन्तन में लगे रहना, इसके अतिरिक्त अन्य कार्यों का नहीं रुचना, कामोत्तेजक निमित्तों का संयोजन करना कामतीव्राभिनिवेश है। इन पाँच अतिचारों से रहित जो स्वदार संतोष व्रत या ब्रह्मचर्याणुव्रत का धारक ब्रह्मचर्य को पालता है उसे शील व्रत भी कहते हैं। ब्रह्मचर्य के साथ परमार्थ अर्थात् मोक्ष का सम्बन्ध है इसलिए उत्तम शब्द जुड़ा है।

अपने शरीर के भी संबंध में जिसका मन निर्ममत्व हो चुका है, वही सही मायने में ब्रह्मचर्य का पालन करता है। समस्त विषय वासनाओं, भोग सामग्रियों को तिलांजलि देकर क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग और आकिंचन्य धर्मों तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह महाव्रतों का सम्यक् पालन करते हुए पाँचों इन्द्रियों और छठे मन पर पूर्ण नियंत्रण कर समस्त बाह्य एवं अंतरंग विषय विकारों को रोककर व निकालकर बाहर करते हैं वे उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। यह मुनियों का उत्तम ब्रह्मचर्य कहलाता है। गृहस्थों का गृहस्थ बनने के पूर्व से ही सप्तव्यसनों का त्याग और गृहस्थ बनने पर स्वदार संतोष तथा गृहस्थावस्था में श्रावक की सातवीं प्रतिमा धारण कर अपनी विवाहिता स्त्री के साथ रमने की इच्छा भावना को त्याग कर देना, पूर्व में भोगे भोगों को मन-विचार में नहीं लाना और स्त्री राग कथा से भी विरत हो जाना स्थूल मध्यम ब्रह्मचर्य कहलाता है। यह तलवार की धार पर चलने जैसा कार्य है। इस व्रत का पालक अपने ब्रह्मचर्य को शील की बाड़ से बाँधकर अपने आप को सुरक्षित रखता है। जो युवावस्था को प्राप्त करते हैं तब उनकी परीक्षार्थ निकटस्थ अनेक लुभावने साधन उपलब्ध होते रहते हैं फिर भी वे ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करते हैं उसे असिधारा व्रत कहते हैं। अनगार धर्मामृत के चौथे अध्याय ९९ वें श्लोंक में पं. आशाधर जी ने कहा है कि - यौवन रूपी दुर्ग वन में विहार करते हुए जो युवावस्था में संयम धारण करके लोगों को सत् शिक्षा देता है वह वृद्धावस्था के बिना भी वृद्ध के समान सम्मान को प्राप्त होता है।

भारत भूमि पर ऐसे-ऐसे महापुरुष भी हो गये हैं जिनका इतिहास में नाम स्वर्ण अक्षरों में अंकित करने के योग्य है। एक दृष्टांत बहुत ही महत्व पूर्ण है जिससे वैराग्य व ब्रह्मचर्य की बड़ी शिक्षा ली जा सकती है।

एक महान योगी मुनीश्वर कभी जंगल, कभी उपवन तो कभी नगर आदि

जगहों से विहार करते हुए एक नगर में पहुँचे। वहाँ सभी लोगों को बहुत दिनों की प्रतिक्षा के पश्चात् गुरु दर्शनों का लाभ प्राप्त हुआ था। सब श्रावक लोग बहुत अच्छे ढंग से उनकी विनय अनुनय करते हैं, वैयावृत्ति करते हैं, कुछ दिन उनका वहाँ ठहरना होता है। महाराज जी के उपदेशों का प्रभाव पड़ा। रहते भी हैं कभी कोई-कोई ऐसे जीव जो अपने अन्तस् में छुपी हुई शक्तियों को कुछ निमित्तों के माध्यम से जागृत कर लेते हैं। वह आत्मा भी विचार करती है, हमको भी कुछ ज्ञान मिल जाय और वह ज्ञान जीवन में उतर जायेगा तो कहना ही क्या है? महाराज जी की कृपा और आशीर्वाद ही इसमें निमित्त बन सकता है? चलकर महाराज जी से ही निवेदन करते हैं कि महाराज जी आप हमें अपने जैसा ज्ञानी बना लीजिए। हमारे योग्य जो ज्ञान है वह हमें दीजिए। हम आपके चरणों में समर्पित होते हैं। इस प्रकार विचार करते हुए उसने महाराज जी के पास आकर कहा हे गुरुदेव आपके चरणों में कोटि-कोटि नमोस्तु अर्पित है, आप हमें अपने जैसा बना लीजिए, हमको भी कुछ ज्ञान दीजिए।

गुरुदेव ने कहा अवश्य यह कार्य हो सकता है। तुम्हारी गम्भीरता विनयशीलता की अनवरत प्रवृत्ति तुम्हारे जीवन को बड़ा महान बनावेगी, लेकिन अगर तुम्हारे माता पिता की आज्ञा मिल जाये, उनका तुम्हें सहयोग मिल जाये तो ये काम सफल हो सकता है। ठीक है महाराज जी, बस; हम अवश्य ही माता-पिता के समक्ष अपनी आन्तरिक भावना व्यक्त करेंगे। वह माता-पिता के पास जाता है और कहता है कि हमारे इस प्रकार के मनोभाव हो रहे हैं कि हम मुनिराज जी से ज्ञान प्राप्त करें, उनसे शिक्षा ग्रहण करें। माता-पिता ने पुत्र की बात सुनी और फिर बोला कि बेटा बहुत अच्छा है, जाओ अवश्य जाओ। सम्पन्न कुटुम्ब है, किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है यहाँ सब कुछ है, तुम जाना चाहते हो चले जाओ। लेकिन बेटा इतना जरूर ध्यान रखना कि हमारा तुम्हारे प्रति मोह बहुत है, ऐसा न हो कि तुम वहाँ जाकर दीक्षित हो जाओ और वहीं रह जाओ, बेटा वापिस जरूर आ जाना हम तुम्हारी राह देखेंगे। हाँ माँ-पिताजी हम जरूर वापिस आयेंगे। आपसे बिना पूंछे और कुछ नहीं करेंगे। आपने अब कह ही दिया है, नहीं तो हमारा और भी भाव कि धर्म मार्ग पर आगे बढ़ जायें। नहीं बेटा ज्ञान पाकर घर आना, फिर चाहे आगे बढ़ जाना। ठीक है, कोई बात नहीं हम अवश्य आयेंगे। आज्ञा मिल गयी माता-पिता की वह चल दिया गुरुदेव के साथ। महाराज जी ने पहले ही कह दिया देखो! हमारे

पास रहने के लिए तुम्हें अपनी वेशभूषा में परिवर्तन करना पड़ेगा, तो उसने धवल कपड़े पहन लिये, बालों को भी छोटा-छोटा कर लिया क्योंकि किसी के राग का कारण न बन जायें इस बात का ध्यान रखना पड़ता है। अपन को स्वयं भी राग नहीं करना है और दूसरे का भी हमारे ऊपर प्रभाव न पड़े।

सभी जगह विहार करते हुए चार्तुमास आदि में नियमित रूप से मुनिराज जी ने शिक्षा देनी प्रारम्भ की। क्रम से **प्रथमं-करणं-चरणं-द्रव्यं नमः शास्त्राभ्यासो** अर्थात् प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग का स्वाध्याय करते हुए ज्ञानाभ्यास चलता रहा। वह गुरु महाराज जी की सेवा-वैयावृत्ति करता, अपने को धर्म संस्कारों से युक्त बनाने सतत प्रयास करता और शिक्षा तो प्राप्त कर ही रहा था। चारों अनुयोगों का ज्ञान प्राप्त करने में कई वर्ष व्यतीत हो गये। स्वाध्याय पूर्ण हुआ तो महाराज जी ने एक दिन कहा देखो, तुम्हारे लिये जो ज्ञान इस अवस्था के योग्य देना था वह दे दिया गया है। अब यदि इसके आगे और ज्ञान चाहिए तो मुनि बनना पड़ेगा क्योंकि सिद्धांत ग्रंथों को पढ़ने के लिये भाव शुद्धि के अंतर्गत महाव्रतपना होना चाहिए। महाव्रत नहीं हो तो उसे नहीं पढ़ सकते तुम्हें पढ़ना हो तो मुनि बनना पड़ेगा। ठीक है महाराज जी, आपका आशीर्वाद रहा तो अवश्य मुनि बनकर इन शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ऐसी शक्ति प्रदान करें। सो तो ठीक है; तुम्हारे माता-पिता ने कितनी आज्ञा दी थी सोच लो और अब क्या करना है?

हाँ महाराज! बस; उन्होंने यही कहा था कि स्वाध्याय पूर्ण करके ज्ञान अर्जन करने के बाद वापिस गृह आ जाना। इसलिए ठीक है गुरुदेव घर की ओर जाता हूँ, आपका आशीर्वाद बना रहा तो शीघ्र ही शीघ्र पुनः आपके चरणों में आ करके महाव्रत ग्रहण कर सकूं। इतना कहकर नमोस्तु किया और वह जाने लगा। महाराज जी बोले अरे-अरे ऐसे ही जा रहे हो, इतने दिन पढ़ाया, स्वाध्याय कराया, इतना समय दिया और तुम बिना कुछ गुरु दक्षिणा दिये जा रहे हो? गुरु दक्षिणा; वह बड़े आश्चर्य से बोला, हे गुरुवर आपको क्या गुरु दक्षिणा दें, आप तो परम निर्ग्रन्थ हैं, आप क्या लेंगे? आप धन पैसा रूपया आदि तो कुछ रखते नहीं हैं, हम आपको क्या गुरु दक्षिणा दे सकते हैं।

महाराज जी बात सुनकर बोले अरे! तुम इतना भी नहीं समझ पाये कि जो जैसे होते हैं, उनके अनुसार वैसा ही व्यवहार किया जाता है। अगर गुरु निर्ग्रन्थ हैं तो

तुम्हे गुरु दक्षिणा में क्या देना चाहिए? कोई नियम-संयम ही गुरु दक्षिणा होती है। अच्छा ऐसी बात है गुरुवर, तो आप कोई नियम-संयम दीजिए हमें स्वीकार है सब, हम विधि अनुसार उनका पालन अवश्य करेंगे। नहीं, नियम-संयम अपनी शक्ति को देखकर लेना चाहिए, तुम्हारी जैसी शक्ति हो वैसा नियम ले लो। ठीक है महाराज जी, एक व्रत लेता हूँ, कि मैं आजीवन (जीवनपर्यन्त) तक शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूंगा। ठीक है, हमारा आशीर्वाद है। इस तरह धर्म संस्कारों से युक्त शिक्षा को पाकर वह घर की ओर प्रस्थान करता है।

घर पर आने का समाचार पहुँचा दिया गया। वह घर की ओर चल देता है। घर पहुँचता है तो वहाँ सब उसकी अगवानी करते हैं। प्रसन्नता का वातावरण सारे घर में रहता है, जो धर्म ध्यान मुनिराज जी के पास सीखा था, उन सब नियमों का पालन करते हुए धर्म ध्यान में अपनी नियमित दिनचर्या व्यतीत करता। श्रावकों के षट्कर्मों को पालता। शास्त्र-स्वाध्याय आदि के द्वारा लोग धर्म ध्यान सीखते, ज्ञानार्जन में अभिवृद्धि करते, बहुत लोग ज्ञानी बन रहे थे, समाज का बहुत अच्छा कल्याण हो रहा था।

इसी तरह एक नगर में एक समय ज्ञानी आर्यिका का ससंघ आगमन हुआ। उनकी साधना और उपदेश से बहुत लोग प्रभावित हुए। कई लोगों ने व्रत नियम संयम ग्रहण किये। यहीं एक कन्या के मन में भाव आया कि हम भी आर्यिकाजी जैसा ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवन को धन्य बनायेंगे। इसी भाव से उसने अपनी भावना आर्यिकाजी के श्री चरणों में निवेदित करते हुए कहा- माताजी आप हमें अपने जैसा बना लीजिए, कम से कम ज्ञान के क्षेत्र में तो आशीर्वाद प्रदान कीजिए। आर्यिकाजी ने कहा ठीक है अवश्य ज्ञान दे सकते हैं, परन्तु पहले अपने माता-पिता से आज्ञा ले लो। माता-पिता से आज्ञा मिल जाने के उपरांत वह कन्या आर्यिका जी के साथ में रहने लगी। आर्यिका जी ने प्रथम शिक्षा प्रदान की कि सादगी से संघ में मर्यादा पूर्वक रहना व किसी को राग उत्पन्न न हो और स्वयं भी राग नहीं करना इसलिए धवल वस्त्र धारण करना ऐसा कहा। स्वाध्याय प्रारम्भ हुआ, क्रम से कुछ ही वर्षों में शिक्षा प्राप्त कर ली। धर्म के संस्कार प्राप्त किये और अन्त में गुरुदक्षिणा के रूप में आर्यिका जी से आजीवन कृष्ण पक्ष में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूंगी यह नियम लिया। आर्यिका जी ने कहा देखो, तुम्हारी परीक्षा भी

होगी। आर्यिका जी से उस कन्या ने कहा माताजी मैं अपने व्रत में दृढ़ रहूंगी, व्रत का पालन प्रत्येक परिस्थिति में करूँगी। अच्छा है व्रत में दृढ़ता रहे,आर्यिका जी का आशीर्वाद भी प्राप्त हो गया और वह कन्या अपने घर आ जाती है।

युवा अवस्था थी, अतः विवाह का संयोग घर के लोग बिठाने लगे। वे दोनों अलग-अलग नगर में रहते थे। दोनों के मन में विचार उठते कि पूर्ण पाप से अलिप्त रहें और मोक्षमार्ग में जायें, लेकिन क्या करें,माता-पिता, नाते-रिश्तेदार नहीं मानेंगे। खैर, जितना व्रत लिया है उतना तो हम पालेंगे ही, यदि जीवन में मौका मिल गया तो पापों से पूर्णरूपेण विरक्त हो सकें, यह भावना भाते हैं। दोनों एक दूसरे को जानते भी नहीं थे। संयोग पूर्वक दोनों के परिवारजनों ने विवाह के योग्य कार्य शुरु किये। पत्रिका आदि का मिलान किया गया गुण मिलाये गये। जानते हैं आप सभी कि गुण मिलाये जाते हैं; क्योंकि गुण एक समान मिलते हों तो जो एक कहता है तो दूसरा भी मानता है उसी बात को ऐसा सामंजस्य बना कर चलते हैं, मनोभाव एक दूसरे के सदृश बने रहें। अपने जैन धर्म में वात्सल्यता आदि सब कुछ बताया ही गया है। जीवन में अच्छे ढंग से मिल जुलकर रहना चाहिए। आजकल तलाक, अनमेल, विवाह, अन्तरजातीय विवाह आदि न जाने कितनी घटनायें समाज में घट रहीं हैं। दूसरे को ऊपर उठाना है तो इसका मतलब यह नहीं है कि हम नीचे की ओर गिर जायें, हम स्वयं भी संभले और दूसरे को भी न गिरायें इस बात का अवश्य ध्यान रखें। धूमधाम से उन दोनों का विवाह सम्पन्न हो जाता है।

शादी होकर नववधू वर के घर आ जाती है। दोनों आपस में बातचीत करते बैठे हुए थे, आपस में, एक दूसरे के विषय में जानना चाहते हैं। स्वाध्याय आदि के विषय में बात करते हुए व्रतों तक बात आ जाती है, दोनों अपने व्रतों की बात और शिक्षा ग्रहण का योग्य प्रसंग बतलाते हैं। युवा जिनका नाम विजय था वह अपनी स्त्री विजया को कहता है कि मैंने विवाह से पूर्व शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य व्रत रखने का नियम ले लिया है चूंकि महीने में दो ही पक्ष होते हैं एक शुक्ल पक्ष दूसरा कृष्ण पक्ष। कृष्ण पक्ष में अपनी इन्द्रियों पर विजय नहीं पा सका तो साधना मात्र करूंगा बाकी शेष शुक्ल पक्ष में दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूंगा। इस बात को सुनकर विजया कहती है - हे स्वामी ! मेरी त्रुटि क्षमा योग्य हो, जो बात मेरे से अज्ञानता वश हो गयी वह यह कि मैंने भी आर्यिका माताजी से कृष्ण पक्ष में

ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर ग्रहण किया है। मैं तो जीवन भर इस व्रत का पालन कर लूंगी। आप पुरुष हैं, पुरुष तो और भी विवाह कर सकते हैं आप दूसरा विवाह कर लें, हम आपको देखकर ही संतुष्ट हो जायेंगे, हमारे आपके प्रति कभी भी कोई परिणाम नहीं बिगड़ेंगे। बहुत अच्छा है! विजय ने कहा; पर यह बात है कि स्त्री त्याग की पराकाष्ठा को छू लेती है, ममता और सहनशीलता की पराकष्ठा उसमें विद्यमान रहती है, वह व्रतों का पालन दृढ़ता से कर सकती है तो मोक्ष जाने की योग्यता रखने वाला यह पुरुष क्या स्त्रियों से पीछे रहेगा तो नहीं। अत: हम भी अपने व्रत का पालन अवश्य करेंगे।

विवाह का मतलब सिर्फ भोगों का समर्थन ही नहीं है, बल्कि अभी तक जो भोग अमर्यादित थे उन्हें एकीकरण द्वारा सीमित दायरे में लाना है, अनेक से एकीकरण की ओर आ जाना बाकी भूल जाना यही गृहस्थ धर्म है। दोनों का व्रत कम नहीं था, विजय चाहता तो दूसरा विवाह कर सकता था, उसके व्रत में कोई भी दूषण नहीं लगता, किन्तु उसने कहा - बहुत अच्छा, अब हमारा सांसारिक वृद्धि का जीवन समाप्त हो गया। हम प्रसन्न हैं, अपना व्रत जीवनपर्यंत पालेंगे। चर्चा करने की किसी को आवश्यकता नहीं है। दोनों ने संकल्प ले लिया, आज से आजीवन भाई-बहिन की तरह रहेंगे, जिस दिन इस बात की खबर लोगों को या माता-पिता को पता चल जायेगी, उसी दिन सन्यास ग्रहण कर लेंगे।

दोनों ने धार्मिक जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया। यात्रायें करते, स्वाध्याय आदि करते व करवाते और संत समागम में भी रहते, ऐसा करते-करते ही बहुत समय बीत गया। माता-पिता सोचते कि विवाह हुए कई वर्ष बीत गये पर अभी तक कोई संतान ही नहीं हुई, आपस में लोग चर्चा करते बड़ा दुर्भाग्य है इन लोगों का अभी तक सन्तान नहीं ताने और उलाहने मिलने लगे। दोनों शांत भाव से सब सुनते, अब क्या किसी को बताते कि हमारे पास कौन सा व्रत है?

एक दिन की बात है एक जगह एक बूढ़ी श्राविका थी, अच्छे व्रत आदि पालती थी। अहिंसा का पूरा ध्यान रखती थी सारी क्रियायें विवेक पूर्वक करती थी। वह कुएँ का पानी लेती थी और जीवानी को विधिपूर्वक उसी कुएँ में डालती थी। जैन मंदिरों में कुएँ बनवाने का तात्पर्य यह भी रहता था कि मंदिरजी में भगवान के

अभिषेक के साथ ही अन्य गृहस्थलोग भी अहिंसा पूर्वक जल का उपयोग कर सकें और जितना अधिक कुएं से जल निकलेगा उतना ही शुद्ध जल आयेगा भूमि से इस निमित्त से कुएँ बनवाते थे, मंदिरजी के कुएँ से जल लेने में कोई दोष नहीं है श्रावकों के लिए यह भी ध्यान रखें। हाँ तो अवस्था के अनुरूप उस बूढ़ी श्राविका के हाथ भी हिलने लगे थे। वह जल छान रही थी तब उसके पात्र की थोड़ी सी जीवानी भूमि पर गिर गयी। जिसे देखकर उसे मन में बहुत पीड़ा हुई। हे भगवन ये क्या हो गया मुझसे। एक बूंद पानी में असंख्य जीव होते हैं। इतना जल गिरने से इन त्रस जीवों की हिंसा हो गयी, यह अपराध मुझसे हो गया, अब क्या करें हम। पीड़ा हुई प्रायश्चित्त लेने के भाव हुए और वह मुनि महाराज जी के पास उसी दिन ही पहुँच गयी। मुनिराज से व्यथित होकर बोली- हे गुरुवर आज बहुत बड़ी गलती हो गयी, बड़ा दोष लग गया, जीवानी जमीन पर गिर गयी, मुझ अज्ञानी से ऐसी विराधना हो गयी, मुझे प्रायश्चित्त दीजिए अन्यथा इस पाप से मुक्ति कैसे होगी?

महाराज जी ने कहा - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से ही प्रायश्चित्त दिया जाता है, जिसमें शक्ति भी देखी जाती है। शक्ति अनुसार ही प्रायश्चित्त दिया जाता है। तुम्हारी सर्व पापों से मुक्ति हो यही भावना है। क्या तुम अतिथि संविभाग करती हो कि नहीं?

श्राविका ने कहा-महाराज जी यह तो मेरा प्रतिदिन का धर्म है। मैं रोज किसी न किसी का आहार कराती हूँ। बिना आहार कराये, भोजन ही नहीं करती हूँ। पहले मुनि महाराज जी का इंतजार करती हूँ, फिर आर्यिका माताजी, ऐलकजी, क्षुल्लकजी या त्यागी-व्रती आदि कोई भी हों उन्हें आहार कराती ही हूँ, यदि इनमें से कोई भी नहीं है तो पड़ोसी किसी सम्यग्दृष्टि को घर आमंत्रित कर, उनका भोजन कराकर ही भोजन करती हूँ।

महाराज जी बोले-यह तो श्रावक का कर्तव्य है ही। अतिथि संविभाग करने से प्रायश्चित्त एक दिन पूरा हो जायेगा। प्रतिदिन दो अतिथियों को अपने घर में आहार कराते रहना। अच्छा महाराज जी। परन्तु महाराज जी हम कैसे समझेंगे कि हमारा प्रायश्चित्त कब पूरा हो गया? इसके लिए कोई संकेत बतला दीजिए। महाराज जी ने कहा जिस दिन तुम्हारे घर में असिधारा व्रत करने वाले व्रतियों का आहार हो जायेगा, उस दिन तुम्हारा प्रायश्चित्त पूरा हो जायेगा। असिधारा व्रत क्या

होता है महाराज जी? उसने पूछा; तो कहा तलवार की धार पर चलने के समान व्रत होता है। यदि कोई तलवार की धार पर चलकर निकल जाय तो इससे बढ़कर और क्या बात होगी? इस व्रत में पति-पत्नी साथ में रहते हुए भी ब्रह्मचर्य व्रत को पालते हैं। व्रत का नाम विद्वेष नहीं, वरन् अविकार दृष्टि रूप परिणाम हैं। जिनकों चौबीसों घण्टे निमित्त मिलें और उसके बाद भी मन में विकार न आये तो इस व्रत के समान और दूसरा श्रेष्ठ व्रत संसार में है ही नहीं। शादी नहीं हुई तो अलग बात है व दूर-दूर रहते हैं तो अलग बात है या पत्नी की मृत्यु हो गयी तो अलग बात है व पति की मृत्यु हो गयी तो अलग बात है, परन्तु पति-पत्नी हैं और एक साथ रह रहे हैं एक ही जगह और दोनों एक साथ एक जैसा व्रत पालते हैं। यदि वे यह सोचें कि कोई नहीं देख रहा है, पर कर्म तो देख रहे हैं, भगवान को मानते हैं तो वह तो वे भी देख रहे हैं, इतना ही नहीं स्वयं तो अपने को हम देख ही रहे हैं, यह बात ध्यान रखना चाहिए।

श्राविका ने महाराज जी से पूछा कि महाराज जी असिधारा व्रत क्या है यह तो समझ में आ गया, लेकिन हम अतिथियों से कैसे पूछेंगे कि आपका असिधारा व्रत है कि नहीं? अत: हमें कैसे मालूम पड़ेगा इसलिए आप कृपा कर इसका कोई संकेत बता दीजिए, जिससे हम जान सकें क्योंकि किसी से ऐसे व्रत के सम्बंध में पूछना ठीक नहीं होगा। महाराज जी बोले - ये बात तो ठीक है, देखो तुम्हारे घर के चौके के ऊपर चँदोवा बँधा है, वह काला पड़ गया है, वह चँदोवा उस दिन सफेद हो जायेगा जिस दिन असिधारा व्रत करने वालों का आहार तुम्हारे गृह में हो जायेगा वह भी इस संकेत के लिए कि आज प्रायश्चित्त पूर्ण हो चुका है। श्राविका ने कहा- ऐसा ही हो महाराज जी! अब हम रोज चँदोवा को जरूर देखते रहेंगे।

वह घर आ जाती है। रोज व्रतियों को आहार कराती और चँदोवा को देखती रहती है। इस प्रकार बहुत समय व्यतीत हो गया अब उसके मन में उतावलापन रहने लगा कि अभी मेरा प्रायश्चित्त पूरा नहीं हुआ यह चँदोवा कब सफेद होगा? जिस दिन भी किसी व्रती के आहार होते तो वह आहार देती जाती और ऊपर चँदोवा को भी देखती जाती कि सफेद हुआ कि नहीं। अच्छे से अच्छे त्यागी व्रति, गृहस्थों को भोजन कराया, फिर भी चँदोवा सफेद नहीं हुआ।

एक दिन की बात है विजय और विजया दोनों तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा करते हुए मुनि-महाराजों आदि के दर्शन करते हुए अपने नगर में आये। उस श्राविका ने

मंदिर में अतिथि जोड़ा समझ कर जय जिनेन्द्र किया और दोनों को भोजन के लिए आमंत्रित कर दिया। तब इन्होंने कहा नहीं हम घर पर ही भोजन कर लेंगे। वह श्राविका नहीं मानी तो अन्त में उन्होंने भोजन करने के लिए अपनी स्वीकृति दे दी। दोनों जब उसके घर जा रहे थे धीरे-धीरे नीचे देखते हुए चल रहे थे। वे यहाँ वहाँ नहीं देख रहे थे और घर पहुँचते ही सामने खड़े हो गए। श्राविका महिला ने कहा- आइये घर में प्रवेश करिए, तब वे घर में आये। शुद्ध जल से पैर धौये, फिर खड़े हो गए, क्योंकि किसी के चौके में एकदम थोड़े ही जाते हैं, बुलाने पर चौके में प्रवेश किया। भोजन के लिए बैठिये कहा तब बैठ गये। सभी वस्तुयें जो थाली में परोसी गयी थी, ठीक से उनका शोधन किया, जो चाहिए था उसको लिया, शेष को जो नहीं चाहिए था उसे थाली से बाहर रख दिया। मौनपूर्वक भोजन किया। जैसे-जैसे वे भोजन कर रहे थे वैसे-वैसे श्राविका के चौके में बँधा हुआ चँदोवा सफेद हो रहा था। जब भोजन पूरा हो चुका तो वह चँदोवा कालेपन से सफेदी को प्राप्त हो गया परन्तु किसी का ध्यान नहीं गया। दोनों भोजन करने के उपरांत अपने घर की ओर चल देते हैं।

भोजन कराने के उपरांत श्राविका महिला की दृष्टि अचानक चँदोवे पर गयी जेसे ही उसने देखा वह काले की जगह सफेद दिखाई दिया। वह आश्चर्यचकित रह गयी और तुरन्त ही ब्रह्मचर्य धर्म की जय हो, असिधारा व्रत की जय हो इस प्रकार बोलती हुई दोनों के पीछे-पीछे उनके घर तक जाती है, घर के लोग व सभी लोग उसे देखते हैं, सुनते हैं, सभी पूछते हैं अम्माँ क्या हुआ, आप जय क्यों बोल रही हैं। उसने कहा अरे-अरे ये महान आत्मायें हैं। सभी ने एक साथ पूछा कि कौन महान आत्माएँ हैं जरा हमें बतलाओं तो सही। उसने विजय व विजया के गृह के लोगों की ओर संकेत करते हुए कहा अरे आपके घर में ऐसी महान आत्मायें हैं जिनका असिधारा व्रत है।

असिधारा व्रत! यह कौन-सा व्रत है? क्या कोई तलवार आदि धारण किये हुए है? तो ऐसा तो कोई हमारे यहाँ है नहीं, क्या हो गया है अम्माँ आपको। अरे! नहीं-नहीं, यह व्रत तो इतना महान है कि कहना ही क्या है। इस व्रत का मतलब होता है विवाह होने के बाद भी ब्रह्मचर्य व्रत का पूरा पालन करना। अरे ऐसा कौन है जो ब्रह्मचर्य व्रत पालता हो, आपको कोई गलत फहमी हुई होगी,

हमारे यहाँ ऐसा कोई नहीं है। अरे हाँ! आपको नहीं मालूम आपके बेटा और बहू दोनों इस व्रत को पालते हैं। ऐसा है क्या? हाँ। अरे! हम लोग तो सोच रहे थे कि इतने दिनों से संतान नहीं हुई, कहाँ से अभागे लोग हमारे घर में आ गये। ये कहाँ से अभागिन आ गयी ऐसे शब्द बोलते थे। दु:खी स्वर में कहते हैं-यह क्या हो गया हम सबसे? आज मालूम पड़ा। व्रत की महानता के बारे में और सभी को मालूम पड़ गया। नगर के लोग उनका आदर-सत्कार करते हैं, सबको आनन्द हो गया और घर में सबको अपार खुशी हुई।

दोनों ने आपस में चर्चा की कि अब सारा रहस्य खुल गया है हमें गुरु चरणों में जिनदीक्षा ले लेनी चाहिए। दोनों माता-पिता के चरणों में नमस्कार करते हुए निवेदन करते हैं - हे पूज्यवर। अब हमें जिनदीक्षा लेने के लिए आशीर्वाद और आज्ञा प्रदान करें, हम अपना कल्याण करना चाहते हैं। हम लोगों ने प्राय: यह सोच रखा था कि जब तक ये बात गुप्त रहेगी, तब तक माता-पिता की सेवा करते रहेंगे और जिस दिन यह रहस्य खुल जायेगा, उसी दिन दीक्षा के लिए चले जायेंगे। अत: हम दोनों मुनि, आर्यिका बनकर आत्म-कल्याण करना चाहते हैं। आप लोगों को विश्वास तो हो ही गया है कि हम अच्छे से व्रत का पालन कर सकते हैं। हम विचलित नहीं होंगे, आप अपना मोह छोड़िए और हमें दीक्षा के लिए आज्ञा और आशीर्वाद दीजिए। सबने उन्हें आशीर्वाद प्रदान किया और उन्होंने सबको क्षमावाणीपूर्वक धन्यवाद दिया। सभी बड़े ही खुशी के साथ उन्हें गुरु महाराज जी के पास ले गये। वहाँ पहुँचकर गुरु के चरणों में दीक्षा के लिए निवेदन किया और दोनों दीक्षा ग्रहण कर आत्म कल्याण करने लगे। देखो ब्रह्मचर्य व्रत कितना महान है। एक गृहस्थ जीवन में ब्रह्मचर्य स्वीकारने वाले के पास इतना पुण्य फल मिलता है कि 84000 मुनियों के आहार दान के पुण्य को सहज ही प्राप्त कर लेता है। तीन लोक में ब्रह्मचर्य ही एक मात्र ऐसा श्रेष्ठ व्रत है कि जो आत्मा इस व्रत का पालन करता है वह नियम से सुगति को प्राप्त करता है। यह कथा थी विजय और विजया की कि जिन्होनें असिधारा व्रत का पालन किया और दीक्षा अंगीकार कर आत्म कल्याण किया। यह शील व्रत की अपूर्व महिमा है।

विश्व में यदि कोई गौरव का स्थान है तो वह है मानव का शील चारित्र। जो मनुष्य शील व्रती होते हैं, जो शील धर्म से विभूषित होते हैं, उनकी कीर्ति केवल

इस युग में ही नहीं वरन् परलोक और परभव में भी रहती है। धन्य हैं वे आत्मायें चन्दनवाला, मनोरमा सती, मैना सुन्दरी, अंजना सती और सीता सती जैसी जिन्होंने शील का पालन किया और देवों ने आकर उनकी रक्षा की। आपको ज्ञात ही होगा कि जब सीता जी अग्नि कुण्ड के समक्ष खड़ी थी और अग्नि में जैसे ही प्रवेश किया कि धर्म और शील की रक्षा के लिए देवों ने आकर उस अग्नि कुण्ड में भी जल कर दिया। वे सुदर्शन सेठ भी महान हैं जब उन पर तलवारों के बार हुए तो देवों ने तलवार के स्थान पर फूलों की वर्षात् कर दी, उन्हें शूली से सिंहासन पर बैठा दिया। चन्दनवाला पर जब अत्याचार हुए तो देवों ने रक्षा की। मर्यादा पुरुषोत्तम राम व सीता चौदह वर्ष तक वनवास में संयम से रहे। गुणभद्राचार्य उत्तरपुराण में लिखते हैं कि उनके शुद्ध एवं मर्यादित आचरण के कारण अयोध्या वासियों ने उन्हें इक्ष्वाकुवंश कुलकेसरी की उपाधि से विभूषित किया। राम भी महान हैं जिन्होंने लंका को जीतने के बाद भी उसे नहीं स्वीकारा। मंदोदरी ने कहा हे राम! जब आपने लंका पर विजय प्राप्त की है तब इस पर राज्य कीजिए। विभीषण ने भी कहा - इस राज्य को आप ही संभालिए। राम ने मंदोदरी से कहा नहीं माता! हमने इस राज्य को पाने के लिए युद्ध नहीं किया है बल्कि हमने तो अपनी सीता के शील की रक्षा के लिए युद्ध किया था, उसके धर्म की रक्षा के लिए किया था, इसलिए मैं यहाँ राज्य नहीं कर सकता। तब मंदोदरी कहती है- धन्य हैं आप, महान हैं। राम ने कहा हे माता- अगर राज्य करने में कोई कठिनाई महसूस हो तो मैं आपकी रक्षा के लिए अवश्य आ जाऊँगा, लेकिन यहाँ तो विभीषण ही राज्य करेगा। मंदोदरी ने कहा

धन्या राम त्वया माता,धन्या राम त्वया पिता।
धन्या राम त्वया वंश: परदारा न पश्यति।।

अर्थात् - हे राम आपकी माता धन्य हैं, आपके पिता धन्य हैं, आपका वंश धन्य है कि आपने पर दारा (स्त्री) को बुरी दृष्टि से नहीं देखा है। आपने माँ की दृष्टि से देखा है आप धन्य हैं। आप जैसी महान आत्माएं सदैव इस जग में होती रहें जिससे शील का उपदेश मिलता रहे। शील धर्म का आप लोग पालन करते रहें। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ शील के बारे में नियम लेगा ऐसी मेरी सद्‌भावना है। आत्मा के सौन्दर्य को निखारने में शील व्रत की भूमि का आवश्यक है। चौबीस तीर्थंकरों में पाँच बाल ब्रह्मचारी (बालयति) तीर्थंकरों को विशेष महत्व दिया गया

है। शील की पूर्णता में ही परमात्मा का पद है। अठारह हजार शील के पालनकर्ता को सदैव अर्हन्त मानकर प्रणाम किया है। परमशील की महिमा को समझकर उत्तमब्रह्मचर्य व्रत को अंगीकार करें, ऐसे महान व्रत को पालें। यह उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म दशलक्षण धर्म रूपी मंदिर का स्वर्ण कलश है। आजीवन को नहीं तो साधना रूप में अष्टमी-चतुर्दशी का व्रत लें, स्वदार संतोष व्रत का पालन करें, शीलवान बनें यही सभी को आशीर्वाद है। धर्म भावना शतक में लिखा ही है-

परम शील का पालन करने, जो कुशील का त्याग करें।
शील बिना सुख नहीं जगत् में, ऐसा मन में भाव रखें।।
विजय व विजया असिधारा व्रत, से जग में विख्यात हुए।
शीलवान सुदर्शन श्रावक, देवों से आदरित हुए ।। 90।।
जैसे सीता प्रति देवों ने, जल में कमल रचाया था ।
सेठ सुदर्शन को शूली का, सिंहासन बनवाया था।।
विजय व विजया से चँदोवा, धवलपूर्ण बनाया था।
धन्यशील के धारी जिनका, देवों ने गुण गया था ।। 96।।

।। भगवान महावीर की जय ।।

दीप निष्ठा का जले तो आँधियां बाधक न होंगी ।
आदमी में अगर लगन हो तो मजबूरियाँ बाधक न होंगी ।।
हारते हैं वे जिन्हें अपने पर विश्वास नहीं है ।
बढ़ चले सही पथ पर पथिक तो दुनिया बाधक न होगी ।।

वात्सल्य का पर्व - क्षमावाणी

मङ्गलाचरण

पावं खवइ असेसं, खमाए परिमंडियो य मुणिपवरो।
खेयर अमर णराणं, पसंसणिओ धुवं होई ।।

सद्धर्म बन्धुओं।

दशलक्षण महापर्व क्षमा धर्म से प्रारम्भ होते हैं और इनके समापन पर भी क्षमावाणी पर्व रूप में उत्सव मनाया जाता है। जैसे कि अपने सहधर्मी जनों से क्षमाभाव पूर्वक मोक्षमार्ग में दीक्षा धारण की जाती है और जीवन के अन्तिम समय में क्षमा भावपूर्वक सल्लेखना (समाधि) धारण की जाती है। क्षमा का अर्थ सहन करना है। सहन वहीं कर सकता है जो शक्तिवान है। अतएवं क्षमावाणी अन्तस् निर्मल करने की परम पावन पवित्र प्रक्रिया है।

दशधर्मों की उत्तम आराधना के बाद क्षमावाणी महापर्व आता है। आचार्य उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थसूत्र में मुनिधर्म के पावन प्रंसग इसकी चर्चा की है। दशधर्मों की आराधना का समग्र प्रतिफलन जिस क्षमावाणी में प्रस्फुटित होता है भइया, वह कितनी महान होगी यह विचारने की बात है। भूमिकानुसार जब तक दशों धर्म हमारी परिणति में नहीं प्रकटेंगे,तब तक क्षमावाणी का वास्तविक लाभ प्राप्त नहीं होगा। क्षमा वैसे तो आत्मा का स्वाभाविक गुण है। क्रोध व मान का त्याग क्षमावाणी में है। क्षमावाणी का संबंध मात्र क्रोध के अभाव रूप क्षमा से ही नहीं अपितु क्रोधमानादि विकारों के अभाव रूप क्षमादि दशोंधर्मों की आराधना एवं उससे उत्पन्न निर्मलता से है। क्षमा माँगने से यद्यपि भइया मानकषाय बाधक होती है, और जानते हो क्षमा करने में क्रोध कषाय बाधक होती है। कषायों का पूर्णतया अभाव और क्रोध व मान को जन्म ही न लेने दिया जाना क्षमावाणी है। दूसरे जीवों पर क्षमा करना सामान्य व्यावहारिक रूप है, पर सर्वोत्कृष्ट क्षमा तो अपनी आत्मा पर है। क्षमा-भाव के सर्वोत्कृष्ट रूप के बारे में पण्डित दौलतराम जी ने छहढ़ाला की छठी ढाल में लिखा है-

अरि मित्र महल मसान कंचन, काँच निन्दन-थुति करन।
अर्घावतारन असि प्रहारन, में सदा समता धरन ।। 6।।

भइया यह अवस्था किसको प्राप्त हो सकती है? समता धारी मुनिराज जी को ही यह अवस्था प्राप्त हो सकती है। मुनिराज प्रतिदिन प्रतिक्रमण कर हर क्षण क्षमा-भाव से परिपूर्ण होकर अपने कषाय जन्य भावों को समाप्त करते हैं और हमेशा एक ही बात ध्यान रखते हैं - **एइंदिया वेइंदिया तेइंदिया चतुरिंदिया पंचिंदिया पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणफ्फदिकाइया तसकाइया एदेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।**

अर्थात् एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पाँच इन्द्रिय, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक इन जीवों को कष्ट या दुःख दिया हो, दिलाया हो, देने वाले को अच्छा कहा हो तो वे सारे पाप या अपराध (दृष्टकृत) मिथ्या होवें अर्थात् सभी जीव मुझे क्षमा करें। इस भावना से पाप भी हल्का होता है, मन भी हल्का होता है। प्रतिक्रमण में दोषों के प्रति किया गया पश्चात्ताप आगामी होने वाले दोषों से भयभीत करता है, बुरे भावों का परिमार्जन करता है। दोष लगा हो या न लगा हो सभी व्रती-साधु प्रतिदिन तीन बार आवश्यक रूप से प्रतिक्रमण करते हैं। व्रती जीव १५ दिन में एक बार बड़ा प्रतिक्रमण कर क्षमा मांगते हैं, सम्यक्दृष्टि श्रावक कम से कम तीनों षोडशकारण पर्वों में तो अवश्य क्षमा मांग कर पाप कर्मों से मुक्त होना चाहते हैं। प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त जन्म-जन्म के अर्जित पापों, दोषों को नष्ट कर आत्मा को परिशुद्ध-निर्मल बनाते हैं जिससे एक दिन वह पवित्र आत्मा मुक्ति पथ के पथिक से परमात्मा बन हमेशा के लिये चिदानंद सुख में लीन हो जाती है।

बार-बार क्षमा माँगने में कोई बाधा नहीं एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों से क्षमा माँगना चाहिए। तीन लोकों के जीवों से क्षमा माँगना आवश्यक है। सभी के प्रति मैत्री भाव यह प्रथम भावना है। सामायिक में क्षमावाणी न हो तो मन स्थिर नहीं होता है। क्षमा माँगते हैं उन भावों के लिए; जो अपने अन्दर बैठा रक्खे हैं बैर भाव उन्हें निकाल देना क्षमा कर देना है। अतएव पहले उन भावों को निकालें, तुम्हारे प्रति बुरे भाव नहीं करेंगे, ऐसी क्षमा प्रकट करें फिर क्षमा माँगें। पर भइया होता क्या है; गलती पर गलती करते जाते हैं और क्षमा की बात विचारते हैं।

एक साधु महाराज प्रतिक्रमण कर रहे थे। वहीं पर बैठा हुआ एक श्रावक

उस प्रतिक्रमण को सुन रहा था। उस श्रावक ने प्रतिक्रमण का एक वाक्य याद कर लिया। वह कौन सा वाक्य ''**तस्स मिच्छामि दुक्कडं**'' । प्रतिक्रमण जब पूरा हो गया तब उस श्रावक ने साधु महाराज से पूछा कि आप अभी क्या कर रहे थे? साधु महाराज ने कहा - हम अभी प्रतिक्रमण कर रहे थे क्योंकि जब हम प्रवृत्ति में होते हैं तो हमारे मन-वचन काय की चेष्टा से निश्चित रूप से किसी न किसी जीव को दुःख या कष्ट पहुँचता है इसलिए हम उनसे उस कष्ट या दुःख के प्रति क्षमा-याचना करते हैं। **तस्स मिच्छामि दुक्कडं** का अर्थ है कि मेरा वह अपराध या दुष्कृत मिथ्या हो या वह मेरा अपराध गल जाय। सामान्य लोग भी तो सामान्यतया गलती होने पर बोलते हैं 'आय एम सॉरी प्लीज'। इस प्रकार स्वयं की आलोचना करने से हमारे अपराध या दोष दूर हो जाते हैं। यह अर्थ सुनकर वह व्यक्ति मन ही मन में सोचने लगा-यह तो बहुत बड़ा अच्छा उपाय है गल्तियों को दूर करने का। उसे तो मानो कोई नवीन सूत्र ही मिल गया। साधु महाराज ने पुनः कहा ''गलती के लिए किसी से क्षमा माँगना तो सरल है, लेकिन क्षमा करना कठिन है।'' वह व्यक्ति साधु महाराज के प्रतिक्रमण वाले वाक्य को याद कर वहाँ से चला और चलते-चलते एक कुम्हार के घर के सामने वृक्ष के नीचे पत्थरों पर बैठ गया।

कुम्हार ने बहुत सारे घड़े बनाये थे और उन्हें घर के बाहर सूखने के लिए रखे थे उसके बाद उन घड़ों को पकाने के लिए रखा जाता। कुम्हार की आजीविका के यह साधन थे जिन्हें उसने बहुत लगन और परिश्रम से तैयार किये थे। सामने बैठा वह व्यक्ति घड़ों को देखता रहा और एक कंकड़ उठाया उसे उछाल कर घड़े की तरफ फैंका कंकड़ लगने से घड़ा फूट गया क्योंकि घड़े अभी कच्चे और गीले थे। बस अब वह व्यक्ति कंकड उछाल कर घड़ों पर फैंकता और साथ ही तस्स मिच्छामि दुक्कडं कहता अर्थात् मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो। इस प्रकार उसने एक-एक करके पन्द्रह बीस घड़े फोड़ दिये। कुम्हार तोड़-फोड़ की आवाज सुनकर अपने घर से बाहर आया। उसने वहीं से देखा कि एक व्यक्ति सामने बैठा है और कंकड उठाकर घड़ों को फोड़ रहा है साथ ही कुछ बोल भी रहा है। कुम्हार ने थोड़ा पास जाकर कहा- अरे भैया यह क्या कर रहे हो? इससे हमारी रोजी-रोटी चलती है हमने कड़ी मेहनत से इन्हें बनाया है। उस व्यक्ति ने कहा कि - भइया हमारे गुरु ने कहा है जीवन में कितने भी पाप या दुष्कृत क्यों न हो **तस्स मिच्छामि दुक्कडं**

कहकर समाप्त किये जा सकते हैं। कुम्हार ने उस व्यक्ति को पहले तो बहुत समझाने का प्रयास किया पर वह जब किसी भी तरह से नहीं माना तो उसने कहा - अच्छा ऐसी बात है और वापस घर में पहुँचा। एक मोटी बड़ी लाठी उठाकर लाया और पूरी ताकत से उसने उस व्यक्ति के सिर पर दे मारी तथा हाथ जोड़कर विनती स्वर में कहा - **तस्स मिच्छामि दुक्कडं** जब डंडे पड़े तब उसे समझ में आया कि अकेला पाठ पर्याप्त नहीं है पाठ के साथ पश्चात्ताप व पारायण आचरण भी होना चाहिए। जो पुनरावृत्ति रूप बार-बार गलती करते हैं और क्षमा माँगते हैं तो यह मायाचार है। क्षमा वहीं है जिससे गल्ती पुन: दोहराई न जाय, तभी अपराध की क्षमा होगी। क्षमा जीवन की निर्दोष साधना है। हम दूसरे को सताते हैं फिर कहते हैं क्षमा करो।

देखों भइया जब सब कुछ जीवन में सीख लिया और गलती करते हैं जान बूझकर फिर बड़े स्वयं सॉरी-सॉरी बोलते हैं। ज्यादा से ज्यादा हुआ तो आय एम सॉरी प्लीज एक्सक्यूज मी कहके व्यक्त कर लेते हैं। ऊपर से बोलते तो हैं पर अन्तस् में अभिमान पलता रहता है। आजकल तो ऐसे भी लोग हो गए हैं कि अगर किसी को पैर लग जाए तो कहते हैं, हम क्या करें? हमने जान बूझकर थोड़े ही लगाया है, या कुछ बोलोंगे ही नहीं, कुछ भी नहीं कहते। और कुछ ऐसे मानी लोग हैं कि कुछ भी बोल देते हैं, लड़ने-मरने-मारने के लिए तैयार रहते हैं, और तो और कुछ नहीं तो क्षमा माँगने की बात को लेकर ही लड़-भिड़ पड़ते हैं फिर बड़े शान से कहते हैं - गलती की तो क्या हो गया? क्षमा (माफी) भी तो माँग ली, अब किसलिए और क्यों अकड़ते हो? इस प्रकार अनेक तरह की बातें करते हैं जैसे कि उन्होंने माफी या क्षमा माँगकर बहुत बड़ा अहसान कर दिया है और उस अहसान का आपको अहसानमंद होना चाहिए। ऐसा भी देखा है कि कभी-कभी लोग गलती करने के बाद भी कहते हैं मैंने कोई गलती तो की नहीं है फिर भी आप लोग नहीं मानते हैं तो हम क्षमा माँगने को तैयार हैं लेकिन हमारी भी बातों की ओर ध्यान दो तभी माँफी माँगेंगें। किन्तु यह नहीं स्वीकारते हैं कि अपराध या गलती हो गई है। सोचो हम गलती करते क्यों हैं? सावधानी क्यों नहीं रखते? अगर सावधानी रखेंगें तो ऐसे कार्य नहीं होंगे, हम आगे के लिए संभलते भी नहीं है। इससे अपना जीवन अच्छा बनने वाला नहीं है।

विनय भाव हम सदा रखें, दिखायें और क्षमा करें, क्षमा माँगें, मृदु बनें।

कषायों के अभाव से ही धर्म की उत्पत्ति है, नहीं तो कषाय भावना ही जगत में बैर भाव को उपजाती है अर्थात् कषाय भावनाएँ ही इस जगत में बैर भाव को उत्पन्न करती है। इसलिए ध्यान रखना। क्या ध्यान रखना है? कैसे ध्यान रखना है? घड़े फोड़े और 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' वाला उदाहरण हमेशा ध्यान रखना। जैसे ही तुमने दूसरे को सताया, कृपया क्षमा कीजिए बोला, इतने में ही काम किसी प्रकार से नहीं चलेगा भइया। कर्म के जब डण्डें पड़ेंगे तब मालूम पड़ेगा कि देखो अपराध का फल क्या है? हमने जो अपराध किया है उसे छोड़ने की भावना भायी नहीं, बल्कि और यह सोचा कि हमने ये बोल दिया तो हमारा यह अपराध निकल गया। ऐसा नहीं है हम आगे से ये कार्य नहीं करेंगे, ऐसी गलती दुबारा नहीं करेंगे, ऐसी पुनरावृत्ति नहीं करेंगे बार-बार ये पश्चात्ताप करना चाहिए, प्रतिज्ञाबद्ध या संकल्पशील नहीं हो सकते तो कम से कम प्रयत्नशील होना ही चाहिए। कुछ न कुछ दण्ड लेना चाहिए, तभी हम लोग आगे सुधर सकते हैं, नहीं तो हमारा सुधार होना बहुत मुश्किल है। जैन आगम में कहा है कि कभी भी हो ये भावना भाते रहें। मुनि महाराज व प्रतिमाधारी लोग यह भावना सदा भाते ही हैं प्रतिक्रमण में इस भावना को कहा ही गया है कि -

खम्मामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।।

मैं सभी जीवों से क्षमा याचना करता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा करें, मेरा सभी जीवों से मैत्री भाव है, किसी भी जीव से मेरा कुछ भी बैर-भाव नहीं है। किसी से अगर बैर को रखेंगे तो वह बैर-भाव आगे जाकर के अचार-मुरब्बा जैसा बहुत गर्हल्य हो जाता है और आगे जाकर वह निदान जन्मों-जन्मों तक निदान सियालनी की तरह भटकायेगा। मुनि सुकमाल तो अपनी साधना से तिर गये पर वह सियालनी नहीं तिर पायी। ये बैर-भाव कदापि नहीं रखना। बैर से क्रोध कभी समाप्त नहीं होता यह हमेशा ध्यान रखना। क्रोध खटाई का रूप है तो बैर अचार मुरब्बा रूप है। सम्यक्दृष्टि छ: माह से अधिक बैर-भाव नहीं रखता अन्यथा अनन्तानुबन्धी कषाय से मिथ्यात्व आ-धमकता है और फिर दुर्गति निश्चित है।

क्षमा रूपं तपस्विनाम् तपस्वियों का रूप क्षमा है। वे उपसर्गों को सहन करने में क्षमाशील हैं। तपस्वियों के आदर्श पार्श्वनाथ जी ने कैसे क्षमा की है जानते

हो? कमठ का एक तरफा बैर पार्श्वनाथ जी के प्रति दस-भव तक चलता रहा। पार्श्वनाथ जी हमेशा अपनी त्रुटियों को दूर करने में लगे रहे और मन में क्षमा भाव ही धारण करते रहे। पार्श्वनाथ जी तो सुगति में जाते रहे और जो उपसर्ग करने वाला कमठ था वह दुर्गति पाता रहा। जिस कमठ ने उनके प्रति अपना मन खट्टा किया वे पार्श्वनाथ जी उसके कल्याण की भावना भी भाते रहे, यह बहुत बड़ी चीज है जो महान लोगों के जीवन में आचरण में आ पाती है। पार्श्वनाथ जी को तो संसार से सदा-सदा के लिए छुटकारा मिल गया। देखो भइया! अन्तिम परिणाम के रूप में मुनि पार्श्वनाथ जी को उपसर्ग के समय कमठ पर क्षमा करते हुए केवलज्ञान के साथ भगवानपने की प्राप्ति हुई और इतना ही नहीं कमठ के कल्याण की भावना के कारण कमठ को भी सम्यग्दर्शन हो गया। ये होती है भइया महापुरुषों की क्षमा।

हमारे प्रति कोई कलुषता भी यदि रखता हो तो हमारे आचरण से वह भी निष्कलुष हो जाए। हमारी निर्मलता उसकी कलुषता को हटाने में कारण बने। हमारा क्षमा-भाव उसकी शत्रुता-बैर को नष्ट कर दे। क्षमावाणी को मुनिराज पार्श्वनाथ जी की उपसर्गावस्था में भली-भाँति देखा जा सकता है। जिस कमठ ने उपसर्ग किया और उस उपसर्ग का निवारण धरणेन्द्र द्वारा किया जा रहा था परन्तु पार्श्वनाथ मुनिराज का उन दोनों के प्रति समभाव था। कहा भी है-

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचितं कर्म कुर्वति।
प्रभुस्तुल्य मनोवृत्तिः पार्श्वनाथः जिनोस्तु नः ।।

इसी प्रकार यशोधर मुनिराज के जीवन चरित्र में क्षमा को समझ सकते हैं जो कि उनके गले में मरा हुआ साँप डालने वाले राजा श्रेणिक और उस उपसर्ग को दूर करने वाली रानी चेलना को एक सा आशीर्वाद देते हैं। उपसर्गों में भी समता भाव धारण किये रहना सहज कार्य नहीं है। क्षमा के ये वास्तविक पौराणिक रूप हैं, तो ऐसी क्षमा हमें सीखना चाहिए और भी ऐसे बहुत दृष्टांत हैं क्षमा के बारे में जिनसे हमें सीखना चाहिए।

महान लोगों ने कहा है पाप से घृणा करो पापी से नहीं क्योंकि पापों को छोड़कर पापी भी पवित्र बन सकता है। देखो भइया! श्रीराम ने कैकई माँ को उनके कृत्य के लिये क्षमा धारण की उनके द्वारा दिये गये चौदह वर्ष के वनवास को भी पूरा किया परिणामतः वनवास के उपरांत उन्हें अपने राज्य में राज्यपद की प्राप्ति

हुई। धैर्य और क्षमा का फल बड़ा मीठा होता है। जैसे ऋषभदेव जी के पुत्र भरत के द्वारा अपने अनुज भ्राता बाहुबली पर चक्र चलाये जाने पर बाहुबली जी की क्षमा एवं एक वर्ष की कठिन तप साधना के प्रभाव से भरत को चरणों में आकर क्षमा याचना करनी पड़ी तथा क्षमा के कोष बाहुबली मुनीश्वर को शुक्ल ध्यान के माध्यम से केवलज्ञान रूप भगवान अरिहंत पद की प्राप्ति हुई। क्षमा याचना या क्षमा करना एक इतना महान कार्य है, इतना पवित्र धर्म है जो जीव का जीवन बदल सकता है। बदल क्या सकता है, सही अर्थों में क्षमा भाव से आत्मा से परमात्मा लोक पूज्य सिद्ध बन सकता है।

मन में जब तक दूसरे के प्रति कलुषता है, तब तक दूसरे से अपने प्रति निर्मलता की अपेक्षा नहीं रख सकते। क्षमा शील लोग ही यह जानते हैं कि क्रोध से क्रोध नहीं मिटता, अग्नि से अग्नि नहीं बुझती, कीचड़ से कीचड़ कभी साफ नहीं होता, बैर से बैर समाप्त नहीं होता अपितु मैत्री-भाव, प्रेम सौहार्द, क्षमा से ही समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं। क्षमा भाव से हमारे शत्रु भी मिट जाते हैं और हमारा उपकार कई जन्मों तक नहीं भूलते। वास्तव में शांत भाव का आश्रय लेने वाले महामुनियों को देखकर जन्म जात के बैरी ऐसे क्रूर पशुगण भी क्रूरता अपनी छोड़ देते हैं। ज्ञानार्णव में जैसा कि आचार्य शुभचन्द्र जी लिखते हैं-

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नंदिनी व्याघ्र पोतं।
मार्जारी हंसबालं प्रणय परवशा केकिकांता भुजंगम्।।
वैराण्या जन्मजातान्यपि गलितमदा जंतवोऽन्ये त्यजंति।
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमित कलुषं योगिनं क्षीणमोहम्।।

(सर्ग 24, श्लोक 26)

हरिणी सिंह के बच्चे को पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती है। गाय व्याघ्र के बच्चे को दूध पिलाती है। बिल्ली हंसों के बच्चों को प्रीति से लालन करती है एवं मयूरी सर्पो को प्यार करने लगती है। इस प्रकार से जन्मजात भी बैर को क्रूर जंतुगण छोड़ देते हैं। कब छोड़ देते हैं? जबकि वे पापों को शांत करने वाले मोह रहित और समता भाव में परिणत ऐसे योगियों का आश्रय पा लेते हैं अर्थात् ऐसे महामुनियों के प्रभाव से हिंसक पशु अपनी द्वेष भावना छोड़कर आपस में प्रीति करने लगते हैं। ऐसी शान्त भावना का अभ्यास इस क्षमा के अवलम्बन से ही होता है।

क्षमा माँगने में अपनी गलती की स्वीकृति होती है। पुनरावृत्ति का अभाव होता है। परन्तु आप लोग जानते हो मानव की सबसे बड़ी कमजोरी क्या है? अरे भइया! मानव अपनी गलती को गलती मानने में ही अपना अपमान समझता है और यदि वही गलती/अपराध या दुष्कृत्य कोई दूसरा कर दे तो फिर उसे किसी भी तरह से छोड़ते नहीं है, उसका हर जगह मजाक बना देते हैं, हर किसी के सामने उपहास उड़ाते हैं, उस पर तानों की छींटाकसी करते हैं, यही सब भाव तो बैर, वैमनस्य, द्वन्द, ईर्ष्या विरोध बढ़ाने में कारण होते हैं अतएव मानव त्रुटि का पुतला कहलाता है। मान लो यदि किसी भी बात को लेकर जीवन में मतभेद मन-मुटाव, मारपीट हो भी जाए, परिवार में विघटन करना पड़ें कोर्ट-कचहरी, अदालत जाना पड़े, आपस में धन की बर्बादी हो एक-दूसरे पर कीचड़ उछालना पड़े, एक-दूसरे को नीचा दिखाना पड़े उसके पूर्व श्रेष्ठ यही है कि क्षमावाणी पर्व को स्वीकार हृदय से कर लें। भइया उस समय यह कदापि नहीं सोचना कि मैं गलती/अपराध की यदि क्षमा माँग लूंगा तो लोग मुझे डरपोक समझेंगे, कायर समझेंगे या लोग क्या सोचेंगे? अन्य लोगों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा? लोगों की निगाहों में हम हमेशा के लिए गिर जायेंगे, हमारी इज्जत-सम्मान सब धूल में मिल जायेगा, हम कहीं भी शक्ल दिखाने लायक नहीं रहेंगे आदि-आदि अनेकों विपरीत व्यर्थ की बातें ही पतन की ओर ले जाती हैं और दिन-रात बैर-विरोध, ईर्ष्या-द्वेष में वृद्धि होती जाती है। इसलिए भइया गलती को स्वीकार कर क्षमा माँगकर अपने आगामी जीवन को सुरक्षित करना ही बुद्धिमता है। **एरर इज ह्यूमन टू कन्फैस इज डिवाइन** गलती इंसान से होती है पर उस गलती को स्वीकार कर लेना दिव्यता है।

यह बात हमेशा ध्यान रखना आवश्यक है कि कई बार ऐसा होता है कि विपरीत वृत्ति वाले से हम तो जाकर क्षमा माँगते हैं पर वह इस मानसिकता में बिल्कुल भी नहीं होता है ऐसे वक्त उल्टे वह आपके भावों को न समझ कर अपने मन को और भी अधिक कलुषित कर लेता है। ऐसी विपरीत परिस्थिति में अच्छा यही है कि हम दूर से ही अपने मन में क्षमा भाव धारण कर लें। मुनिराज प्रतिदिन त्रिकाल में सब प्राणियों के प्रति क्षमाभाव धारण करने के लिए प्रतिक्रमण/सामायिक करते हैं। वे सबके पास क्षमा माँगने के लिए थोड़े ही जायेंगे। लेकिन अपने मन में सबके प्रति क्षमाभाव धारण करते हैं। अगर कभी किसी के

प्रति अपने मन में कलुषता आ भी गयी हो, मन मलिन किसी के प्रति हो गया हो तो अपनी तरफ से उसको निकाल देना, अपने मन की गाँठों को खोल देना दूसरा जब अपने मन को साफ करें तब सही, वह अपनी गाँठे जब खोले तब खोले पर हम तो अपना कर्त्तव्य स्वयं पूरा करें। अगला करे या न करें यह उसकी स्वयं की रुचि है उसका अपना दायित्व है पर हम अपनी तरफ से क्षमाभाव रखकर बैर-भाव, कलुषता से रिक्त हो जायें तभी क्षमा पर्व मानने की सार्थकता है। धर्मभावना शतक में एक कविता लिखी है उसका गहराई से चिंतन करें-

क्षमा-भाव का पर्व मनाने, पहले सबको क्षमा करें।
फिर हम माँगे क्षमा सभी से, मन में निर्मल भाव धरें।।
क्षमा नहीं जो करे शत्रु को, नहीं क्षमा है कहलाती।
कषाय भावना इस जगत् में, बैर भाव को उपजाती ।। 100।।

भइया क्षमावाणी करने से अपने भावों में निर्मलता आती है, मन में हल्कापन सा प्रतीत होता है तथा आपस में वात्सल्य की मकरन्द महक उठती है। 'क्षमा वीरस्य भूषणं' क्षमा वीरों का आभूषण है, यही हमारा परम मित्र है और संसार समुद्र से पार लगाने वाला परम जहाज है। अतएव हम लोग थोड़ी सी भी भूल होने पर अपने जीवन में यह शिष्टाचार अवश्य सीखें और बोलें कृपया मुझे क्षमा करें। बस हमारा जीवन मंगलमय होगा। इस कविता पर गहराई से विचार अवश्य करें जिन्हें सुनाकर मैं अपनी वाणी को विराम दे रहा हूँ।

क्षमा मात्र कहने से प्राणी, नहीं क्षमावाणी होती।
नहीं रखेंगे बैर कभी हम, यही धर्म की है रीती ।।
सारे जग में प्रेम बढ़े नित, नहीं किसी में भेद रहे।
सुखी रहें सब धर्मी जन ये, नहीं किसी को खेद रहे।। 101।।
धर्म कहे जो दशलक्षण ये, परम पूज्य माने जाते।
जो भी इनका पालन करते, नहीं जगत् में भरमाते ।।
धर्मी बनकर हमें जगत् में, नर भव सफल बनाना है।
झूठे सब वैभव को तजकर, आत्म निधि को पाना है।। 97।।

।। महावीर भगवान की जय।।

संदर्भित ग्रन्थ

1. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा
2. वारसाणुवेक्खा
3. तीर्थोदय-काव्य
4. षट्खण्डागम धवलपु. १२
5. धर्मभावना शतक
6. सर्वार्थसिद्धि
7. रत्नकरण्डक श्रावकाचार
8. पद्मपुराण
9. ज्ञानार्णव
10. नियमसार
11. दसलक्षण-धर्म-पूजन
12. पद्मनन्दी पंचविंशतिका
13. रामचरित-मानस
14. सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह
15. गोम्मटसार जीवकाण्ड
16. तत्त्वार्थ सूत्र
17. इष्टोपदेश
18. भगवती-आराधना
19. समाधितन्त्र
20. प्रतिक्रमण-पाठ
21. कातन्त्र
22. मनुस्मृति
23. पंचसंग्रह (प्राकृत)
24. प्रवचनसार
25. परमानन्द स्तोत्र
26. मूलाचार पूर्वार्ध
27. क्षत्रचूड़ामणि
28. तत्त्वार्थ राजवार्तिक
29. स्वयंभू-स्तोत्र
30. सोलहकारण पूजा
31. द्रव्य-संग्रह
32. कुरल-काव्य
33. वैराग्य-भावना
34. समयसार
35. कषाय पाहुड़
36. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
37. आत्मानुशासन
38. सागरधर्मामृत
39. शील-पाहुड
40. मूकमाटी
41. योगशास्त्र
42. छहढाला
43. पार्श्वनाथ स्तोत्र